हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
-ईशवास्य उपनिषद्, श्लोक 15

ISBN 812460579-3

दुर्गासप्तशती एवं सौन्दर्यलहरी

एक अभिनव अनुशीलन
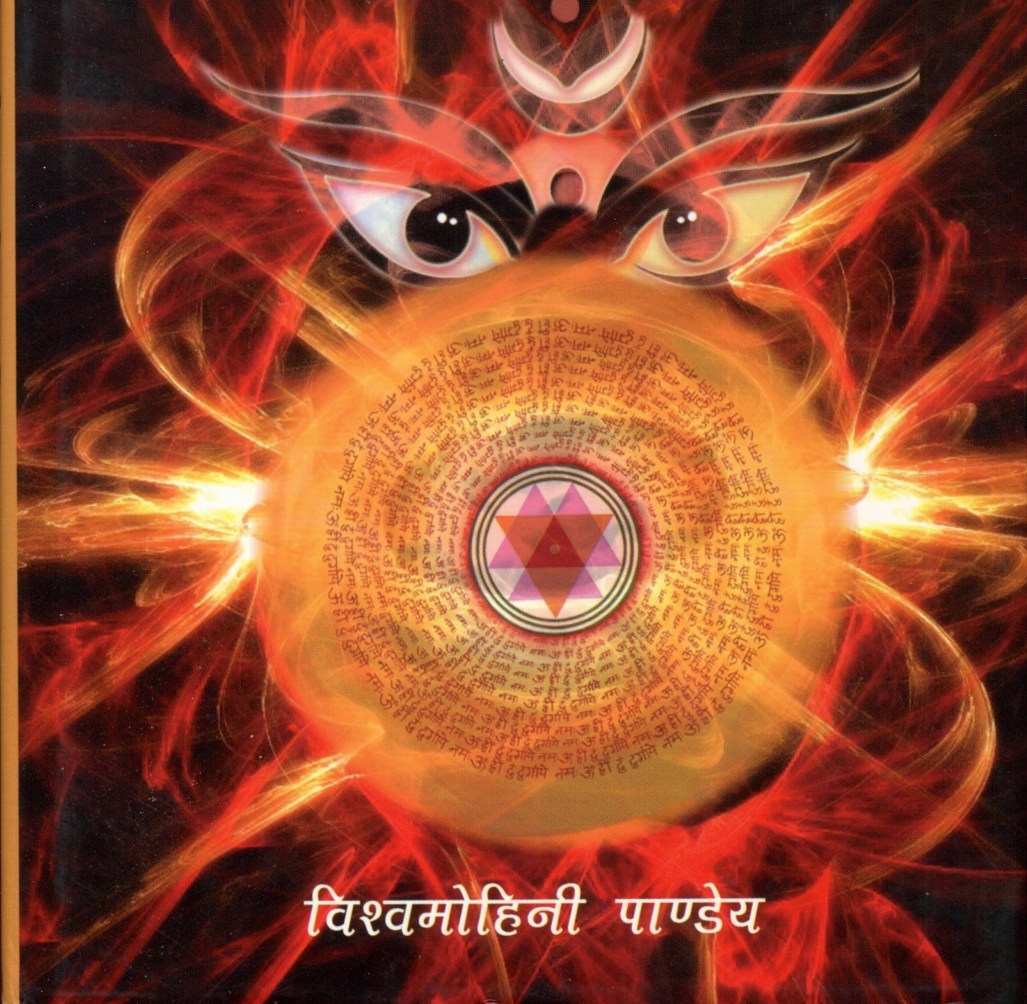
विश्वमोहिनी पाण्डेय

सृष्टि के सर्जन के समय से ही नारी सदैव शक्ति एवं सौंदर्य के रूप में पूजी जाती रही है। वस्तुतः सर्वप्रथम नारी महिमा का वर्णन ऋग्वेद के वाक्-सूक्त में निहित है, उपनिषदों में "ऊषा देवी" का उल्लेख है और "ऊषा" को नित्य नवीन युवती के रूप में दिखाया गया है। उपनिषदों से यह क्रम शास्त्रों और पुराणों में विवर्तित होता है। पुराणकालीन संस्कृति सामान्य जन अनुभूत संस्कृति है। पुराण हमारे इतिहास हैं, इन्हीं पुराणों के क्रम में मार्कण्डेय पुराण है जिसमें दुर्गासप्तशती के तेरह अध्याय संकलित हैं जिनमें माँ भगवती का जो रूप दिखाया गया है उसमें नारी की उदात्त गरिमा के साथ उसकी रचनात्मक शक्ति का भी अन्वेषण है।

इसी क्रम में सौन्दर्यलहरी में वर्णित भगवती हैं जो साक्षात् कुण्डलिनी हैं तथा जिनका रूपांकन अलौकिक सौन्दर्यशालिनी नारी के रूप में श्रीमद् आचार्य शंकर (शंकराचार्य) ने किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है कि शक्ति की उपासना मानव जाति को निरंतर सर्जन की प्रेरणा देती है। कृति में दोनों ग्रन्थों के तान्त्रिक (दार्शनिक) सांस्कृतिक एवं साहित्यिक "त्रिक" का विमर्श किया गया है। इस विमर्श में प्राचीनता आधुनिकता में दीप्त होती है तथा यह दीप्ति विज्ञान में स्पन्दित होती है। अक्षर-ब्रह्म की सार्थकता जब सगुण-ब्रह्म में प्रतिपादित होकर मानवता बन जाती है वहीं शिव-शक्ति प्रेरणा के दर्शन होते हैं, ब्रह्म का प्रकाश जगत् में विद्यमान है तथा इस जगत् की तद्वत अनुभूति ही ग्रन्थ का विषय है।

भारतीय संस्कृति के स्रोत दर्शन और तन्त्र में पाए जाते हैं। इस ग्रन्थ में दुर्गासप्तशती एवं सौन्दर्यलहरी की तुलनात्मक समीक्षा के अन्तर्गत तन्त्र दर्शन की अभिव्यक्ति भी प्रतिष्ठित की गई है। इस कृति में जहाँ काव्य, संस्कृति एवं साहित्य का समीक्षण है वहीं सौन्दर्यबोध, तत्त्व-दर्शन एवं साहित्यिक इयत्ता का भी संगम है।

विश्वमोहिनी पाण्डेय (1978–) ने बी.ए. (1998) की शिक्षा वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में तथा एम.ए. (2000) लखनऊ विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की। सन् 2005 में आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से पी.एच्.डी. की तथा 2007 में "साहित्याचार्य" की उपाधि उसी विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी से प्राप्त की।

आपने दुर्गासप्तशती का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है जो कि अंग्रेज़ी एवं हिन्दी में प्रकाश्य है। आपके शोध-पत्र "शिक्षा कलश" और "शोध धारा" नामक शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

वर्तमान में आप गुलाब डिग्री कॉलेज, सांडी (हरदोई, उ० प्र०) में प्रवक्ता हैं।

ISBN 13: 978-81-246-0579-0
ISBN 10: 81-246-0579-3

₹ 500
US $ 25.00

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै ।। नमस्तस्यै ।। नमस्तस्यै नमो नमः ।।

दुर्गासप्तशती एवं सौन्दर्यलहरी

– एक अभिनव अनुशीलन –

विश्वमोहिनी पाण्डेय

डी०के० प्रिंटवर्ल्ड प्रा० लि०
भारतीय परम्पराओं के प्रकाशक
नई दिल्ली

Cataloging in Publication Data — DK
[Courtesy: D.K. Agencies (P) Ltd. <docinfo@dkagencies.com>]

Pāṇḍeya, Viśvamohinī, 1978-
Durgāsaptaśatī evaṃ Saundaryalaharī : eka abhinava anuśīlana / Viśvamohinī Pāṇḍeya.

p. cm.

In Sanskrit; translation and commentary in Hindi.
Originally presented as the author's thesis (Ph. D.)–University of Lucknow.

Comparative study on Durgāsaptaśatī, hymns for the worship of Durgā, Hindu deity and Saundaryalahari, hymns to Tripurasundarī, form of Parvati, Hindu deity.
Includes bibliographical references.

ISBN 13: 9788124605790

1. Puranas. Mārkaṇḍeyapurāṇa. Devīmāhātmya. Durgāsaptaśatī? – Criticism, interpretation, etc. 2. Śaṅkarācārya. Saundaryalaharī. 3. Durgā (Hindu deity) – Prayers and devotions. 4. Tripurasundarī (Hindu deity) – Prayers and devotions. 5. Parvati (Hindu deity) – Prayers and devotions. I. Puranas. Mārkaṇḍeyapurāṇa. Devīmāhātmya. Durgāsaptaśatī. Hindi & Sanskrit. II. Śaṅkarācārya Saundaryalaharī Hindi & Sanskrit. III. Title.

DDC 294.5925 22

सर्वप्रथम भारत में प्रकाशन, २०११
ISBN 13: 978-81-246-0579-0 ISBN 10: 81-246-0579-3

प्रकाशक एवं मुद्रक :
डी॰के॰ प्रिंटवर्ल्ड (प्रा॰) लि॰
पंजीकृत कार्यालय : "*श्रीकुंज,*" एफ-52, बाली नगर
रमेश नगर मेट्रो स्टेशन
नई दिल्ली – 110 015
फोन : (011) 2545 3975; 2546 6019; फैक्स : (011) 2546 5926
ई-मेल : indology@dkprintworld.com
वेब : www.dkprintworld.com

समर्पित

पूज्य दादाजी

एवं

पूज्या (स्वर्गीय) दादीजी

को

ॐ खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुण्डीं शिरः
शङ्खं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वाङ्गभूषावृताम् ।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम् ।।

नान्दीवाक्

वेद-मन्त्रों में प्रतिष्ठापित एवं व्याख्यात देवसमवाय का जैसे-जैसे प्रचलन समाज एवं विद्वत्संसद् में बढ़ा, वैसे-वैसे उसके गंभीर-अनुशीलन की दिशाएं भी अस्तित्व में आईं। आचार्य यास्क (सप्तम शतक ई.पू.) ने "इति नैरुक्ताः इत्यैतिहासिकाः" शब्दावलियों द्वारा कुछेक सम्प्रदायों की ओर अपने *निरुक्त* में संकेत भी किया है। देवप्रत्यभिज्ञान तथा देवोपासना की यही पद्धतियाँ, अगले चरण में आगमिक-वाङ्मय में निरूपित हुई। यद्यपि आगमिक कर्म-काण्ड में भी अनेक देव हैं जिनके प्रकृति एवं विकृतिपरक रूपों का पूर्ण विस्तार आगमकारों ने किया है, तथापि सर्वाधिक लोकप्रियता केवल शैव, शाक्त तथा वैष्णव आगमों को ही मिली। यदि इन तीनों में भी शिखरान्वेषण करें तो निःसन्देह सर्वोपरि प्रतिष्ठा शाक्त अथवा कौल आगम की है।

यह विचारणीय बिन्दु है कि कौलागम की व्यापकता, लोकप्रियता तथा बहुजनग्राह्यता का क्या कारण हो सकता है? इसका उत्तर भी सुस्पष्ट है। *अथर्ववेद* के इस मन्त्रांश से कि "माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः" भारतीय संस्कृति तथा दर्शन में "जननीत्व" की प्रतिष्ठा शीर्षस्थ रही है। नारी के सैकड़ों रूपों, सम्बन्धों एवं भूमिकाओं में उसका "जननीत्व" ही अप्रतिम तथा अद्वितीय है। अपने इसी एक गुण से नारी त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की भी जनयित्री अथ च तदुत्तमर्ण सिद्ध हो जाती है।

सांख्य दर्शन की प्रकृति तथा वेदान्त की मात्रा, कमोबेश अन्तरों के बावजूद तुल्य-तत्त्व है। फलतः इसी मूलप्रकृति-तत्त्व की प्रतिष्ठा मन्त्र, तन्त्र एवं अभिजात काव्यवाङ्मय में की गई जिसकी एक अविच्छिन्न परम्परा लोक तथा साहित्य में दीखती है। धुर-पूर्व में कामाख्या से लेकर, धुर-पश्चिम में हिङ्गलाज पीठ (बलुचिस्तान के लालबेला जिले में स्थित) तक फैले बावन शक्तिपीठों ने जहाँ एक ओर शाक्तोपासना के व्यवहार पक्ष को जाग्रत् बनाया, वहीं शाक्त पुराणों तथा शक्तिस्तोत्रपरक काव्यों ने उसके सिद्धान्त-पक्ष का पल्लवन किया। *देवीभागवत, मार्कण्डेय, कालिका* आदि पुराणों तथा आनन्दवर्धन-

प्रणीत *देवीशतक,* बाणभट्ट-प्रणीत *चण्डीशतक* तथा आदिशंकराचार्य-प्रणीत *सौन्दर्य एवं आनन्दलहरी* में शक्त्युपासना का सैद्धांतिक अथवा साहित्यिक स्वरूप देखने को मिलता है।

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि प्रतिभाशालिनी संस्कृत-अनुसन्धात्री विश्वमोहिनी ने अपने उच्च्व शोधाध्ययन के लिए शक्तिप्रतिष्ठापरक विषय चुना। विदुषी गवेषिका ने *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* का अभिनव शोधपरक अनुशीलन सम्पन्न कर लखनऊ विश्वविद्यालय से पीएच्. डी. उपाधि प्राप्त की है। विश्वमोहिनी का उच्चस्तरीय अनुसन्धान अब स्वतन्त्र सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में प्रकाश में आ रहा है। यद्यपि मैंने समूचे ग्रन्थ का अवलोकन "स्थालीपुलाकन्यायेन" ही किया है तथापि मैं ग्रन्थ की गुणवत्ता के प्रति पूर्ण आश्वस्त हूँ। चार खण्डों एवं आठ अध्यायों में विभक्त यह विपुलकलेवर ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* तथा *दुर्गासप्तशती* (जो *मार्कण्डेयपुराण* का अंश है) की तान्त्रिक पृष्ठभूमि को पूर्णतः स्पष्ट करता है। निश्चय ही यह महनीय ग्रन्थ शक्त्युपासकों के लिए उपादेय एवं पठनीय सिद्ध होगा।

मैं हृदय से कु० विश्वमोहिनी पाण्डेय के उत्कृष्ट शोधाध्यवसाय का अभिनन्दन करता हूँ तथा विदुषी गवेषिका को आशीर्माण्डित भी करता हूँ।

शिमला सस्नेह

१६.११.२०१०

अभिराज राजेन्द्र मिश्र
(पूर्व-कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी)

प्ररोचना

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै।। नमस्तस्यै।। नमस्तस्यै नमो नमः।।

दुर्गासप्तशती के चतुर्थ अध्याय में देवों द्वारा किए गए स्तवन में देवी को माता के रूप में बताया गया है। वह सत्ता का आधार है और विश्व-शक्ति भी। जहाँ एक ओर शैव-परम्परा उन्हें "भैरवी" के रूप में पूजती है, वहीं शाक्त साधकों ने उनको परमेश्वरी के रूप में देखा और शिव को उनका सहायक भर स्वीकार किया। चण्ड-मुण्ड का वध करने वाली देवी शिव को दूत बनाकर दैत्यों को सदाचरण अपनाने का सन्देश भेजती है। तब वह "शिवदूती" नाम से जानी जाती हैं। *सौन्दर्यलहरी* में आचार्य शंकर शिव की क्रियाशीलता में हेतुभूत देवी की शक्ति के सहकार का उल्लेख करते हैं –

शिवः शक्तया युक्तः यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्

यही आस्था आगमों में "शिव" के "इ"कार को भक्ति का स्वरूप मान लेती है। कदाचित् "इ"कार हटा दिया जाए तो शिव मात्र शव शेष रहता है। अस्तु विश्व-मङ्गल की अधिष्ठातृ-देवता देवी ही हैं। वैदिकों ने उन्हें "उषस्" और "वाक्" के रूप में देखा। "देव्यथर्वशिरस" उपनिषत् में उनकी व्यापकता और प्रभविष्णुता दिखाई गई है।

देवी के अद्भुताद्भुत परिचय के लिए मार्कण्डेयपुराण का *दुर्गासप्तशती* अंश तथा आचार्य शंकर की *सौन्दर्यलहरी* दो परम समाहत कृतियाँ हैं। डॉ० विश्वमोहिनी पाण्डेय ने इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अनुशीलन कर शक्ति-देवता के तेजोमय तथा परमोदार रूपों का सम्यक् परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि आस्थावान् विद्वत्समाज इस अनुसन्धान-

कृति का परिशीलन कर सन्तुष्टि का अनुभव करेगा। एक उत्तम कृति के प्रकाशन हेतु डॉ० पाण्डेय तथा इसके प्रकाशक को मेरी बधाई।

प्रो० कृष्ण कुमार मिश्र
(संस्कृत-प्राकृतभाषा-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)

आत्म-निवेदन

उभय कृतियाँ *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* में नारी के प्रतीकात्मक चित्रों से प्रवर्तित दैवीय शक्ति का मनोरम एवं गूढ़ विवेचन देखने को मिलता है। दोनों कृतियाँ ऋषियों द्वारा ही प्रणीत हैं। इन कृतियों में काव्यों एवं सामाजिक प्रतिमानों का अपूर्व समन्वय है। यहाँ साहित्य एवं चिन्तन के अपूर्व समन्वय की विराट चेष्टा की गई है। माँ भगवती दुर्गा भक्तों के दुःख का हरण करने वाली हैं। वे असुरों का वध करने वाली तथा भक्तों के हृदय को शान्ति पहुँचाने वाली हैं।

मार्कण्डेय ऋषि ने दुर्गा के लावण्यमय रूप में भारतीय संस्कृति का उदात्त चित्र अंकित किया है। मनुष्य के मन को केन्द्रित करने का सर्वोच्च साधन सौन्दर्य है। सौन्दर्य की भाषा आकर्षण के जादू से भरी होती है। तत्कालीन समाज में असुरों द्वारा ग्रहण किए गए अस्त्र-शस्त्र तथा वासनात्मक क्रियाएं मार्कण्डेय-कालीन समाज की विवृत्ति करती हैं। दुर्गा के रूप-आभा में जो शृंगार दिखाया गया है वह युग-सुन्दरी का शृंगार है।

इसी प्रकार *सौन्दर्यलहरी* में जो प्रार्थना अथवा स्तोत्र से संवृत्त है जिसमें दुर्गा के सौन्दर्य के अनेक मनोरम चित्र खींचे गए हैं। इन चित्रों में प्रयुक्त उपमाएं कल्पना के क्षितिज को पार कर जाती हैं। उदाहरणार्थ - *सौन्दर्यलहरी* के सोलहवें (१६) श्लोक में कवि कहता है — कवीन्द्रों के चित्र रूप कमलवन को खिलाने के लिए उदय होते हुए सूर्य सदृश अरुणा रूपी आपका (देवी का) जो भी महान् पुरुष भजन करते हैं, ब्रह्मा की प्रिया सरस्वती भी तरुणतर शृंगारलहरी से निकली गम्भीर कविताओं द्वारा सत्-पुरुषों का मनोरंजन किया करती हैं। वस्तुतः कवि माँ के प्रसार का जो अभिनव चिन्तन प्रस्तुत करता है उसमें उसकी कल्पना की लहर धरती से आकाश तक फैल जाती है। पाठक सौन्दर्य की इस विराट् कल्पना को देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। शृंगार के रूपोद्यान में कोकिल कूकती है, भ्रमर गुंजार करते हैं, पक्षी चहकते हैं, घिर-

घिरकर कादम्बिनी बरसती रहती है। मादकता-तरलता के प्रवाह में उमड़ती श्रद्धा पाठक के हृदय को अपार आनन्द में डुबो देती है।

सौन्दर्यलहरी के अध्ययन के अनेक आयाम है, पहला आयाम तो यह है कि शंकराचार्य जैसा संन्यासी रूपात्मक कल्पना को ब्रह्म तक पहुँचा देता है। यहाँ शान्त और अनन्त का संगम है। श्रेय और प्रेय का मिलन है। ज्ञान एवं कल्पना का विवर्तन है। एक ओर कल्पना की ऊँची उड़ान है तो दूसरी ओर अध्यात्म की मनोरम सृष्टि। इस वर्णन में प्रकृति की पूरी छटा हृदय प्रदेश के कोने-कोने में झाँकती है। स्वर्ग धरती पर उतर आता है किन्तु यह पकड़ में नहीं आती है। भाषा-भाव तथा दर्शन एवं संस्कृति का अद्‌भुत समागम इस कृति की अपनी विशेषता है। ऐसी स्थिति में अध्ययन के आयामों की संख्या अनेक हैं। यथा सांस्कृतिक दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि से एवं काव्यात्मक दृष्टि से। हमने सामाजिक एवं साहित्यिक आयामों की ओर पहले ही निर्दिष्ट कर दिया है।

यहाँ मैं यह कहना चाहूँगी कि इन कृतियों में तन्त्र का अविकल प्रयोग है। तन्त्र साधना प्रेय-श्रेय समन्वित साधना है जो आज के वैज्ञानिक चिन्तन के निकट है। जिन बातों को आज हम भौतिक विज्ञान में देखते हैं वही तथ्य काव्य एवं सांस्कृतिक आयाम में भी उभरते हैं।

हमने साहित्यिक, सांस्कृतिक अध्ययन को तो प्रस्तुत किया ही है साथ ही भारतीय तन्त्रशास्त्र के स्वरूप को विवृत्त करने का भी प्रयास किया है। आज के युग में हर साहित्य एवं चिन्तन पाठक वर्तमान जीवन से जोड़कर देखता है। ऐसी दशा में अध्येता का परम कर्त्तव्य बन जाता है कि वह संस्कृति अथवा दर्शन को जीवन से जोड़कर समझाने का प्रयत्न करे। सामान्य रूप से तन्त्र के बारे में सामान्य जन की धारणा बहुत अच्छी नहीं होती है किन्तु यहाँ हमने तन्त्र के **मोक्षदा** रूप का निरूपण किया है। मनुष्य को शक्ति ध्यान से प्राप्त होती है, तथा ध्यान की जो प्रक्रिया इन कृतियों में दिखाई गई है वह सहज जीवन की आवश्यक अंग है। दोनों कृतियों में नारी महिमा के जो अद्‌भुत अपूर्व चित्र हैं उनसे हमारी संस्कृति आह्लादित हो उठती है।

मनुष्य का विकास ही उसका इतिहास है। शंकराचार्य की साधना उनकी प्रतिभा की विकास यात्रा है। *सौन्दर्यलहरी* में उनकी कल्पना-शक्ति का विकास है यही कल्पना-शक्ति है जो अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करती है तथा "प्रस्थानत्रयी" पर भाष्य करती है।

इसी प्रकार *दुर्गासप्तशती* के त्रयोदश अध्याय में देवी चरित्र आख्यान का जो रूप प्रस्तुत किया गया है उससे देवी को आत्म-शक्ति के रूप में दिखाया गया है।

सौन्दर्यबोध के पश्चात् ही मानव की विश्लेषणात्मक शक्ति विकसित होती है। आत्मबल प्राप्त करने के लिए साधक की अभिव्यक्ति को साधना की आवश्यकता होती है। साधना से आत्मबल प्राप्त होता है। माँ दुर्गा में विभिन्न देवताओं की शक्ति का जो प्रवेश दिखाया गया है वह प्रकारान्तर से ब्रह्म के भीतर निहित अनेक देवों की शक्तियाँ हैं। दुर्गा जहाँ अनेक रूपों में होती है वहाँ "एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायै" की ध्वनि विवृत्त होती है। ये दोनों ग्रन्थ गम्भीर हैं तथा गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में पूर्णता का दावा करना समझदारी नहीं है। मैंने इनको कुछ नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है जिनका तन्त्र वाले अध्याय में मैंने विश्लेषण किया है। ज्ञान के कुछ ऐसे बिन्दु हैं जहाँ पर विज्ञान और दर्शन दोनों एकमत हो जाते हैं। शंकराचार्य की *सौन्दर्यलहरी* यहाँ संस्कृति के अभिनति एवं अपनति का भी विवेचन करती है।

यहाँ पर प्रकृति और संस्कृति में समरूपता है। कल्पना और चिन्तन का विकास कार्य से होता है। जहाँ एक ओर शंकराचार्य की कल्पना से दुर्गा का आध्यात्मिक रूप विकसित होता है वहीं दूसरी ओर शंकराचार्य की प्रतिभा का उत्कर्ष शिखर निर्मित होता है। सौन्दर्य विवेचन से प्रतिभा में उदात्तीकरण के गुण उत्पन्न होते हैं।

दुर्गासप्तशती में मार्कण्डेय ऋषि के मन में भी दुर्गा का परिष्कृत रूप समाया हुआ है। क्यों न हो, शिव के भक्त जो ठहरे। अचानक उनकी वाणी फूट पड़ती है — "दुर्वृत्त वृत्त शमनं तव देवि शीलं।" रूप की चरम परिणति के दर्शन पर मानव विकार स्वतः शान्त हो जाते हैं।

दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भी प्राप्त होता है कि शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श के रूप हैं। विमर्श से प्रेरणा तथा प्रकाश से शक्ति प्राप्त होती है। प्रेरणा के बिना शक्ति का उद्‌भव नहीं होता है। कुण्डलिनी जागरण का यही रहस्य है। यह कुण्डलिनी शक्ति जगत् के हर प्राणी में समाई हुई है। इसका संयोजन करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है तभी मानवता की विजय सम्भव हो सकेगी —

शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त-विकल बिखरे हों निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाए॥

यह शिव-शक्ति की समरसता समाज और व्यक्ति दोनों में लक्ष्य की जा सकती है। प्रसाद की शैव दर्शन से संवलित पंक्तियों में समन्वय का अर्थ समरसता है क्योंकि समरसता से ही जगत् संचालित हो रहा है। सामान्य एवं विशेष की समरसता महानता को जन्म देती है। जहाँ पर भेद बना रहता है वहीं विकास नहीं होता। इसीलिए तो ज्ञान और क्रिया की भिन्नता विकास में बाधा उत्पन्न करती है –

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक-दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की॥

वर्तमान विश्व की भी यही विडम्बना है। मानवता की बातें सभी करते हैं किन्तु क्रिया-रूप में परिणित नहीं करते। *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* ये स्तोत्र एवं पौराणिक आख्यान मात्र नहीं हैं। इनमें भविष्य के लिए विकास के मार्ग बीज-रूप में विद्यमान हैं।

आज का पाठक जगत् और ब्रह्म दोनों को सत्य मानता है। ऐसी दशा में मानव-मोक्ष का प्रतिमान भी बदल जाता है। वैयक्तिक मोक्ष नहीं सामाजिक मोक्ष महत्त्वपूर्ण है। यही आधुनिकता है। इस आधुनिकता का बीज स्वामी रामकृष्ण परमहंस के इस सम्बोधन में स्फुटित होता है, जब वे कहते हैं – "विवेकानन्द मैं तुम्हें वटवृक्ष के रूप में देखना चाहता था, तुम्हारे स्वयं के मोक्ष के साधक के रूप में नहीं।"

अन्त में मैं यह कहना चाहती हूँ कि मानव की इच्छा-शक्ति, विचार-शक्ति तथा सेवा-शक्ति तीनों के समन्वय से ही समाज तथा विश्व में शान्ति प्राप्त होगी। बर्टेण्ड रशेल का यह कथन कितना साभिप्राय है –

Union in thought is knowledge. Union in feelings is love.
Union in will is service.

यहाँ पर रशेल ने जो union शब्द का प्रयोग किया उसके स्थान पर समरसता को रख दिया जाए तो रूप इस प्रकार होगा — विचारों की समरसता ही ज्ञान है, भावनाओं की समरसता प्रेम है तथा इच्छा-शक्ति की समरसता सेवा या कार्य है। मनुष्य जब उच्चतम मानव में विकसित होगा तभी उसमें समरसता का विकास होगा। टी.एस. इलियट की निम्नांकित पंक्तियाँ इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने "Waste Land" में कहा है –

datta dayadhvam damyata |
shantih shantih shantih | |

ये पंक्तियाँ इलियट ने *बृहदारण्यक उपनिषद्* से ली हैं। *बृहदारण्यक* के इस उद्धरण में युगीन समस्याओं का निदान भी है और समाधान भी। आधुनिक सभ्यता, स्वार्थान्ध, द्वेषग्रस्त और भोगलीन है। जिनके अनिवार्य फल हैं – विध्वंस, दुःख एवं नैराश्य। पिछले दो विश्व-युद्ध इसे भली-भाँति प्रमाणित कर चुके हैं। इस दुःस्थिति से यदि बचना है तो स्वार्थ के बदले त्याग, द्वेष के बदले प्रेम एवं भोग के बदले संयम को छोड़ कोई दूसरा मार्ग नहीं है। "दत्त" अर्थात् दो; केवल अपने लिए पूँजी मत बटोरो, उसमें दूसरों का भी हिस्सा है; उससे उन्हें वंचित मत करो। "दयध्वम्" अर्थात् दया करो; सभी प्राणियों से प्रेम करो; अपने ही समान उनके योग-क्षेम की भी चिन्ता करो। "दमयत्" अर्थात् इन्द्रियों का दमन करो; अबाध भोग विनाश का कारण है; अतः इन्द्रियों को वश में रखो। दान, दया और दमन से ही शांति स्थापित हो सकती है और शांति से ही सुख प्राप्त हो सकता है।

तत्त्वतः समस्त धर्मों का समन्वय मानवतावाद में होता है समस्त दर्शन का लक्ष्य मानवतावाद है। समस्त वैज्ञानिक अनुसंधानों के पीछे मानव का हित छिपा हुआ है उसका विकास छिपा हुआ है। दूसरे शब्दों में जीवन की समरसता निहित है।

हमने अपनी ज्ञान-पिपासा के आयाम में जो कुछ प्रस्तुत किया है उसके प्रति निवेदन है –

मम श्रमोऽयं लौकिकार्थे न स्यात समर्थो नहि कापि हानिः।
स्वान्तस्य तोषो विदुषामदोष सन्तोषपोषो मम सोर्थकोषः॥

मेरा श्रम यदि लोकहित में समर्थ नहीं होता है तब भी कोई हानि नहीं है। अन्तःकरण की संतुष्टि विद्वानों का दोष नहीं है।

मैंने जिन विद्वानों एवं मनीषियों की पुस्तकों से सहायता ली है उनके प्रति प्रणत हूँ। मैं अपने पूज्य माता-पिता श्रीमती शैल कुमारी पाण्डेय, प्रेम के सागर मेरे पिता श्री प्रेमसागर पाण्डेय के प्रति समर्पण प्रस्तुत करती हूँ साथ ही मैं अपने गुरुदेव प्रो० कृष्ण कुमार मिश्र पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिनके मार्गदर्शन में ही इस कृति का प्रस्थान बिन्दु समाहित है। मेरे गुरु डॉ० प्रेम बहादुर सिंह सुधी चिन्तक एवं साहित्य के अधिकारी विद्वान् के रूप में सांस्कृतिक संसार में ख्यातिलब्ध हैं। ऐसी अलौलिक विभूति जिसने अपने संरक्षण, स्नेह, अध्ययन-प्रेरणा परामर्श एवं प्रोत्साहन से मुझे सिंचित किया। ऐसे महामानव के प्रति मैं सभक्ति प्रणत हूँ और आजीवन उनकी चिर-कृपा की आकांक्षी हूँ।

हिन्दी के विद्वान् डॉ० आलमगीर के प्रति मैं अपनी सहृदयपूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूँ जिन्होंने इस कृति की साधना में अनेक प्रकार से सहयोग किया है। इसी क्रम में मैं डॉ० पवन कुमार दीक्षित का उल्लेख कर उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। अपनी अनुजा प्रतिभा प्रियदर्शिनी, शारदा तथा अनुज प्रणव प्रकाश जिनके अनवरत सहयोग ने मुझे यह पुस्तक लिखने में प्रेरणा और शक्ति दी है, मैं उन्हें आशीर्वाद देती हूँ।

अन्त में मैं इसके सम्यक् मुद्रण एवं प्रकाशन के लिए श्री सुशील कुमार मित्तल एवं उनकी प्रकाशन संस्था डी० के० प्रिण्टवर्ल्ड प्रा० लि० – भारतीय परम्पराओं के प्रकाशक – के प्रति आभार एवं शुभकामना व्यक्त करती हूँ।

डॉ० विश्वमोहिनी पाण्डेय

अनुक्रमणिका

तृतीय खण्ड

उभय ग्रन्थों में प्रतिपादित शक्ति देवता का माहात्म्य वर्णन एवं भक्ति-तत्त्व विवेचन

चतुर्थ खण्ड

उभय ग्रन्थों का काव्यशास्त्रीय एवं सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन

भूमिका

अमेरिकन लेखक डब्लू. जे. लॉग ने अंग्रेज़ी साहित्य के इतिहास को प्रारम्भ करते हुए लिखा है — एक बार एक प्रौढ़ व्यक्ति एक बच्चे के साथ समुद्र के किनारे घूम रहा था, बच्चे ने बालू पर पड़े एक छोटे से शंख को देखा, जब शंख को उसने अपने कान के पास लगाया, तो उसके कानों में समुद्र की गर्जना के साथ अनेक प्रकार के स्वर सुनाई देने लगे, बच्चे ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए प्रौढ़ व्यक्ति को बताया कि इस छोटे से शंख में आश्चर्यजनक स्वर सुनाई पड़ रहे हैं। प्रौढ़ व्यक्ति ने भी शंख को लिया तो उसे भी उसी प्रकार के स्वर सुनाई दे रहे थे जिस प्रकार बच्चे को अनुभूत हो रहे थे। जे. लॉग ने इस उदाहरण के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया है कि साहित्य के माध्यम से मानव-जीवन के अतीत तथा वर्तमान की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक प्रतिभूतियाँ मनुष्य के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। हमारे इस ग्रन्थ में भी संस्कृत के आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वर सुनने को मिलेंगे। जगत् गुरु शंकराचार्य ने *सौन्दर्यलहरी* में अपनी आध्यात्मिक भावना के माध्यम से प्रकृति माँ के जिस सौन्दर्य को उकेरा है उसमें आध्यात्मिकता के साथ-साथ सांस्कृतिक स्वर का गम्भीर स्पन्दन है। शंकराचार्य की ऊर्ध्वगामी कल्पना जब उनके कण्ठ से स्फुटित होने लगती है, तब माँ भगवती के सौन्दर्य की इन्द्रधनुषी छटा पाठक के मानस-आकाश में छा जाती है, शब्दों का स्पन्दन संगीत बनकर हृदय को प्रसन्नता से भर देता है, साहित्य की यह आनन्दानुभूति ही कला की अमरता है और इसी अमरता में मनुष्य का अमरत्व छिपा है। *सौन्दर्यलहरी* की भाँति ही मार्कण्डेय ऋषि की कृति जो मुख्य रूप से *मार्कण्डेय पुराण* का अंश है, माँ दुर्गा के सौन्दर्य, कृपा तथा कला का अभिनव संगीत बिखेरता है। अरूप को रूप देने की क्षमता मानवीय कल्पना में प्रकृति ने दे रखी है। प्रकृति का उन्मीलन मानव की जिज्ञासा भरी दृष्टि निरन्तर करती रहती है। जीवन अनुभूति सौन्दर्य एवं राग का स्पर्श पाकर साहित्य बन जाती है। इस साहित्य में मानव-जीवन के उद्‌भव, विकास एवं विनाश का हृदयावर्दक चित्र होता है। दोनों कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन में

सांस्कृतिक बोध के साथ साहित्यिक अभिनवता के दर्शन होते हैं। दुनिया के किसी भी साहित्य में संस्कृति केन्द्र में होती है। इस संस्कृति में दर्शन और कला का अभिनव समुच्चय होता है, प्रस्तुत अध्ययन में हमने यह निदर्शित करने का प्रयास किया है कि दोनों कृतियों में साहित्यिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, त्रिक् का नैनाभिराम समुच्चय है। जब मनुष्य के हृदय में अध्यात्म का पर्वत खड़ा हो जाता है तब उस पर्वत के कल-कल करते हुए झरने बहते हैं, पक्षी चहचहाने लगते हैं और प्रकृति में शीतल मन्द-सुगन्ध लिए हुए पवन संगीत बिखेरने लगता है।

मनुष्य के विकास का बोध तथा चिन्तन का प्रतिफलन ही साहित्य में गुञ्जित होता है। सौन्दर्य प्रकृति का चेतनात्मक वरदान है। यही एक ऐसा प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से कल्पना अपने पंखों से उड़ान भरती है, इन दोनों कृतियों के भीतर प्रतीकात्मक रूप में नारी महिमा का जो रूपांकन हुआ है; उससे भारतीय संस्कृति तरलित हो उठती है। भाव की तरलता पाठक को दूर तक बहा ले जाती है। इतना ही नहीं उसे आनन्दित भी करती है साथ ही आनन्दानुभूति का आध्यात्मिक द्वार भी खोल देती है। शंकराचार्य जैसा संन्यासी जो लोक से विरत था आखिर प्रकृति माँ के चरणों में समर्पित कर देता है, इस समर्पण में मानव-विकास के स्पन्दन को स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है। *दुर्गासप्तशती* में भी ऋषि ने स्थान-स्थान पर नारी सौन्दर्य के उदात्त रूप का चित्रण करते हुए कलात्मक बोध का जो दृश्य प्रस्तुत किया है उसमें मानव चिन्तन का विकास ढूँढ़ा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इसका प्रारम्भ आध्यात्मिकता से होता है तथा अन्त भी आध्यात्मिकता में होता है। मानव मन के उदात्त पहलू की पहचान दर्शन देता है, मनुष्य जब सौन्दर्य के दर्पण में प्रकृति के घटनाक्रम का अवलोकन करता है तो उसे सृष्टि का विकास-क्रम दिखाई देने लगता है। यहीं से जिज्ञासा के नए आयाम उद्‌भूत होने लगते हैं। भारतीय संस्कृति ने प्रारम्भ से ही ब्रह्म और प्रकृति का नैनाभिराम निरूपण किया है। इस निरूपण को दार्शनिकों ने अनेक आयाम दिए हैं। किसी ने ब्रह्म को प्रकृति से मुक्त माना है तथा किसी ने युक्त। यहाँ प्रश्न युक्त और मुक्त का नहीं है वरन् सृष्टि-विकास का, मानव-विकास का है।

शंकराचार्य को अद्वैत वेदान्त का आधिकारिक, व्याख्याकार माना जाता है। इन्होंने "सर्वखलु इदम् ब्रह्म" का समर्थन करते हुए अपने "प्रस्थानत्रयी" में इसी का मूल्यांकन किया है। उनके इस मूल्यांकन में जो विकास के सूत्र मिलते

हैं इनमें महत् तत्त्व, अहंकार के क्रम में विकास का अभियोजन देखा जा सकता है। वास्तव में दर्शन ही चिन्तन का वह विकास-क्रम है जहाँ से संस्कृति का विकास स्फुटित होता है। जो आध्यात्मिक चिन्तन शंकराचार्य ने किया है उससे आज के वर्तमान सृष्टि-विकास के नियम को समझा जा सकता है। आज वैज्ञानिक परमाणु से भी आगे इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन की व्याख्या कर चुके हैं। इस व्याख्या में उन्होंने पाया कि इलेक्ट्रॉन ही एकमात्र ऐसा सूक्ष्म तत्त्व है जो विकास का विधाता है। यूँ तो दर्शन में माया से सृष्टि की रचना का विधान किया गया है किन्तु मुख्य रूप से अद्वैत में ब्रह्म को सब कुछ माना गया है। किन्तु दूसरे दर्शनों में ब्रह्म और माया को प्रकृति के आधार (सृष्टि-रचना के आधार) के रूप में स्वीकार किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में एक ऐसे दर्शन का अन्वय है जहाँ सृष्टि-विकास को तर्क के आधार पर समझा जा सकता है। यहाँ प्रकृति भी सत्य है ब्रह्म भी सत्य है। सम्भवतः यह सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त के निकट है। इस दर्शन को तन्त्र-दर्शन की संज्ञा दी गई है। तन्त्र-दर्शन में मुख्य रूप से शैव-दर्शन विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ शिव को परम तत्त्व माना गया है तथा उन्हीं से विकास के सरणि को जोड़ा गया है। हमारी संस्कृति में मोक्ष को पुरुषार्थ का चरम बिन्दु माना गया है। तन्त्र-दर्शन में मोक्ष प्राप्ति का जो साधन प्रस्तुत किया गया है वह ध्यान, श्रद्धा के संगम से प्रश्रवित होता है।

हमारे इस ग्रन्थ में दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन का अनुशीलन मुख्य रूप से निम्नांकित बिन्दुओं को आधार मानकर प्रस्तुत किया गया है –

(१) साहित्यिक क्रम में आख्यान को प्रस्तुत करते हुए उसके विकासमान तत्त्वों का रेखांकन किया गया है। यह सर्वस्वीकृत है कि इन दोनों ग्रन्थों में भगवती की महिमा का जो यशोगान है वह दर्शन और संस्कृति से अभिव्यञ्जित है। इस अभिव्यञ्जना में संस्कृति के कलात्मक पहलू उभरकर सामने आए हैं जो मानव समाज के विकासात्मक आयाम को रेखांकित करते हैं।

(२) इन दोनों ग्रन्थों में जो तन्त्र-दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है जो प्रेय और श्रेय से युक्त है, उसको स्पष्ट करने का प्रयास इस अध्ययन में किया गया है।

(३) दोनों ही साहित्य हैं। अतः साहित्यिक आयाम का रेखांकन प्रथम कर्त्तव्य है। इसी आयाम में ये सारे पहलू विकासमान तत्त्व के रूप में प्रस्तुत होते हैं। यहाँ यह भी कहने में कोई संकोच नहीं है कि

ग्रन्थों में नारी महिमा प्रकारान्तर से विवृत्त हुई है। इसलिए ये ग्रन्थ साहित्य के गौरव हैं। देवियों का विकास नारी के पुञ्जीभूत गुणों से प्रादुर्भूत होता है।

वस्तुतः नारी शक्ति की प्रतीक है तथा वह पदार्थ और शक्ति का रूपान्तरण है। वैज्ञानिक भाषा में कहें तो "मैटर और एनर्जी" (matter and energy) इसके साथ काल भी जुड़ ज़ाता है तथा इसी का विकास आइंस्टीन दिक्काल (space and time) के रूप में करते हैं।

किसी भी ग्रन्थ के दो प्रकार के लक्ष्य होते हैं उनमें प्रथम प्रकार का लक्ष्य पाठ्य-सामग्री के आधार पर रेखांकित किया जाता है। दूसरे प्रकार के लक्ष्य को युग-परिस्थिति तथा समाज के विकास के आयाम के रूप में देखा जाता है। पुस्तक में इसके प्रतीक तो होते हैं किन्तु स्पष्ट रूप से कहीं व्यक्त नहीं होता है इसलिए *महाभारत* के "उद्योग-पर्व" में कहा गया है –

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति
वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं न स वेद वेद्यं
यो वेद वेद्यं न स वे सत्यम्॥

– अ० ४३, श्लो० ५४

शब्दार्थ विवक्षार्थ के अतिरिक्त सत्यार्थ भी होता है। *सौन्दर्यलहरी* तथा *दुर्गासप्तशती* का जो लोक में प्रचलित मूल्यांकन है, लेखिका की राय में उसके आगे भी कुछ है, वह यह है कि, दोनों ग्रन्थों में देवी के स्वरूप और शक्ति का जो निरूपण है वह मानव के हृदय में अंकित नारी की उदात्त आभा है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि ध्यान की प्रक्रिया का जो विकास इन ग्रन्थों में रूपात्मक रूप में व्यक्त हुआ है वह मनुष्य की अन्वेषण-शक्ति की ओर भी इंगित करता है। शंकराचार्य योगी पुरुष हैं वे योग को लोक के पुट में प्रस्तुत करना चाहते हैं। इसमें उन्होंने भविष्य के लोगों को चिन्तन की राह दिखाई है। दोनों ग्रन्थों में शिव-शक्ति का जो संगम है वह पदार्थ-ऊर्जा का, काल-प्रकृति का निरूपण है। आज का भौतिक विज्ञान "अर्धनारीश्वर" या "नटराज" के नृत्य में शंकराचार्य के उस चिन्तन को गति प्रदान करता है। वस्तुतः इन दोनों ग्रन्थों का अनुशीलन नवीन ज्ञान विचारधारा को भी "सरणि" प्रदान करता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक विचारधारा दूसरी विचारधारा को जन्म देती है और इस प्रकार विचारों का अनुकरण एक

सभ्यता का विकास करता है। यदि हम शंकराचार्य की *सौन्दर्यलहरी* को केवल एक भक्त की सहृदय प्रार्थना समझें, जिनमें सुन्दर उपमाएं हैं, तो इस अध्ययन का कोई अर्थ नहीं होगा। इसी प्रकार *दुर्गासप्तशती* "दुर्गा" की महिमा का केवल आख्यान नहीं है हमारे अध्ययन के पीछे अनुसंधान होता है वह अनुसंधान हमारी जिज्ञासा से जुड़ा होता है और जिज्ञासा का सम्बन्ध वैश्विक आस्था से होता है इसीलिए तो भागवतकार ने कहा है –

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो, क्लिश्यन्ति ते केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

– *भागवत् आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ,*
लेखक बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १७५

जिस भक्ति की बात भागवतकार कर रहा है उस भक्ति का छोर अब मनुष्य को केन्द्र में रखकर किया जाता है। भगवान् के विराट् रूप का मूर्तिमान स्तम्भ मानव है। अतः मानव की शक्ति अथवा मानव के प्रति आस्था आधुनिक युग का उद्घोष है। जो ज्ञान मानव के विकास को प्रवर्धित करता है वही ज्ञान शाश्वत् है इसीलिए व्यासदेव ने *महाभारत* के भक्ति-पर्व में मनुष्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया है –

गुह्यम् ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि नहि मानुषात श्रेष्ठतं हि किञ्चित्।

मैं गूढ़ बात कहता हूँ मनुष्य से बढ़कर संसार में कुछ भी नहीं है

यही बात "शेक्सपियर" भी "हैमलेट" में कहते हैं कि –

> मनुष्य इस सृष्टि का ऐसा महान् प्राणी है जिसमें महान् तर्क हैं, अनन्त क्षमताएं हैं, ज्ञान की गतिशीलता है, जिसमें देवदूत की गति है, देवता की समझ है तथा जो सौन्दर्य का निधान है एवं समस्त जीवों का शिरोमणि है।
>
> What piece of work is a man how noble is reason, how infinite in faculties, in form and moving how express and admirable; in action how like an angel, in apprehension how like a god; the beauty of the world, the paragon of animals.

अतएव मानवता या मानव विकास का निरूपण करना साहित्य का लक्ष्य है। जहाँ *सौन्दर्यलहरी* में शंकर की ध्यान-क्रिया का पता चलता है वहीं उनकी कल्पना-शक्ति भी देखी जा सकती है। आज के युग में T.M. (ट्रान्सिडेण्टल

मेडीटेशन – Transcendental maditation) को भी लक्ष्य किया जा सकता है। *दुर्गासप्तशती* में "दुर्गा" के आराधना-रूप तथा पराक्रम का जो समुच्चय है वह वर्तमान नारी के विकास "वर्ण-क्रम" (spectrum) को दिखाता है। पूरा मानव साहित्य चेतना का सुन्दर इतिहास ही सम्पूर्ण भावों का सत्य है। साहित्यकार का लक्ष्य है कि वह वैश्विक हृदय-पटल पर चेतना के सुन्दर इतिहास को अंकित करे –

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

– *कामायनी,* श्रद्धासर्ग

सौन्दर्यलहरी के प्रथम भाग "आनन्दलहरी" के छत्तीसवें से लेकर इकतालीसवें (३६-४१) श्लोक तक षट्चक्रों का जो वर्णन है वह मनुष्य की शक्ति को केन्द्रित करने के आयाम हैं। आज के मनोविज्ञान में केन्द्रित करने के आयामों में जिनका उल्लेख किया है उनमें "सौन्दर्य" सर्वोपरि है। यहाँ विस्तृत विवेचन का अवकाश नहीं है "भिज्ञ" पाठक के लिए इतना ही संकेत पर्याप्त है।

इसी प्रकार *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय के तिहत्तर से लेकर बयासी (७३-८२) तक के श्लोकों में प्रकृति का जो नारी-रूप में निदर्शन है उसमें मानव-विकास के सूत्र विद्यमान हैं। प्रकृति के नाना तत्त्वों का विकास जो शक्ति के विविध आयामों में हो रहा है; वही माँ भगवती की आराधना है।

अन्त में यह निवेदन करते हुए कि यह संसार मनुष्य का है, मनुष्य के लिए है, पर्वतों के लिए नहीं, तारों के लिए नहीं, गन्धर्वों और देवों के लिए नहीं। मनुष्य ने इस सबकी शक्ति को आत्मसात् करने का जो यत्न किया है वही साहित्य की भाषा में अंकित हुआ है। मैं तो गहरे ज्ञान का स्पर्श भी नहीं कर सकती हूँ। गुरुओं एवं प्रभु की कृपा से मैंने इंगित करने का प्रयास मात्र किया है।

निवेदन यह है कि इस अध्ययन में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक उपादानों का भी अध्याय विभाजित कर अन्वेषण किया गया है, उस पर मैंने यहाँ जोर नहीं दिया है, क्योंकि वह परम्परागत शैली में प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम खण्ड

दुर्गासप्तशती एवं सौन्दर्यलहरी का विषय-वस्तुपरक विवेचन

प्रथम परिच्छेद

महर्षि वेदव्यास और उनकी दुर्गासप्तशती

महाभारत एवं पुराणों के रचयिता महर्षि वेदव्यास का भारतीय साहित्य जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे भारतीय जनों के परमाराध्य हैं। आज भी लोग गुरुपूर्णिमा (आषाढ़ी पूर्णिमा) के अवसर पर महर्षि वेदव्यास की पूजा-अर्चना करते हैं। इनकी माता का नाम सत्यवती था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म होने के कारण इनका नाम "द्वैपायन" था। इनके शरीर का रंग कृष्ण होने के कारण ये "कृष्णमुनि" भी कहलाते थे। इसके साथ ही यज्ञीय उपयोग के कारण वेद को चार संहिताओं में विभाग करने के कारण इनका नाम "वेदव्यास" पड़ा। ये इसी नाम से विश्वविख्यात हुए।

पुराण भारतीय साहित्य के गौरव ग्रन्थ हैं। पुराण भारतीय जीवन एवं संस्कृति के प्राण हैं। पुराणों के अन्तर्गत भारत की प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराएं सुरक्षित हैं। मनीषियों एवं विद्वानों का तो यह कहना है कि कोई भी व्यक्ति वेदों एवं उपनिषदों को जानते हुए भी वह पूर्णतः शास्त्र-कुशल तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि वह पुराणों का ज्ञाता न हो जाए। अर्थात् पुराणों के अध्ययन के बिना किसी का भी ज्ञान अपूर्ण है। पुराण शब्द की व्युत्पत्तियों में **"पुराणात् पुराणम्"** भी अन्यतम व्युत्पत्ति है, जिसका तात्पर्य यही है कि वेदार्थ को पूर्ण करने के कारण ही इस ग्रन्थ को "पुराण" नामकरण प्राप्त हुआ। महर्षि वेदव्यास के अनुसार वेदार्थ का उपवृंहण पुराण सर्वथा करता है। व्यास का प्रख्यात श्लोक इसी तरफ संकेत करता है –

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

– *महाभारत,* आदि-पर्व (अध्याय १, श्लोक २६७)

पुराणों के अन्तर्गत प्रायः मनुष्य-जीवन के हर पहलू से सम्बन्धित ज्ञान है जो कि अत्यन्त दुर्लभ है। वास्तव में पुराण मनुष्य के पूर्ण विकास में सहायक हैं। पुराणों का अध्ययन किए बिना यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं है साथ ही मनुष्य की जिज्ञासाओं की पूर्ति भी सम्भव नहीं है। इसी कारण पुराणों का मानव-जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुराणों के अन्तर्गत प्रायः वे सभी आख्यान समाहित हैं जिनका सीधे-सीधे सम्बन्ध मानव-जीवन से है। ये आख्यान प्रायः धर्मपरक, अध्यात्मपरक, मुक्तिपरक, ज्ञान-निष्ठापरक

हैं, जो कि मानव-जीवन हेतु अत्यन्त उपयोगी हैं। पुराणों की कथाओं, आख्यानों के द्वारा मानव-जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान प्रायः सरलता से ही हो जाता है। वास्तव में मानव-जीवन के प्रधान लक्ष्य "ईश्वर-प्राप्ति" को दिलाने में सहायक एक प्रमुख "पुराण" ग्रन्थ ही हैं।

महर्षि वेदव्यास ने अष्टादश पुराणों में सभी धर्मों का सार, परम पवित्र कर्म परोपकार तथा पर-पीड़न को महापाप निर्देश किया है। जिसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत श्लोक से हो रहा है –

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्यवचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि पुराणों के अन्तर्गत प्रायः सभी पहलुओं का विस्तृत ज्ञान समाहित है जिसमें कि ज्ञान, वैराग्य, कर्म, मोक्ष, यज्ञ-यज्ञादि, यम-नियम, तप-दान, वर्णाश्रम धर्म, पुरुष-धर्म, स्त्री-धर्म आदि का समुचित उपदेश सन्निहित है।

मार्कण्डेय पुराण (संक्षिप्त परिचय)

पौराणिक जगत् में किसी भी व्यक्ति ने मानव शरीर के रूप में मार्कण्डेय ऋषि के बराबर जीवन-काल को नहीं पाया है। सहस्रों मन्वन्तरों को धर्म-चक्षुओं से देखने वाले मार्कण्डेय ऋषि ही हैं। *मार्कण्डेय पुराण* में महामुनि मार्कण्डेय का ब्राह्मण कुमार क्रौष्टुकि के साथ संवाद है इसीलिए इसको *मार्कण्डेय पुराण* कहते हैं। पुराणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनमें वेदों का विस्तार होने से तो इनका महत्त्व है ही, साथ ही उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य भी है, क्योंकि वेदों के समान पुराण भी अनादि हैं, उनका भी कोई रचयिता नहीं है। ब्रह्माजी के प्रकट होने के साथ ही जिस प्रकार वेदों का प्रादुर्भाव ब्रह्माजी के मुख से हुआ उसी प्रकार पुराणों का भी हुआ। ब्रह्माजी पुराणों के रचयिता न होकर अपितु प्रकट करने वाले हैं।

ऐसा कहते हैं कि इस पुराण को पहले-पहले ब्रह्माजी के मन से उत्पन्न हुए भृगु, आदि महर्षियों ने अपनाया तत्पश्चात् उन्हीं के पुत्र च्यवन ने अपनाया, च्यवन के पश्चात् ब्रह्मर्षियों ने प्राप्त किया। ब्रह्मर्षियों ने दक्ष को पुराणों का उपदेश दिया। दक्ष ने इसे महर्षि मार्कण्डेय को सुनाया। उसी पुराण को मार्कण्डेय ने क्रौष्टुकि मुनि से कहा और इस प्रकार इस पुराण का नाम महर्षि मार्कण्डेय के साथ सम्बद्ध हो गया।

इसके पूर्व में इस पुराण के आरम्भ में चार ज्ञानी पक्षियों की कथा भी

आई है जिसमें कि व्यास के शिष्य महा-तेजस्वी जैमिनी ने महर्षि मार्कण्डेय के समक्ष कुछ प्रश्नों के बारे में जिज्ञासा उत्पन्न की कि *महाभारत* में बहुत से विषयों का प्रतिपादन किया गया है, मैं इसे यथार्थ रूप में जानना चाहता हूँ। जगत् की सृष्टि, पालन और संहार के एकमात्र कारण सर्वव्यापी भगवान् जनार्दन निर्गुण होकर भी मानव रूप में कैसे प्रकट हुए और द्रुपद-पुत्री पाँच पाण्डवों की महारानी क्यों हुई इसमें मुझे संदेह है। द्रौपदी के पाँचों पुत्र अनाथों की भाँति क्यों मारे गए, ये सभी जिज्ञासाएं महर्षि जैमिनी ने महर्षि मार्कण्डेय के समक्ष रखी। जिसके प्रति-उत्तर में मार्कण्डेय ऋषि ने कहा कि यह समय उत्तर देने के लिए उपयुक्त नहीं है। मैं ऐसे चार पक्षियों का परिचय देता हूँ जो आपके प्रश्नों के उत्तर देंगे।

वस्तुतः ये चारों पक्षी तत्त्व-ज्ञानी ही नहीं अपितु शास्त्र-ज्ञानी भी थे। ये पक्षी साधारण न होकर पूर्वजन्म के ऋषि थे जो कि पिता के द्वारा दिए गए शाप के कारण पक्षी-योनि को प्राप्त हुए थे। इनका जन्म भी विचित्र परिस्थितियों में हुआ था। महाभारत युद्ध के समय इनकी माता दैववश युद्ध-क्षेत्र में जा पहुँची। जहाँ अर्जुन और भगदत्त में युद्ध चल रहा था। उसी समय अर्जुन द्वारा चलाया हुआ एक बाण उस पक्षिणी के उदर में जा लगा जिससे उसका पेट फट गया तथा उसके पेट से चार अण्डे निकलकर पृथ्वी पर गिरे। आयु शेष होने के कारण वे फूटे नहीं अपितु इस प्रकार गिरे मानो रूई के ढेर पर गिरे हों। तत्क्षण भगदत्त के हाथी की पीठ से एक बहुत बड़ा घण्टा भी (अर्जुन के बाणों से जिसका बन्धन टूट गया था) टूटकर गिरा संयोगवश घण्टा अण्डों के साथ ही ज़मीन पर गिरा और अण्डों को ढकता हुआ सा कुछ-कुछ जमीन में धँस भी गया। इस प्रकार अण्डों की रक्षा विचित्र ढंग से हुई, शास्त्रों में भी कहा गया है –

अरक्षितं तिष्ठति देवरक्षितः सुरक्षितः दैवहतं विनश्यति।
– *मा० ब्र० पु०*, पृ० ६०६

युद्ध समाप्ति के पश्चात् घण्टे के अन्दर ही अण्डों को सूर्य और पृथ्वी का ताप मिलता रहा, जिससे वे पक गए और उनसे पक्षी-शावक निकल आए। इधर दैव-विधान से एक महर्षि उधर से निकले, उन्होंने घण्टे के अन्दर से पक्षी-शावकों की आवाज सुनी, कौतूहलवश उन्होंने घण्टे को उखाड़ दिया और उन पक्षी-शावकों को आश्रम ले जाकर एक सुरक्षित स्थान पर रख दिया, साथ ही अपने शिष्यों से यह भी कहा कि – ये कोई सामान्य पक्षी नहीं हैं। संसार में दैव का अनुकूल होना महान् सौभाग्य का सूचक होता है।

पक्षी-शावक जब बड़े हुए तो वे मानवों की भाँति बोलने लगे साथ ही उन्होंने अपने पालक ऋषि शमीक की कौतुहलता को भी समाप्त किया। अर्थात् अपने पक्षी योनि में जन्म लेने का कारण भी बताया। उन्होंने बताया कि पहले वे ऋषि-कुमार थे। उनके पिता महान् तपस्वी, दानी एवं इन्द्रियविजयी थे उनकी परीक्षा लेने के लिए महाराज इन्द्र एक विशालकाय वृद्ध पक्षी-रूप धारण कर पिता के पास आए और बोले – मुझे बड़ी भूख लगी है। शरणागत-वत्सल पिता के पूछने पर उनके लिए कैसे आहार की व्यवस्था की जाए तो पक्षी ने बताया कि मुझे मानव का माँस विशेष प्रिय है। चूँकि ऋषि वचनबद्ध थे। अतः उन्होंने हम चारों को बुलाकर आज्ञा दी कि हम अपने शरीर के माँस से पक्षी की क्षुधा को शान्त करें।

हम ऋषि-कुमार पिता की इस कठोर आज्ञा के पालन हेतु तत्पर नहीं हुए। अतः पिता ने हम चारों को पक्षी होने का श्राप दे दिया और स्वयं अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया करके उस पक्षी का आहार बनने हेतु तैयार हो गए। इस प्रकार यह वृतान्त सुनाने के अनन्तर वे पक्षी अपने पालक ऋषि से आज्ञा लेकर वृक्षों और लताओं से सुशोभित होकर पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्यगिरि पर्वत पर चले गए और वहीं निवास करने लगे।

इस प्रकार महर्षि जैमिनी ने मार्कण्डेयजी के द्वारा उन चारों पक्षियों का परिचय प्राप्त कर अपने प्रश्नों के उत्तर हेतु वे विन्ध्यगिरि गए। जहाँ उन्होंने उन महाज्ञानी पक्षियों से प्रश्न पूछे साथ ही उन्हें उनके प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर भी मिले। महर्षि जैमिनी द्वारा पूछे गए प्रश्न इस प्रकार थे – जगत् की सृष्टि, पालन और संसार के एकमात्र कारण सर्वव्यापी भगवान् जनार्दन निर्गुण होकर भी मानव रूप में कैसे प्रकट हुए? द्रुपद-पुत्री पाँच-पाण्डवों की पत्नी कैसे हुई? द्रौपदी के पाँचों पुत्र अनाथों की भाँति क्यों मारे गए? पक्षियों ने उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा कि – तत्त्वदर्शी मुनियों ने जल को "नारा" कहा है। वह नारा ही वस्तुतः पूर्वकाल में भगवान् श्रीहरि का निवास-स्थान रहा है, इसलिए वे नारायण कहे गए हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। भगवान् धर्मादि की रक्षार्थ सदा स्वेच्छा से ही अवतीर्ण होते हैं।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं – प्राचीन काल की बात है कि महाराज इन्द्र ने त्वष्टा प्रजापति के पुत्र विश्वरूप को मार डाला। अतः ब्रह्म-हत्या के दोष के कारण उनका सारा बल, तेज धर्मराज के अन्दर प्रवेश कर गया पुनः उन्होंने विश्वरूप के भाग वृत्र का वध किया। तब उनका सारा बल वायु-देवता के अन्दर प्रवेश कर गया। तीसरी बार जब उन्होंने महर्षि गौतम का रूप

धारण कर उनकी पत्नी अहिल्या का सतीत्व नष्ट किया तो उस समय उनका रूप भी नष्ट होकर अश्विनी-कुमार के पास चला गया। इस प्रकार इन्द्र धर्म, तेज, बल और रूप से वंचित हो गए।

इन्द्र ने देवताओं से रक्षा की विनती की। देवताओं ने इन्द्र से प्राप्त समस्त तेज को कुन्ती एवं माद्री के गर्भ में स्थापित कर दिया, जिसके फलस्वरूप धर्मराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल एवं सहदेव की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार इन्द्र ही पाँच रूपों में अवतीर्ण हुए और उनकी पत्नी शचि देवी ही महाभाग कृष्णा (द्रौपदी) के रूप में अग्नि से प्रकट हुई। इस प्रकार द्रौपदी के पाँचों पति वस्तुतः एक ही व्यक्ति थे। साथ ही द्रौपदी पतिव्रताओं में अग्रणी कहलाई।

इसके पश्चात् *मार्कण्डेय पुराण* में कुछ प्रमुख आख्यानों का विवरण आता है। इन आख्यानों में पक्षियों ने महर्षि जैमिनी को इक्ष्वाकुवंशी महाराज हरिश्चन्द्र का प्रसिद्ध आख्यान सुनाया कि किस प्रकार महाराज हरिश्चन्द्र ने सत्य पालन हेतु कष्ट उठाए, यहाँ तक कि धर्म एवं सत्य की रक्षा के लिये हरिश्चन्द्र को पत्नी-पुत्र सहित ही स्वयं को भी बेच देना पड़ा। अन्त में स्वर्ग-गमन।

इसके पश्चात् पक्षी महर्षि जैमिनी को एक पिता-पुत्र संवाद सुनाते हैं, जिसमें पुत्र अपने पिता के सामने पहले मृत्यु के कष्टों का वर्णन करता है। इसके अनन्तर यमलोक के मार्ग का वर्णन करता हुआ जीव के जन्म का वृत्तान्त सुनाता है फिर नानाविध नरकों का वर्णन करता है। इसके पश्चात् राजा जनक एवं रामदूत संवाद का भी वर्णन पक्षियों ने किया है।

इसके अनन्तर ही एक पतिव्रता ब्राह्मणी का चरित्र है; जिसने अपने पतिव्रत के द्वारा सूर्योदय ही रोक दिया था, पुनः अनसूया के कहने पर ब्राह्मणी ने सूर्य को प्रकट होने दिया।

तदनन्तर *मार्कण्डेय पुराण* में ऋतध्वज एवं उनकी पतिपरायणा पत्नी मदालसा का आख्यान आता है। इसी के अन्तर्गत भगवान् दत्तात्रेय के महान् प्रभाव का वर्णन करते हुए अलर्कोपाख्यान की अवतारणा की गई है।

इस आख्यान के अन्तर्गत मदालसा की अपने पुत्रों को अपूर्व शिक्षा देने का भी वर्णन किया गया है। मदालसा के चौथे पुत्र का नाम अलर्क था, जिसे मदालसा ने राजनीति, धर्मनीति एवं अध्यात्म का बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया। इसके बाद अलर्क को भगवान् दत्तात्रेय ने अध्यात्म एवं योग का जो दिव्य उपदेश दिया उससे उन्हें सत्य ज्ञान की प्राप्ति हुई और वे घर छोड़कर वन

में चले गए, वहीं पर उन्होंने योग की अनुपम सम्पत्ति के द्वारा श्रेष्ठ निर्वाण पद को प्राप्त किया।

इस आख्यान के पश्चात् महर्षि मार्कण्डेय एवं ब्राह्मण कुमार क्रौष्टुकि का महत्त्वपूर्ण संवाद है। इसी संवाद के अन्तर्गत चौदह मनुओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। द्वितीय मनु स्वरोचिष की उत्पत्ति के प्रसंग में ही एक ब्राह्मण के आदर्श चरित्र का वर्णन किया गया है जिसकी धर्मनिष्ठा ने उनके धर्म को बचाया।

इसके पश्चात् दूसरे मनु औत्तम के चरित्र की अवतारणा की गई है साथ ही उनके पिता उत्तम के चरित्र का भी वर्णन किया गया है। राणा उत्तम उत्तानपाद के दूसरे पुत्र एवं महाभरत ध्रुव के छोटे भाई थे जो कि शत्रु एवं मित्र में समान भाव रखते थे। इसी आख्यान के अन्तर्गत गृहस्थ आश्रम में गृहिणी के महत्त्व को दर्शाया गया है तथा पत्नी-त्याग को अपराध बताया गया है।

इसमें यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार पत्नी पति का त्याग नहीं कर सकती है उसी प्रकार पति भी पत्नी का त्याग नहीं कर सकता है। इसी आख्यान के अन्तर्गत यह भी बताया गया है कि पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद हिन्दू धर्म को मान्य नहीं है। साथ ही साथ इस आख्यान में ग्रहों का जीवन पर प्रभाव भी बताया गया है। अर्थात् ग्रहों के अनुकूल न होने पर दाम्पत्य जीवन में बाधा पहुँचती है।

दुर्गासप्तशती आख्यान

आठवें मनु सावर्णि की उत्पत्ति के प्रसंग में देवी-माहात्म्य वर्णन है जो कि *दुर्गासप्तशती* अथवा चण्डीशतक के नाम से प्रसिद्ध है। इस आख्यान के अन्तर्गत *दुर्गासप्तशती* की लोकप्रियता को दर्शाया गया है। जिस प्रकार मोह-माया के जाल में फँसे हुए अर्जुन को भगवान् कृष्ण ने अपने उपदेश (ज्ञान) के द्वारा कृतार्थ किया था उसी प्रकार खोए हुए राज्य एवं परिवार की चिंता में लिप्त महाराज सुरथ तथा स्त्री-पुत्रों द्वारा अपमानित एवं घर से निकाले हुए, किन्तु फिर भी उन्हीं की चिंता एवं मोह में लिप्त विचलित एवं शोकमग्न समाधि नामक वैश्य को विप्रवर मेधा मुनि ने देवी-माहात्म्य सुनाकर उनको शोक एवं मोह से मुक्त किया।

मेधा ऋषि ने महामाया के स्वरूप को स्पष्ट किया। महर्षि मेधा के अनुसार संसार की स्थिति अर्थात् जन्म-मरण की रीति का तारतम्य बनाए रखने के लिए भगवती महामाया के द्वारा मानवों को मोह-माया के जाल में फँसाया जाता है।

जगदीश्वर भगवान् विष्णु की योगनिद्रारूपी जो भगवती महामाया है उन्हीं से यह जगत् मोहित होता है। यही भगवती ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचकर मोह के जाल में फँसा देती है, यही महामाया इस चराचर जगत् की सृष्टि करती है तथा प्रसन्न होने पर मानवों को मुक्ति का वरदान देती है। वस्तुतः देवी समस्त ईश्वरों की अधीश्वरी है अर्थात् शक्ति है। वास्तविक रूप में तो देवी नित्यस्वरूपा है, क्योंकि भगवान् की शक्ति भगवान् से सर्वथा अभिन्न होती है। सम्पूर्ण जगत् माया से उत्पन्न होने के कारण उन्हीं का स्वरूप है तथा उन्हीं महामाया ने समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है। इसके पश्चात् ऋषि ने देवी प्राकट्य के तीन चरित्र सुनाए, जो क्रमशः प्रथम चरित्र, मध्यम चरित्र एवं उत्तम चरित्र के नाम से विख्यात हैं। *दुर्गासप्तशती* के श्रवण का अपूर्व प्रभाव भी बताया गया है। अतः महामाया दुर्गा मोक्षार्थियों को मोक्ष और भोगार्थियों को भोग प्रदान करती है।

इसके पश्चात् रौच्य नामक तेरहवें मनु की उत्पत्ति का आख्यान आता है, इस आख्यान के अन्तर्गत गृहस्थ धर्म की महत्ता बताई गई है इसमें रौच्य मनु प्रजापति रुचि के पुत्र थे। *मार्कण्डेय पुराण* में भगवान् सूर्य की उत्पत्ति एवं उनके वंशज नरपालों के चरित्र का वर्णन किया गया है। सूर्य-वंश के नरपतियों में राजा खनित्र का चरित्र बड़ा ही उदार है। राजा खनित्र अलौकिक उदारशयता की प्रतिमूर्ति थे। वे सदैव दूसरों के हित की ही सोचते थे। इसी प्रकार उनके समस्त पुत्र-पौत्रादि भी इसी धर्म का अनुकरण करते थे। एक बार इसी धर्म के कारण ही इनके वंश में राजा मरुत तथा उनके पिता का धर्म हेतु परस्पर युद्ध छिड़ गया तभी भार्गव इत्यादि मुनियों ने मध्यस्थता करके दोनों पक्षों को शान्त किया। इन्हीं के वंश में राजा दय हुए, जिनके पिता का तपस्या करते समय किसी राक्षस ने वध कर दिया तत्पश्चात् उनकी माता राजा दय से कहती हैं कि तुम्हारी शासन-व्यवस्था ठीक नहीं है जिस कारण किसी राक्षस ने तुम्हारे पिता का वध कर दिया। यह सुनकर राजा ने बड़ी सेना के साथ दक्षिण देश पर चढ़ाई कर दी और वपुष्मान को उसकी सेना सहित मार दिया।

इस प्रकार सूर्यवंश में अनेकों शूर-वीर, विद्वान्, धर्मज्ञ एवं पराक्रमी राजा हुए हैं। उन सभी राजाओं के चरित्र सुनकर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इन्हीं राजाओं का चरित्रादि सुनकर मार्कण्डेय मुनि विरत हो जाते हैं। यहीं *मार्कण्डेय पुराण* का अन्त हो जाता है।

अठारह पुराणों की नामावली में मार्कण्डेय पुराण की महत्ता एवं स्थान

अठारह पुराणों की गणना में इस पुराण का सातवाँ स्थान है। ये अठारह पुराण निम्नवत् हैं –

१. ब्रह्म पुराण,
२. पद्म पुराण,
३. विष्णु पुराण,
४. शिव पुराण,
५. श्रीमद्भागवत पुराण,
६. नारदीय पुराण,
७. मार्कण्डेय पुराण,
८. अग्नि पुराण,
९. भविष्य पुराण,
१०. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण,
११. नृसिंह पुराण,
१२. वराह पुराण,
१३. स्कन्द पुराण,
१४. वामन पुराण,
१५. कूर्म पुराण,
१६. मत्स्य पुराण,
१७. गरुड़ पुराण एवं
१८. ब्रह्माण्ड पुराण।

ऐसी मान्यता है कि जो प्रतिदिन इन अठारह पुराणों के नाम लेता है तथा तीनों समय इस नामावली का जप करता है, उसे अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। *मार्कण्डेय पुराण* के श्रवण का भी महत् फल बताया गया है, उसके सुनने से करोड़ों कल्पों में किए हुए पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं तथा परम-योग की प्राप्ति होती है। उसे न ही यमराज से भय होता है और नही नरकों से। इस पृथ्वी पर उसकी वंश-परम्परा सदा स्थिर रहती है।

"दुर्गासप्तशती" कथानक का वैशिष्ट्य

मार्कण्डेय पुराण के अन्तर्गत ही आठवें मनु सावर्णि की उत्पत्ति के प्रसंग में देवी-माहात्म्य का वर्णन है। यह *दुर्गासप्तशती* अथवा *चण्डीपाठ* के नाम

से प्रसिद्ध है। इसमें विषादग्रस्त राजा सुरथ एवं मोह-माया के जाल में फँसे हुए समाधि नामक वैश्य की कथा का वर्णन है कि किस प्रकार देवी का माहात्म्य सुनकर देवी की साधना में लीन होकर वे दोनों (राजा सुरथ एवं समाधि) अपने मनोवाँछित फल की प्राप्ति करते हैं। इसमें जिस प्रकार विषादग्रस्त एवं बंधुओं के मोह में फँसे युद्ध से विरत हुए अर्जुन को भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश देकर कृतार्थ किया था, उसी प्रकार खोए हुए राज्य एवं परिवार की चिन्ता में डूबे हुए राजा सुरथ तथा पत्नी-पुत्रों द्वारा अपमानित एवं घर से निकाले हुए किन्तु फिर भी उनकी ममता में जर्जरित एवं शोकमग्न समाधि वैश्य को विप्रवर मेधा मुनि ने देवी-माहात्म्य सुनाकर उनका शोक एवं मोह दूर किया। *दुर्गासप्तशती* में इसी का विस्तार से वर्णन किया गया है।

जब शोक-मोह से घिरे हुए सुरथ एवं समाधि महर्षि मेधा की शरण में गए तो उन्होंने दोनों से महादेवी दुर्गा के प्रभाव एवं माहात्म्य का वर्णन किया तथा उन्हीं की शरण में जाने को कहा। अतः *दुर्गासप्तशती* में महर्षि मेधा द्वारा देवी दुर्गा के प्राकट्य का वर्णन मिलता है कि किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ एवं उनके प्रभाव का विस्तार हुआ। वे बताते हैं कि वास्तव में वे ही नित्यस्वरूपा देवी हैं। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का रूप है। वे ही मायारूप हैं, जो समस्त प्राणियों को मोहित कर मायाजाल में फँसाती हैं। यही मोह-माया छुड़ाने वाली भी हैं। उनका प्राकट्य अनेक प्रकार से होता है; यद्यपि वे नित्य और अजन्मा हैं तथापि वे देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए प्रकट होती हैं। जब वे देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए प्रकट होती हैं, उस समय देवी लोक में उत्पन्न हुई कहलाती हैं। कल्प के अन्त में जब समस्त जगत् जल में (एकार्णव) निमग्न हो रहा था और सबके प्रभु भगवान् विष्णु शेषनाग की शैय्या बिछाकर योग-निद्रा का आश्रय लेकर सो रहे थे, उस समय उनके कानों के मैल से दो भयंकर असुर उत्पन्न हुए जो मधु-कैटभ के नाम से विख्यात हुए जो कि भगवान् विष्णु के नाभिकमल में विराजमान ब्रह्माजी का वध करने को तत्पर थे। उसी समय ब्रह्माजी ने भगवान् विष्णु को सोया हुआ देख एकाग्रचित हो भगवान् विष्णु को जगाने के लिए उनके मन्त्रों में निवास करने वाली योगनिद्रा का स्तवन आरम्भ किया।

ब्रह्मोवाच- **त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।**
सुधा त्वमक्षरे नित्येत्रिधा मात्रात्मिका स्थिता॥

अर्थात् – हे देवी! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार इन तीन मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो।

अपि च - **त्वयैतपाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।**
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने॥

तुम्हीं से इसका पालन होता है और सदा तुम्हीं कल्प के अन्त में सबको अपना ग्रास बना लेती हो। सृष्टि की उत्पत्ति के समय तुम सृष्टिरूपा हो और पालन-काल में स्थितिरूपा हो।

अपि च - **मोहयैतो दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ।**
प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु॥
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ॥

— *श्री दुर्गासप्तशती, प्रथमोऽध्यायः* श्लोक, ७९, ७५, पृष्ठ, ८६, ८७, ७१-७२

पुनः ब्रह्माजी देवी से प्रार्थना करते हुये कहते हैं — हे देवी, ये जो दोनों दुर्धर्ष असुर मधु और कैटभ हैं, इनको मोह में डाल दो और जगदीश्वर भगवान् विष्णु को शीघ्र ही जगा दो। स्वयं ही इनके भीतर (भगवान विष्णु में) इन दोनों महान् असुरों को मार डालने की बुद्धि उत्पन्न कर दो।

इत्यादि प्रकार से ब्रह्माजी ने महामाया की स्तुति की उसी प्रकार तमोगुण की अधिष्ठात्री देवी भगवान् के नेत्र, मुख, नासिका, बाहु, हृदय और वक्ष-स्थल से निकलकर अव्यक्तजन्मा ब्रह्माजी के समक्ष खड़ी हो गई। इस प्रकार योग-निद्रा से जागकर भगवान् विष्णु ने मधु एवं कैटभ से पाँच हजार वर्षों तक बाहु-युद्ध किया। वे दोनों भी अत्यन्त बल के कारण उन्मत्त थे साथ ही महामाया ने भी उन्हें मोह में डाल रखा था अतएव वे दानव भगवान् विष्णु से बोले — "हम तुम्हारी वीरता से सन्तुष्ट हैं। तुम हम लोगों से कोई वर माँगो।" इस पर भगवान् विष्णु ने कहा यदि तुम दोनों मुझसे प्रसन्न हो तो अब दोनों मेरे हाथों से मारे जाओ। साथ ही मोह के कारण दैत्यों को सर्वत्र जल ही जल दिखाई दिया। अतः उन्होंने भगवान् से कहा — "जहाँ पृथ्वी जल में डूबी हुई न हो जहाँ सूखा स्थान हो, वहीं हमारा वध करो।" तब तथास्तु कहकर भगवान् ने उन दोनों के मस्तक अपनी जाँघ पर रखकर चक्र से काट डाले। देवी महामाया ब्रह्माजी की स्तुति करने पर स्वयं ही प्रकट हुई थी। इस प्रकार प्रथम अध्याय में मधु-कैटभ के वध का वृतान्त है।

इसके पश्चात् द्वितीय अध्याय का आरम्भ होता है जिसमें देवी के प्रादुर्भाव एवं महिषासुर-वध का वर्णन है। पूर्वकाल में जब देवताओं और असुरों में पूरे सौ वर्षों तक घोर संग्राम हुआ जिसमें कि दैत्यों का स्वामी महिषासुर था।

जोकि अपनी शक्तियों के द्वारा देवताओं की महाबली सेना को परास्त कर स्वयं इन्द्र बन बैठा। इस प्रकार पराजित देवतागण प्रजापति ब्रह्माजी को आगे कर उस स्थान पर गए जहाँ भगवान् शंकर और विष्णु विराजमान थे। वहाँ पहुँचकर देवताओं ने अपनी सम्पूर्ण दयनीय स्थिति भगवान् के सामने कह सुनाई कि हे भगवन्! महिषासुर सूर्य, इन्द्र, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, वरुण, यम तथा अन्य देवताओं के भी अधिकार छीनकर स्वयं ही सबका अधिष्ठाता बन बैठा है। अतः भगवन् हम आपकी शरण में आए हैं। अब आप ही उसके वध का कोई उपाय सोचिए।

इन्द्रादि देवताओं के दीनता से युक्त वचनों को सुनकर भगवान् शिव व विष्णु ने उन असुरों पर अपना क्रोध व्यक्त किया। अत्यन्त क्रोध से युक्त भगवान् विष्णु के श्रीमुख से एक महान् तेज प्रकट हुआ। भगवान् शिव, ब्रह्मा, चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, सूर्य एवं पृथ्वी, आदि सभी शक्तियों के द्वारा तेज का प्रादुर्भाव हुआ। समस्त देवताओं का तेज एकत्रित हो महान् शक्ति का स्वरूप दिखाई देने लगा। कुछ ही क्षणों में वह प्रकाश एक शक्तिस्वरूपा तेजस्विनी नारी के रूप में परिणत हो गया। अर्थात् समस्त देवताओं का तेज एकत्रित हो एक महान् शक्तिशाली नारी के रूप में परिवर्तित हुआ। किसी देवता के तेज से देवी दुर्गा के गुणों का प्रादुर्भाव हुआ तो किसी देवता के तेज से देवी की भुजाओं का, किसी तेज से देवी के मध्य भाग का प्रादुर्भाव हुआ, यमराज के तेज से देवी के सिर में बाल प्रकट हुए, ब्रह्मा के तेज से देवी के श्री-चरणों की उत्पत्ति हुई। अतः सम्पूर्ण देवताओं के शरीर से उत्पन्न उस महान् तेज, उस शक्ति-पुंज की कहीं भी तुलना न थी। उस शक्ति-स्वरूपा नारी, जो कि देवी दुर्गा या चण्डी के रूप में मानी गई, समस्त देवताओं ने अपनी-अपनी सामर्थ्य से समस्त अस्त्र-शस्त्रों एवं अलंकारों से उनका अलंकरण किया। पिनाकधारी भगवान् शंकर ने अपने शूल से त्रिशूल निकालकर उन शक्ति-स्वरूपा देवी को भेंट किया तथा भगवान् विष्णु ने अपने श्रीचक्र से सुदर्शन चक्र उत्पन्न कर देवी को भेंट किया। वरुण ने शंख, वायु ने धनुष, इन्द्र ने अपने वज्र से वज्र उत्पन्न कर देवी को अर्पण किया और ऐरावत हाथी से उतारकर एक घण्टा भी। वरुण ने पाश, प्रजापति ने स्फटिकाक्ष की माला। भगवान् सूर्य ने देवी के समस्त रोमकूपों में अपनी किरणों का तेज भर दिया। समुद्र ने उज्ज्वल हार और दिव्य चूड़ामणि, कुण्डल, चरणों हेतु निर्मल नूपुर, अंगुलियों हेतु रत्नों की अंगूठियाँ व कभी जीर्ण न होने वाले दो उज्ज्वल वस्त्र भेंट किए। विश्वकर्मा ने उन्हें फरसा व वक्ष-स्थल पर धारण करने हेतु कभी न कुम्हलाने वाले कमलों की मालाएं भेंट की।

अन्यान्य देवताओं ने भी अपनी-अपनी शक्ति व तेज द्वारा देवी को अलंकृत कर उनका सम्मान किया। हिमालय ने सवारी के लिये सिंह तथा अन्यों ने अभेद्य कवच, इत्यादि देवी को भेंट किए। समस्त अस्त्र-शस्त्र से युक्त उन महाशक्तिशालिनी देवी ने बारम्बार अट्टहासपूर्ण उच्च स्वर से गर्जना की। उनके भयंकर नाद से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गूंज उठा। देवी का अत्यन्त उच्च स्वर से किया हुआ सिंहनाद कहीं समा न सका। आकाश उनके सामने लघु हो गया, पृथ्वी में हलचल होने लगी, पर्वत काँप उठे। उस समय समस्त देवताओं ने अत्यन्त हर्ष से देवी से कहा – "देवी! तुम्हारी जय हो" साथ ही महर्षियों ने भी प्रसन्न होकर महादेवी दुर्गा की स्तुति की।

तीनों लोकों को क्षोभ एवं भय से आक्रान्त देख दैत्यगण अपनी समस्त सेना को अस्त्र-शस्त्रों एवं कवच, इत्यादि से सुसज्जित कर सहसा उठ खड़े हुए। महिषासुर ने अत्यन्त क्रोध में आकर कहा – आः। यह क्या हो रहा है। इतना कहकर वह अपनी सम्पूर्ण सेना व महान् दैत्यों से घिरकर उसी सिंहनाद की तरफ दौड़ा। वहाँ पहुँचकर उसने महादेवी, शक्तिशालिनी दुर्गा को देखा जिनके प्रभाव से समस्त लोक व दिशाएं प्रकाशित हो रही थी। कुछ ही क्षणों के पश्चात् देवी व दैत्यों में युद्ध प्रारम्भ हो गया। महिषासुर का सेनानायक चिक्षुर का देवी दुर्गा के साथ घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। वह दैत्य अपने समस्त कठोर अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग देवी पर करने लगा। उसी क्षण देवी ने भी क्रोध में आकर अपनी शक्तियों द्वारा शत्रुओं के अस्त्र-शस्त्र को काट डाला, नष्ट कर दिया। देवी के वाहन सिंह ने भी क्रोध में आकर असुरों की सेना को तहस-नहस कर दिया। देवी दुर्गा ने कुछ ही क्षणों में दैत्यों की महान् सेना को चिक्षुर के साथ समाप्त कर दिया। इसके साथ ही द्वितीय अध्याय समाप्त होता है।

तदनन्तर तीसरे अध्याय का प्रारम्भ होता है। महिषासुर ने जब शक्तिशाली सेनानायक चिक्षुर के वध का समाचार सुना तब वह भी अत्यन्त क्रोध में आकर माँ भगवती से युद्ध करने चल पड़ा उसने भी देवी पर अपनी शक्तियों का प्रहार आरम्भ किया। उसने एक भैंसे का रूप धारण कर देवी के गणों को त्रास देना आरम्भ कर दिया। महिषासुर देवी के सिंह को मारने के लिए उस पर झपटा इससे देवी को अत्यन्त क्रोध आया, देवी ने पाश फेंककर उस महादैत्य को बाँध लिया। बँध जाने पर तत्काल ही उसने वह रूप त्याग सिंह का रूप धारण कर लिया, जगदम्बा ने उस सिंह के मस्तक पर प्रहार किया। उसी समय वह सिंह पुरुष के रूप में प्रकट हुआ। देवी ने तुरन्त बाणों द्वारा उस पुरुष को भी बाँध डाला। ऐसे में उसने महान् गजराज का रूप ले लिया और गर्जना करने लगा। तभी देवी बोली –

गर्ज-गर्ज क्षणं मूढ़ मधु यावत्पिवाम्यहम्।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः॥

अर्थात् – हे मूर्ख! मैं जब तक मधुपान करती हूँ, तब तक तू क्षणभर के लिए खूब गरज ले। मेरे हाथ से यहीं तेरी मृत्यु हो जाने पर अब शीघ्र ही देवता भी गर्जना करेंगे।

इतना कहकर देवी उछली और उस महादैत्य पर चढ़ गई फिर उसे अपने पैर से दबाकर देवी ने उसके कण्ठ पर आघात किया। कण्ठ पर आघात होने पर वह अपने मुख द्वारा बाहर आने की कोशिश करने लगा अभी वह आधे शरीर से ही बाहर आ पाया था कि देवी ने उसे अपनी शक्ति से रोक दिया। आधा निकला होने पर भी वह देवी से युद्ध करने लगा। तत्पश्चात् देवी ने वहीं तलवार से उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया, फिर हाहाकार करती हुई दैत्यों की समस्त सेना भाग गई तथा सम्पूर्ण देवताओं में प्रसन्नता छा गई। देवताओं ने महर्षियों के साथ मिलकर भगवती दुर्गा का स्तवन किया। गन्धर्वराज गान तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। महिषासुर के वध के साथ ही तृतीय अध्याय समाप्त होता है।

महिषासुर के वध के पश्चात् ही इन्द्रादि देवताओं द्वारा देवी की स्तुति से चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भ होता है। ऋषि मेधा देवी-माहात्म्य का वर्णन करते हुए आगे कहते हैं कि – महिषासुर के वध से प्रसन्न देवताओं ने देवी दुर्गा की स्तुति की और बोले – "सम्पूर्ण देवताओं की शक्ति का समुदाय ही जिनका स्वरूप है तथा जिन देवी ने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है, समस्त देवताओं और महर्षियों की पूजनीया उन जगदम्बा को हम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं वे हम लोगों का कल्याण करें। आप ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हैं। आप में सत्त्व-गुण, रजो-गुण और तमो-गुण, ये तीनों ही समान रूप से स्थित हैं फिर भी दोषों के साथ आपका संसर्ग नहीं जान पड़ता है। भगवान् विष्णु एवं महादेव भी आपका पार नहीं पाते आप ही सबका आश्रय हो। यह समस्त जगत् आपका अंशभूत है, क्योंकि आप सबकी आदिभूता अव्याकृता परा-प्रकृति हैं। हे देवी! आप ही वेदत्रयी हैं आप शब्दस्वरूपा हैं। हे देवी! जिसमें समस्त शास्त्रों के सार का ज्ञान होता है, वह मेधा-शक्ति आप ही हैं। दुर्गम भवसागर से पार लगाने वाली आप ही हैं। आपकी कहीं भी आसक्ति नहीं है। कैटभ के शत्रु भगवान् विष्णु के वक्ष-स्थल में एक मात्र निवास करने वाली भगवती लक्ष्मी तथा भगवान् चन्द्रशेखर द्वारा सम्मानित गौरी देवी भी आप ही हैं।

अतः पूर्वलिखित प्रकारों से जब देवताओं ने भगवती दुर्गा की स्तुति की तब देवी प्रसन्न होकर बोलीं – "देवताओं! तुम सब लोग मुझसे जिस वस्तु की अभिलाषा रखते हो उसे माँगो।"

तब देवताओं ने कहा हे दुर्गा माँ यदि आप हमसे प्रसन्न हैं तो हम जिस समय भी आपका स्मरण करें तब आप हमें दर्शन देकर हमारे कष्टों से मुक्त करें। तब तथास्तु कहकर महाशक्तिशालिनी देवी दुर्गा वहीं अन्तर्ध्यान हो गई। यहीं चतुर्थ अध्याय की समाप्ति होती है। देवी दुर्गा माँ गौरी के शरीर से प्रकट हो समस्त देवताओं को दुष्ट दैत्यों शुम्भ-निशुम्भ से मुक्त कराती हैं। इस प्रकार *श्रीमार्कण्डेय पुराण* में सावर्णिक मन्वन्तर की कथा के अन्तर्गत देवी-माहात्म्य में शक्रादिस्तुति नामक चौथा अध्याय पूर्ण होता है।

देवी दूत संवाद द्वारा पंचम अध्याय का प्रारम्भ होता है। इस उत्तर-चरित्र के ऋषि रुद्र हैं, देवता महासरस्वती हैं, अनुष्टुप् छन्द हैं, भीमा शक्ति हैं, भ्रामरी बीज हैं, सूर्य तत्त्व हैं और सामवेद स्वरूप हैं। महासरस्वती की प्रसन्नता के लिए उत्तर-चरित्र के पाठ में इसका विनियोग किया गया है। महिषासुर के वध के बहुत समय पश्चात् शुम्भ-निशुम्भ नामक दो महादैत्य प्रकट हुए जिन्होंने अपने बल के मद में आकर शचीपति इन्द्र से तीनों लोकों का राज्य व यज्ञ-भाग छीन लिया साथ ही वे सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, आदि देवताओं की शक्तियों का भी उपयोग करने लगे। अपमान एवं अधिकारों राज्यादि से वंचित दुःखी देवताओं को देवी द्वारा प्राप्त वरदान का स्मरण हो आया। तभी समस्त देवताओं ने मिलकर देवी की स्तुति प्रारम्भ कर दी। देवताओं ने कहा "महादेवी शिवा को सर्वदा नमस्कार है। नित्या गौरी एवं धात्री को प्रणाम है। रौद्रा को नमस्कार है। प्रकृति एवं भद्रा को बारम्बार नमस्कार है। ज्योत्स्नामयी, चन्द्ररूपिणी एवं सुखस्वरूपा देवी को सतत् प्रणाम है।" इत्यादि प्रकार से देवता माँ भगवती की आराधना में तत्पर हो गए। उसी समय देवी गङ्गा-स्नान हेतु आई। देवी पार्वती ने देवताओं से पूछा कि आप किसकी आराधना कर रहे हैं? तत्क्षण देवी पार्वती के शरीर से एक महाशक्तिशालिनी देवी का प्रादुर्भाव हुआ और वो बोली – कि (महती) शुम्भ दैत्य से तिरस्कृत और युद्ध में निशुम्भ से पराजित हो यहाँ एकत्रित हुए ये समस्त देवता मेरी ही स्तुति कर रहे हैं।

पार्वती देवी के शरीर से प्रकट होने के कारण वे अम्बिका देवी "कौशिकी" के नाम से लोकप्रसिद्ध हुई। कौशिकी देवी के प्रकट होने के पश्चात् देवी पार्वती के शरीर का वर्ण श्याम हो गया जो कि हिमालय पर रहने वाली

कालिका देवी के नाम से विख्यात हुई। कुछ समय पश्चात् ही आकाश मार्ग में भ्रमण करते हुए शुम्भ-निशुम्भ के दूतों चण्ड-मुण्ड ने देवी कौशिकी को देखा। चण्ड-मुण्ड ने शुम्भ के पास आकर देवी कौशिकी के अनुपम रूप-लावण्य का वर्णन किया। वे बोले – महाराज एक अत्यन्त मनोहर स्त्री है, जो अपनी दिव्य कान्ति से हिमालय को प्रकाशित कर रही है, वह स्त्रियों में रत्न के समान है। इस समय तीनों लोकों के रत्नों के स्वामी आप हैं। हाथियों में रत्नभूत ऐरावत, पारिजात का वृक्ष, इत्यादि। अतएव जब सभी रत्न आपने एकत्रित कर लिए हैं फिर जो यह स्त्रियों में रत्नस्वरूप कल्याणमयी देवी है, इसे आप क्यों नहीं अपने अधिकार में लेते। चण्ड-मुण्ड के मुख से इस प्रकार की देवी के रूप-लावण्य को सुनकर शुम्भ ने अपने महादैत्य सुग्रीव को आज्ञा दी कि तुम देवी के पास जाकर मेरे द्वारा कहे वचनों को विनम्रतापूर्वक प्रस्तुत करो जिससे कि वे प्रसन्न होकर शीघ्रातिशीघ्र यहाँ आ जाए। सुग्रीव ने देवी के पास पहुँचकर वैसा ही किया (कहा)। दैत्य शुम्भ के वचनों को सुग्रीव द्वारा सुनकर देवी गम्भीरता के साथ ही मुस्कुराकर बोली – दूत तुमने सत्य कहा है, इसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है। शुम्भ तीनों लोकों का स्वामी है निशुम्भ भी उसी के समान पराक्रमी है। किन्तु अल्प-बुद्धि के कारण पहले ही मैंने एक प्रतिज्ञा कर ली है – कि जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, जो मेरे अभिमान को चूर्ण कर देगा तथा संसार में जो मेरे समान बलवान होगा वही मेरा स्वामी होगा। अतः तुम इन वचनों को अपने स्वामी के समक्ष कहो तत्पश्चात् शुम्भ-निशुम्भ को जो उचित प्रतीत हो वही करें। देवी दूत को वापस लौटा देती हैं और यहीं "देवी-दूत संवाद" नामक पंचम अध्याय की समाप्ति हो जाती है।

देवी के इन वचनों को सुनकर दैत्य को बड़ा अमर्ष हुआ उसने शुम्भ के समक्ष वचनों को उसी प्रकार से कह सुनाया तब क्रोध में आकर शुम्भ अपने सेनापति धूम्रलोचन तथा महान् (बड़ी) असुरों की सेना लेकर देवी से युद्ध करने पहुँचा। उसने देवी से कहा – "अरी! तू शुम्भ-निशुम्भ के पास चल। यदि प्रसन्नतापूर्वक मेरे स्वामी के पास नहीं चलेगी तो मैं बलपूर्वक केश पकड़कर घसीटते हुए तुझे ले चलूँगा।" तब देवी भी कुछ मुस्कुराकर बोली –

दैत्येश्वरेण प्रहितो बलवान् बलसंवृतः।
बलान्नयसि मामेवं ततः किं ते करोम्यहम्॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय षष्ठ, श्लोक ११, पृष्ठ १२४

अर्थात् – तुम्हें दैत्यों के राजा ने भेजा है, तुम स्वयं भी बलवान हो और

तुम्हारे साथ विशाल सेना भी है; ऐसी दशा में यदि मुझे बलपूर्वक ले चलोगे तो मैं तुम्हारा क्या कर सकती हूँ?

तभी धूम्रलोचन देवी की तरफ दौड़ा देवी ने अपनी हुंकार मात्र से उसे वहीं भस्म कर दिया। देवी के सिंह ने भी क्रोध में आकर दैत्य की समस्त सेना को तहस-नहस कर दिया। धूम्रलोचन के वध का समाचार सुनकर शुम्भ अत्यन्त क्रोधित हुआ। उसने चण्ड-मुण्ड को देवी से युद्ध करने की आज्ञा दी। चण्ड-मुण्ड भी एक विशाल सेना लेकर देवी से युद्ध करने पहुँचे। देवी ने चण्ड-मुण्ड को युद्ध के लिए तैयार देखकर अत्यन्त क्रोध किया। तुरन्त विकरालमुखी काली प्रकट हुई जो कि नरमुण्डों की माला पहने हुई थी। उन्होंने क्षण भर में ही चण्ड-मुण्ड की सेना को समाप्त कर चण्ड एवं मुण्ड नामक दैत्यों के सिरों को हाथ में लिए हुए देवी काली को देखकर कहा – देवी तुम चण्ड और मुण्ड को लेकर मेरे पास आई हो इसलिए इस संसार में तुम्हें चामुण्डा के नाम से ख्याति प्राप्त होगी। यहाँ चण्ड-मुण्ड वध के साथ ही यह अध्याय समाप्त होता है।

चण्ड-मुण्ड वध के पश्चात् जब शुम्भ ने यह सुना तब उसके अन्दर क्रोध की ज्वालाएं भड़कने लगीं। उसने अपनी सम्पूर्ण दैत्य-सेना को देवी से युद्ध करने हेतु कूच करने की आज्ञा दे दी। उसने कहा – पचास कोटिवार्य कुल के और सौ धौम्र कुल के असुर सेनापति मेरी आज्ञा से सेना सहित कूच करें। कालक, दौर्हद, मौर्य और कालकेय असुरों को भी युद्ध हेतु प्रस्थान के लिए आज्ञा दे दी। अत्यन्त भयंकर दैत्य-सेना को आते हुए देख देवी ने अपने धनुष की टंकार से समस्त पृथ्वी और आकाश के बीच के भाग को गुंजायमान कर दिया। असुरों के विनाश एवं देवताओं की रक्षा हेतु समस्त ब्रह्मा, शिव, वरुण, इत्यादि की शक्तियाँ भी पुनः उनके शरीरों से निकलकर उन्हीं के रूप में चण्डिका देवी के पास उपस्थित हो गईं। सर्वप्रथम हंस पर विराजमान अक्षसूत्र और कमण्डलु से युक्त ब्रह्माजी की शक्ति उपस्थित हुई जो कि ब्राह्मणी देवी के नाम से लोक-प्रसिद्ध हुई। महादेव की शक्ति वृषभ पर, विष्णु की शक्ति गरुड़ पर विराजमान उपस्थित हुई, इन्द्र की शक्ति ऐरावत पर चढ़कर उपस्थित हुई तत्समय देव-शक्तियों से घिरे हुए महादेव ने देवी चण्डिका से कहा – "मेरी प्रसन्नता के लिए तुम शीघ्र इन असुरों का संहार करो।" तभी क्रोध में भरी हुई देवी कौशिकी के शरीर से अत्यन्त भयानक चण्डिका शक्ति उत्पन्न हुई। उस महाशक्ति ने दैत्यों को ललकारते हुए लौट जाने को कहा। दैत्यों और देवी में घमासान युद्ध छिड़ गया। देवी ने भी अपनी शक्तियों द्वारा असुरों का संहार प्रारम्भ कर दिया।

कुछ दैत्यों को तो ब्रह्माणी ने अपने कमण्डलु के जल से ही शक्तिहीन व भस्म कर दिया। भयाक्रान्त दैत्य सैनिक भाग खड़े हुए तभी वहाँ देवी से युद्ध करने हेतु महान् दैत्य "रक्तबीज" उपस्थित हुआ। सर्वप्रथम ऐन्द्री के साथ रक्तबीज का युद्ध प्रारम्भ हो गया। ऐन्द्री ने अपने वज्र द्वारा रक्तबीज पर प्रहार किया जिसके कारण अनेक रक्तबीजों की उत्पत्ति हो गई यह देख देवता भी चिन्तित हो उठे। देवी ने चामुण्डा देवी को कहा कि देवी मैं इस रक्तबीज को मारती हूँ, तुम अपने मुँह को इतना बड़ा फैलाओ कि दैत्य का जितना भी रक्त गिरे उसे अपने मुख में ले लो। देवी ने रक्तबीज को वज्र, बाण, खड्ग, इत्यादि अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग कर मार डाला। इससे देवताओं में अत्यन्त प्रसन्नता छा गई महर्षियों इत्यादि ने पुनः देवी की स्तुति की।

रक्तबीज के वध का समाचार सुनकर शुम्भ-निशुम्भ क्रोधाग्नि में आकर देवी से युद्ध करने पहुँच गए। क्रोध के कारण निशुम्भ ने दौड़कर देवी के वाहन सिंह के मस्तक पर प्रहार किया। यह देख देवी ने तुरन्त ही प्रति-उत्तर स्वरूप निशुम्भ की तलवार व ढाल को टुकड़ों में कर दिया साथ ही निशुम्भ का भी वध कर दिया। तत्पश्चात् शुम्भ और देवी में घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। शुम्भ ने अपनी दिव्य शक्तियों का प्रयोग देवी पर करना प्रारम्भ कर दिया। तब देवी ने भी क्रोधित हो शुम्भ पर शूल से आक्रमण कर उसे मूर्छित कर दिया। कुछ घण्टों के पश्चात् ही निशुम्भ को पुनः एक बार चेतना आ गई उसने देवी पर प्रहार करना प्रारम्भ कर चण्डिका को चक्रों से आच्छादित कर दिया। तभी दुर्गम पीड़ा का नाश करने वाली देवी भगवती ने उन समस्त बन्धनों को काट दिया। क्रोध में आकर देवी चण्डिका ने अपने शूल से निशुम्भ की छाती भेद दी। उसी समय छाती से दूसरा महाबली राक्षस उत्पन्न हो गया। यह देख देवी ने तुरन्त ही अपने चक्र द्वारा उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया। वह अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़ा और देवी के सिंह ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

इस प्रकार अपने प्रिय भ्राता निशुम्भ को मारा गया देख अत्यन्त क्रोधित हो शुम्भ देवी से बोला – "दुष्ट दुर्गे! तू बल के अभिमान में आकर मिथ्या घमण्ड न दिखा। तू बड़ी मानिनी बनी हुई है, किन्तु दूसरी स्त्रियों के बल का सहारा लेकर युद्ध करती है।" तभी देवी ने उत्तर स्वरूप कहा –

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥

देवी ने यह भी कहा –

अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।
तत्संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव॥

– *दुर्गासप्तशती*, दशमोऽध्यायः श्लोक ५, ८ पृष्ठ १५४

ओ दुष्ट! मैं अकेली ही हूँ। इस संसार में मेरे सिवा दूसरी कौन है। देख, ये मेरी ही विभूतियाँ हैं, अतः मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं। – श्लोक ५

मैं अपनी ऐश्वर्य शक्ति से अनेक रूपों में यहाँ उपस्थित हुई थी। उन सब रूपों को मैंने समेट लिया। अब मैं युद्ध में अकेली ही हूँ। तुम भी स्थिर हो जाओ।। – श्लोक ८

तत्पश्चात् भगवती देवी व दैत्य शुम्भ में घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। दैत्य ने भी अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग कर देवी की शक्ति को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया तभी देवी ने कुछ समय युद्ध करने के पश्चात् शुम्भ की छाती को अपने शूल द्वारा भेद दिया जिससे शुम्भ अचेत हो पृथ्वी को कँपाता हुआ गिर पड़ा। उस दुरात्मा के मारे जाने पर सम्पूर्ण दिशाओं में प्रसन्नता छा गई। समस्त देवता हर्षित हो उठे। समस्त दिशाओं में होने वाले भयंकर शब्दादि शान्त हो गए। यहीं "शुम्भ-वध" नामक दशम् अध्याय पूरा होता है।

एकादश अध्याय में हर्षित देवताओं द्वारा देवी की स्तुति की गई है। देवता बोले – "शरणागतों की रक्षा करने वाली देवी! प्रसन्न होवो। सम्पूर्ण जगत् की माता! हम पर प्रसन्न होवो। तुम अनन्त बल-सम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो। देवी! तुम्हीं ने इस समस्त संसार को मोहित कर रखा है। तुम्ही कल्याणी हो। शरण में आए सभी की रक्षा करने वाली तुम्हीं हो। हे नारायणी देवी तुम्हें नमस्कार है।" इत्यादि प्रकार से देवताओं ने देवी की स्तुति की। तदनन्तर भगवती दुर्गा (देवी कौशिकी) देवताओं की स्तुति से अत्यन्त प्रसन्न हुई उन्होंने देवताओं को वर माँगने को कहा। तब देवताओं ने निखिल संसार के लिए उपकारक यह वर माँगा –

सर्वाबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम्॥

– *दुर्गासप्तशती*, एकादश अध्याय, श्लोक ३९, पृष्ठ १६७

तब देवी ने भविष्य में उत्पन्न होने वाले असुरों का वर्णन किया तथा अपने "रक्तदन्तिका", "शाकम्भरी", "भ्रामरी", इत्यादि स्वरूपों में प्रकट होने की बात कही। तदनन्तर देवी तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गई।

अब "फलस्तुति" नामक बारहवें अध्याय का प्रारम्भ होता है। इसमें देवी-पाठ, व्रत, इत्यादि के पाठ का माहात्म्य भी वर्णित है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि देवी-पाठ से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। देवी बोली – "देवताओं! जो एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन इन स्तुतियों से मेरा स्तवन करेगा, उसकी सारी बाधा मैं निश्चय ही दूर कर दूँगी। जिस मन्दिर में प्रतिदिन विधिपूर्वक मेरे इस माहात्म्य का पाठ किया जाता है, उस स्थान को मैं कभी नहीं छोड़ती। वहाँ सदा ही मेरा सन्निधान बना रहता है।" अतः ऋषि बताते हैं कि देवी-देवताओं से इस प्रकार कहकर देखते-देखते अन्तर्धान हो गई। देवी द्वारा महादैत्यों शुम्भ-निशुम्भ के मारे जाने पर शेष दैत्य पाताललोक चले गए। देवता पुनः-पुनः पहले की भाँति यज्ञ-भाग का उपयोग करते हुए अपने-अपने अधिकार का पालन करने लगे। वह देवी भगवती नित्य प्रकट होती हुई भी पुनः प्रकट होकर जगत् की रक्षा करती है। वही जगत् को जन्म देती है, मोहित करती है तथा समय-समय पर महाप्रलय का रूप धारण करने वाली माँ काली समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

तत्पश्चात् त्रयोदश अध्याय का आरम्भ होता है। इसके अन्तर्गत महर्षि मेधा से देवी का माहात्म्य सुनकर राजा सुरथ व समाधि ने महर्षि को प्रणाम किया। देवी-सूक्त का जप करते हुए तपस्या में प्रवृत्त हो गए। दोनों ने नदी तट पर देवी की मृण्यमयी प्रतिमा स्थापित कर हवनादि प्रारम्भ किया। जिसमें अपने शरीर की त्वचा को द्रव्य में प्रदान कर दिया इस प्रकार अष्ट वर्षों की तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने उन्हें मनोवांछित फल प्रदान किया। भक्तिपूर्वक अपनी स्तुति सुनकर देवी अन्तर्ध्यान हो गई। देवी से वरदान पाकर क्षत्रियों में श्रेष्ठ राजा सुरथ सूर्य से जन्म लेकर सवार्णि नामक मनु हुए। इसी के साथ तेरहवाँ व अन्तिम अध्याय समाप्त हो जाता है और देवी की कथा सम्पूर्ण होती है।

इस कथा की विशेष बात यह है कि आदि स्वरूप वाली देवी दुर्गा विश्व की परम शक्ति है। वह न केवल देवों, ऋषियों तथा मानवों, आदि श्रद्धालुओं की रक्षिका ही है, अपितु दुष्ट एवं लोकपीड़क दस्युओं, आदि की संहारिका भी है। वह श्रद्धा के सत्फल को देने एवं अनाचार, अत्याचार आदि का अन्त करने वाली परा-शक्ति है। अतः उस देवी की स्तुति एवं पराक्रम गाथा वाली सात सौ श्लोकों की इस पौराणिक रचना (*मार्कण्डेय पुराण* के परम विशिष्ट अंश) का स्वतन्त्र कला-शास्त्रीय अनुशीलन एक मनोरंजक प्रयास प्रतीत होता है।

द्वितीय परिच्छेद

आचार्य शंकर और उनकी सौन्दर्यलहरी

अद्वैत दर्शन के संस्थापक शंकराचार्य का जन्म ईस्वी सन् ७८८ ई. में केरल राज्य के उत्तर त्रावणकोर क्षेत्र के कलड़ी स्थान पर नम्बूदरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तीन वर्ष की आयु में पिता शिवगुरु का देहान्त हो गया। माता अरियम्बा द्वारा इनका पालन-पोषण हुआ। शंकर ने छोटी आयु में ही धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। प्रारम्भ से ही उनका झुकाव अध्यात्म की ओर था तथा संन्यास मार्ग की प्रवृत्ति प्रबल थी। इसलिए शीघ्र ही संन्यास ले लिया।

नर्मदा नदी के किनारे शंकर, गुरु गोविन्दभागवत्पाद् के शिष्य बने। गुरु ने इनमें आध्यात्मिक प्रतिभा देख *ब्रह्मसूत्र* पर भाष्य लिखने का आदेश दिया। इस कार्य को पूर्ण करने हेतु शंकर ने वाराणसी (काशी) की ओर प्रस्थान किया। बहुत कम समय में ही इस भाष्य को पूर्ण किया तथा ख्याति अर्जित की। विभिन्न सम्प्रदाय के दार्शनिकों का ध्यान शंकर की ओर आकृष्ट हुआ तथा शंकर को उनसे वाद-विवाद भी करना पड़ा। ऐसे दार्शनिकों में प्रमुख आचार्य मण्डनमिश्र तथा उनकी पत्नी भारती थे। अन्ततः शंकर ने दोनों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा वे दोनों उनके शिष्य बने। मण्डनमिश्र का नाम सुरेश्वराचार्य रखा गया।

शंकर ने कश्मीर सहित समस्त भारत का भ्रमण किया तथा अनेक आचार्यों को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपने दर्शन की ओर आकर्षित किया। शंकर की ये सफलताएँ "दिग्विजय" कहलाई। शंकराचार्य का ३२ वर्ष की अल्पायु में केदारनाथ में देहावसान हो गया।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में शंकर का योगदान अद्वितीय है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पाँच पीठों की स्थापना की –

१. ज्योतिर्मठ (बद्रीनाथ),
२. शारदापीठ (शृंगेरी),
३. गोवर्धनपीठ (जगन्नाथपुरी),
४. द्वारिकापीठ (द्वारिका),
५. कालिकापीठ (काँची)।

इन केन्द्रों की स्थापना का उद्देश्य वैदिक मान्यताओं का विस्तार था। शंकर ने इसमें "**पंचायतन पद्धति**" का नियोजन किया इस पद्धति के अनुसार पाँच देवता – (१) आदित्य, (२) अम्बिका, (३) विष्णु, (४) गणनाथ, (५) महेश्वर, को एक साथ पूजना था परन्तु उपासक के लिए छूट थी कि वह इनमें से किसी एक देवता को अपने इष्ट देव के रूप में स्वीकार कर सकता है।

शंकर का अन्य योगदान उनका साहित्य है, उन्होंने वैदिक साहित्य पर भाष्य लिखे, जिनमें बादरायण का ***ब्रह्मसूत्र*** तथा दस प्रमुख उपनिषद् विशेष उल्लेखनीय हैं। –

भगवद्गीता पर उनका भाष्य एक उत्कृष्ट रचना है। इसके अतिरिक्त काव्य रूप में अनेक रचनाएँ हैं – (१) *विवेकचूड़ामणि*, (२) *उपदेशसहस्रि* प्रमुख हैं। शंकर का भक्ति-काव्य (१) *शिवानन्दलहरी*, (२) *सौन्दर्यलहरी* तथा शंकर की सर्वप्रमुख साहित्यिक कृति – ***भजगोविन्दम् स्तोत्र*** है।

दर्शन के क्षेत्र में आचार्य शंकर का विशेष महत्त्व यह है कि उन्होंने आत्मविरोधी औपनिषदीय अवतरणों को एक अविश्रृंखल प्रणाली का रूप प्रदान किया जो वेदान्त के नाम से विख्यात हुआ। इस दर्शन का मूल ग्रन्थ *ब्रह्मसूत्र* है यद्यपि वेदान्त का आधार उपनिषद् हैं।

उन्होंने यद्यपि अपनी अनेक रहस्यपूर्ण परिकल्पनाओं को तर्कसंगत एवं सुसंगठित रूप दिया इसके लिए सत्य के द्विधा सिद्धान्त की युक्ति अपनाई।

इस युक्ति में सत्य के प्रचलित आधार पर जगत् की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई और इस प्रकार ही विकासात्मक प्रक्रिया से युक्ति प्रभावित होती रही है जैसे – सांख्य दर्शन में प्रतिपादित त्रिगुण सिद्धान्त को शंकर ने ग्रहण किया परन्तु सत्य की उच्चतम स्थिति पर समस्त प्रतीयमान विश्व, जिसमें स्वयं देवता भी सम्मिलित हैं, अवास्तविक है। जगत् एक माया, एक भ्रम, एक स्वप्न, एक मृगतृष्णा एवं कल्पना का एक कपट है, अन्ततः ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविकता है जिसे उपनिषदों में अवैयक्तिक विश्वात्मा कहा है और जिसमें व्यक्ति-रूप आत्मा का तादात्मीकरण है। अपने दर्शन का उपरोक्त सारांश शंकर ने निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है –

ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या।
जीवो ब्रह्मैव ना पराः॥

आचार्य शंकरानुसार मुक्ति की प्राप्ति इस तादात्म्य ध्यानार्जित ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। सामान्यतः ऐसी मान्यता है कि शंकर की विचारधारा उनके

द्वारा स्थापित मठों के माध्यम से उनके जीवन-काल में ही शीघ्रता से फैल गई और इस प्रकार नवीन हिन्दू धर्म के बौद्धिक चिन्तन का आधार बन गई परन्तु अपने एक आधुनिक लेख में इरफ़ान हबीब इस मत से असहमत हैं उनका कहना है कि अलबिरुनी (ईस्वी सन् १०३०) जिसने संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया तथा जिसका सम्पर्क ब्राह्मण विद्वानों से था। शंकराचार्य तथा वेदान्त दर्शन का कोई उल्लेख नहीं किया उनके अनुसार शंकर की विचारधारा धीरे-धीरे फैली परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि सत्रहवीं शताब्दी तक वह एक विस्तृत रूप धारण कर चुकी थी। वेदान्त आज भी बौद्धिक हिन्दू धर्म के प्रमाणिक दर्शन के रूप में जीवित है।

श्रीमद्भगवत्पाद आदिगुरु शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में आदि-शक्ति श्रीमहामाया एवं शुद्ध अध्यात्म विद्या का तात्त्विक, यौगिक एवं प्राकृतिक रूप का रसयुक्त, भक्तिपूर्ण एवं मनोहारी वर्णन किया है। जगत्गुरु शंकराचार्यजी ने अनेकों धार्मिक ग्रन्थों की रचना की है परन्तु उन समस्त ग्रन्थों के मध्य एवं अन्य समस्त तात्त्विक एवं धार्मिक ग्रन्थों में *सौन्दर्यलहरी* का प्रमुख स्थान है।

सौन्दर्यलहरी प्रमुखतः दो भागों में विभाजित है। प्रथम-भाग "आनन्दलहरी" एवं उत्तर-भाग "सौन्दर्यलहरी" है परन्तु दोनों का मिश्रित नाम *सौन्दर्यलहरी* ही दिया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में १०३ श्लोकों का समावेश है, जिनमें से पूर्व-भाग "आनन्दलहरी" के अन्तर्गत ४१ श्लोकों का समावेश है। इस "आनन्दलहरी" के माध्यम से आदिगुरु शंकराचार्यजी ने अध्यात्म पक्ष को बड़े ही सरलतम शब्दों में समझाया है।

सौन्दर्यलहरी के पूर्वार्द्ध भाग "आनन्दलहरी" के अन्तर्गत शंकराचार्य का अध्यात्म पक्ष सबल है। यहाँ तन्त्र का विवेचन है। इस विवेचन में शिव-शक्ति मिलन के जो बिन्दु हैं वे चक्रों के नाम से जाने जाते है। आचार्य ने आनन्दलहरी के ३६-४१वें श्लोक तक षट्चक्रों का वर्णन किया है। भारतीय मनीषा का यह एक अद्भुत मणिरत्न है जिसके प्रयोग से मनुष्य ऋषि बनता है, आत्मस्वामी बनता है यह ध्यान की क्रिया का एक वैज्ञानिक प्रस्थान है जिससे हम अपनी अन्तःवृत्तियों पर विजय पाते हैं तथा शक्ति अर्जन करते हैं। इनका विशेष विवेचन हम द्वितीय अध्याय मे करेंगें। "आनन्दलहरी" के इस भाग में शंकराचार्यजी ने (१) शिव-शक्ति, (२) शक्ति का लहरी रूप, (३) ज्ञान के पूर्व योग और उपासना की आवश्यकता, (४) ज्ञान-योग और भाव-योग, (५) बीजयन्त्र द्वारा ब्रह्मोपासना, (६) स्पन्द की शक्ति, (७) हिरण्यगर्भ, (८) श्रीविद्या : उसका आधार वेद-वेदान्त, (९) श्रीचक्र, अणु-कारण,

प्रधान कारण और विवर्त्तवाद, विद्या और अविद्या, भय का मूल कारण, महामाया का मोहिनी रूप, भगवती का सौन्दर्य कल्पनातीत है, वाक्-सिद्धि हादि-कादि विद्याओं के रूप, अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान का उदय, तीन प्रकार का पूजन, शिव-शक्ति का अंगी और अंगवत् सम्बन्ध, अर्धनारीश्वर सदाख्य तत्त्व का ध्यान, गुरु-शिष्य सम्बन्ध और श्रद्धा जैसे गूढ़ तात्त्विक विषयों पर सघन दृष्टिपात किया है।

तत्त्व-ज्ञान

शंकराचार्यजी के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* का पूर्वार्द्ध भाग "आनन्दलहरी" मुख्यतया अध्यात्म पर आधारित है। "आनन्दलहरी" में तत्त्व-ज्ञान पर अत्यधिक बल दिया गया है। शंकराचार्य के अनुसार तत्त्व-ज्ञान के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। तत्त्व-ज्ञान की महत्ता पर आधारित वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती की *ब्रह्मणिका* नामक पुस्तक से संग्रहीत श्लोक निम्नवत् है –

तत्त्वज्ञानेन् मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम्॥
तत्त्व देवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्॥
– *सौन्दर्यलहरी*, विष्णुतीर्थकृत भाषाटीका, पृष्ठ ६, ७

अर्थात् – तत्त्व-ज्ञान से ही माया का बोध होता है, अन्य कर्म से नहीं। जो ज्ञान वेदान्त के महावाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीवात्मा के एकत्व की अनुभूति कराता है वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से और गुरु के साक्षात् निरीक्षण अथवा वचन से शक्तिपात द्वारा अधिकारियों में प्रकाशित होता है।

गीता (अध्याय ४, श्लोक ३८) में इसी को स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी ने कहा है –

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।

अर्थात् – वह (ज्ञान) – योग-सिद्धि को यथा-समय अपने अन्दर में ही स्वयं मिलता है।

ज्ञान-पूर्व-योग और उपासना की आवश्यकता

आदिगुरु शंकराचार्य ने ज्ञान-पूर्व-योग और उपासना की आवश्यकता पर भी बल दिया है। आधुनिक वेदान्तवादियों में प्रायः देखने में आता है कि वे योग

और उपासना की अवहेलना करते हैं और केवल महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन मात्र अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हेतु पर्याप्त समझते हैं। इसके निवारण हेतु – **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** *ब्रह्मसूत्र* के इस प्रथम सूत्र के भाष्य में "अथ" शब्द पर भाष्यकार श्रीमत् शंकराचार्य लिखते हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा के उपदेश के पहले कुछ साधन भी तो आवश्यक होना चाहिए जो "अथ" शब्द से निर्दिष्ट है। वह क्या है? वह है नित्यानित्य विवेक, इह और परलोकों के भोगों से वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की षट सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। *व्यासभाष्य* में विवेक को ही अभ्यास बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण की *भगवद्गीता* (६, ३५) में भी कुछ ऐसा ही उपदेश किया गया है –

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

अर्थात् – अभ्यास और वैराग्य के साथ-साथ ईश्वर प्रणिधान भी आवश्यक है।

सौन्दर्यलहरी के पूर्व-भाग "आनन्दलहरी" के अन्तर्गत आदिगुरु शंकराचार्यजी ने "शिव-शक्ति उपासना" को भी स्पष्ट किया है। शंकराचार्य के अनुसार शिव का स्वरूप परब्रह्म है। जो कि प्रकृति सहित समस्त तत्त्वों का लय स्थान है। इसीलिए वे सदैव ही समाधिस्थ दिखाई पड़ते हैं। शक्ति वस्तुतः ज्ञानाग्नि का रूप है जिसे अर्जित करने पर शक्ति मनुष्य के समस्त ही शुभाशुभ कर्मों को भस्म करके सभी तत्त्वों को अपने-अपने कारण में लीन करती हुई साधक को सर्वकारणभूत परब्रह्म में लीन कर देती है। वस्तुतः वही चिति-शक्ति है, वही प्राण-शक्ति है, वही इच्छा, क्रिया और ज्ञान-शक्ति है। उसी शक्ति के जाग्रत् होने पर वह मनुष्य के रजो-गुणों को दबाकर समस्त पाशविक वृत्तियों का संहार करती हुई शिव-सायुज्य पदवी देती है। इसी कारण देवी पर पशु-बलि चढ़ाने की प्रवृत्ति (प्रथा) सी चल गई। वास्तव में मनुष्य अपने अन्दर के पाशविक भावों की बलि न देकर वह हिंसा करके शिव-शक्ति अर्थात् महामाया (देवी) को सन्तुष्ट करना चाहते हैं।

उपर्युक्त सन्दर्भ में ही *श्रीदुर्गासप्तशती* का यह श्लोक भी है –

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥

– *श्री दुर्गासप्तशती*, पञ्चमोऽध्याय; श्लोक १७, १८

अर्थात् – जो देवी समस्त भूतों में चेतना रूप में विराजमान है उन्हें नमस्कार है अर्थात् देवी प्रत्येक चेतन जीव में विराजमान है। अतः स्पष्ट है कि किसी भी जीव की हिंसा करना भगवती देवी महामाया के ही स्वरूप की हिंसा करना है।

शिव-शक्ति

आदिगुरु शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* का प्रारम्भ शिव-शक्ति (महामाया) की स्तुति-युक्त श्लोक से किया है, जिसे टीकाकारों ने मंगलाचरण कहा है –

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १, पृष्ठ १

अर्थात् – शिव-शक्ति से युक्त होकर भी सृष्टि करने को शक्तिमान होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने के योग्य भी नहीं होता। इसीलिए हरिहर और ब्रह्मा आदि की भी आराध्या देवी को प्रणाम करने अथवा स्तुति करने की सामर्थ्य किसी भी पुण्यहीन मनुष्य में कैसे हो सकती है?

श्रीचक्र

सौन्दर्यलहरी के पूर्वार्द्ध में (आनन्दलहरी में) आदिगुरु शंकराचार्य के द्वारा श्रीचक्र का भी स्पष्टीकरण किया गया है। आदिगुरु शंकराचार्य के अनुसार श्रीविद्या (महामाया) का निवास अर्थात् उनका स्थूल शरीर ही श्रीचक्र है। इसी कारण श्रीचक्र ब्रह्माण्ड का प्रतीक है और मनुष्य-देह भी श्रीचक्र ही है। श्रीचक्र में चार शिव-कोण और पाँच शक्ति-कोण होते हैं जैसाकि *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक ११ से स्पष्ट होता है। –

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि,
प्रभिन्नाभिः शम्भोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।
चतुश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्रत्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरण (भवन) कोणाः परिणताः॥

– पृष्ठ १२८

अर्थात् – चार श्रीकण्ठ और पाँच शिवयुवतियाँ इन ६ मूल प्रकृतियों से तेरे रहने के लिए ४३ त्रिकोण बनते हैं जो शम्भु के बिन्दु-स्थान से भिन्न हैं। वे तीन रेखाओं सहित ८ और १६ दलों से युक्त हैं।

श्रीचक्र को बताने के पश्चात् आदिगुरु शंकराचार्य देवी के माहात्म्य को बताते हुए कहते हैं कि देवी भगवती की उपासना मुमुक्षुओं के अज्ञान का नाश करती है और सकाम उपासकों की सब कामनाएं पूर्ण करती है अर्थात् देवी भगवती भुक्ति एवं मुक्ति दोनों ही प्रदान करने वाली है।

शंकराचार्य ने विद्या एवं अविद्या को भी स्पष्ट किया है। *मुण्डकोपनिषद्* में परा एवं अपरा नाम की दो विधाओं का प्रतिपादन किया गया है जो कि आदिगुरु को भी मान्य है। *मुण्डकोपनिषद्* के अनुसार – *ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद* एवं उनके छः वेदाङ्गों में – शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त सभी को अपरा-विद्या के अन्तर्गत माना गया है। जबकि जिस विद्या के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है उसे परा-विद्या से सम्बोधित करते हैं।

आनन्दलहरी में भगवान् विष्णु के मोहिनी रूप का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि भगवान् विष्णु ने देवी की कृपा पाकर ही देवी का मनमोहिनी (विश्वमोहिनी) रूप धारण किया था। जैसाकि आनन्दलहरी के श्लोक पाँच (५) से स्पष्ट होता है –

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं,
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा,
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥

– पृष्ठ ७७

अर्थात् – श्रीहरि ने (भगवान् विष्णु ने) पूर्वकाल में, प्रणतजनों को सौभाग्य प्रदान करने वाली, तेरी आराधना करके नारी का मोहिनी रूप धारण कर, त्रिपुरारि महादेव के भी चित्त में काम का क्षोभ उत्पन्न कर दिया था और कामदेव स्मर भी तुमको नमन करने के कारण ही अपनी पत्नी रति के नयनों द्वारा चुम्बन किये जाने वाले शरीर से बड़े-बड़े मुनियों के भी अन्तःकरण में मोह उत्पन्न कर देता है।

आनन्दलहरी में काम-दहन-आख्यान का भी वर्णन आचार्य शंकर ने किया है। जिसका परिचय निम्नवत् है –

प्रस्तुत आख्यान में उस समय का वर्णन है जबकि भगवान् शंकर ने

अपनी तपस्या भंग होते देख अपने तृतीय नेत्र की ज्ञानाग्नि के द्वारा कामदेव को भस्म कर दिया था। तभी से कामदेव अनंग है। यह आख्यान उस समय का है जब दक्ष प्रजापति के यज्ञ में अपने पति का अपमान सहन न करने के कारण सती ने योगाग्नि से अपनी देह भस्म कर दी थी।

सती के देह त्याग कर देने पर शंकर भगवान् दीर्घकालीन समाधि लगाकर बैठ गए। उधर सती ने हिमालय के घर में उनकी पुत्री पार्वती के रूप में जन्म लिया। कुछ समय पश्चात् आयु के बढ़ने के साथ ही पार्वती ने शिवजी के साथ विवाह करने की हठ की। साथ ही वे तप भी करने लगी। तब देवताओं ने कामदेव को शिवजी को समाधि से जगाने (उठाने) हेतु भेजा। कामदेव देवताओं की आज्ञा से उपयुक्त सशस्त्र सेना लेकर शिवजी के स्थान पर पहुँच गए, उन्होंने वहाँ बसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव कर दिया। मलयगिरि पर शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु चलने लगी। पुष्प खिल उठे जिन पर भँवरे गुंजन करने लगे। तदनन्तर कामदेव ने अपने पाँचों बाणों के द्वारा शिवजी पर प्रहार किया जिसके प्रभाव से शिवजी की समाधि खुल गई। समाधि खुलने पर शिवजी ने अपने सामने झुरमुट में कामदेव को छिपा देखा। उन्होंने कामदेव को अपनी समाधि में विघ्न-रूप जानकर अपना तीसरा ज्ञान-नेत्र खोलकर ज्ञानाग्नि से उसे भस्म कर दिया। तभी से कामदेव अनंग हो गए। जब कामदेव की पत्नी रति ने अपनी विपत्ति पार्वती को बताई तो उन्होंने अपनी कृपा-दृष्टि से पुनः कामदेव को जीवित कर दिया। इस प्रकार अब कामदेव अनंग होने पर भी कामीजनों को अपने प्रभाव से पराजित करके विश्व-विजेता कहलाते हैं।

काम-दहन-आख्यान के पश्चात् आनन्दलहरी में भगवती देवी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। आदिगुरु शंकराचार्य के अनुसार देवी का स्वरूप (सौन्दर्य) कल्पनातीत है। अर्थात् देवी सौन्दर्य मनुष्यों की कल्पनाओं से भी परे हैं। महामाया देवी भगवती का सौन्दर्य कवियों की कल्पना के बाहर का विषय है अर्थात् देवी का सौन्दर्य इतना अधिक है कि वहाँ तक कवियों की कल्पनाओं की भी पहुँच नहीं है। यही भाव *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक से भी स्पष्ट होता है –

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्राः कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चिप्रभृतयः।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम्॥

– श्लोक १२, पृष्ठ १४६

अर्थात् – हे हिमगिरि सुते! तेरे सौन्दर्य की तुलना करने को ब्रह्मा प्रभृति कवीन्द्र भी कुछ-कुछ कल्पना किया करते हैं। तेरे सौन्दर्य को देखकर स्वर्ग की अप्सराएँ ध्यानस्थ हो जाती हैं और अनेक तपस्याओं से भी कठिनता से प्राप्त होने वाली शिव-सायुज्य पदवी को सहज प्राप्त कर लेती हैं।

यहाँ उपर्युक्त श्लोक के माध्यम से देवी के सौन्दर्य को अद्वितीय बताया गया है। यहाँ देवी का सौन्दर्य, सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। जिसके वर्णन की जगत्कर्त्ता ब्रह्मा भी कल्पना किया करते हैं। इसीलिए जब वे देवी-स्वरूप की कुछ-कुछ कल्पना मात्र ही कर पाते हैं तो अन्यों की क्या बात? यदि अप्सराओं को कहा जाए तो वे देवी-स्वरूप को देखते-देखते इतनी मग्न हो जाती हैं कि उनकी तो समाधि ही लग जाती है। तो अन्यों में इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि वे देवी-स्वरूप का वर्णन अथवा कल्पना करें। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो भी देवी के सौन्दर्य की कल्पना करने का प्रयास करे तो उसकी समाधि लग सकती है।

देवी के स्वरूप को कल्पनातीत बताने के पश्चात् आनन्दलहरी के अन्तर्गत देवी के उस मोहिनी रूप का वर्णन आता है जिसे भगवान् विष्णु ने देवता और दानवों के मध्य हो रहे विवाद को सुलझाने हेतु किया था।

वस्तुतः कामदेव सभी प्रकार के मोहों का राजा है जिससे कि बड़े-बड़े ज्ञानी एवं तपस्वी भी अछूते नहीं रहे। स्वयं भगवान् शंकर भी कामदेव के प्रभाव से नहीं बच सके। अतः कामदेव से अर्थात् काम-वासना से बचने के लिए सभी मनुष्यों (मुमुक्षुओं) के पास मात्र एक ही मार्ग शेष रहता है वह है महामाया देवी भगवती के श्री-चरणों की शरण में जाना। यही बात शंकराचार्य के श्लोकों से भी स्पष्ट है जो कि निम्नवत् है –

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा,
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ५, पृष्ठ ७७

अर्थात् – हरि (भगवान् विष्णु) ने पूर्व काल में, प्रणत जनों को सौभाग्य प्रदान करने वाली तेरी आराधना करके नारी का मोहिनी रूप धारण कर, त्रिपुरारि महादेव के भी चित्त में काम का क्षोभ उत्पन्न कर दिया था और कामदेव स्मर भी तुझको नमन करने के कारण ही अपनी पत्नी रति के नयनों में मोह उत्पन्न कर देता है।

इसके पश्चात् "कायसम्पत्-सिद्धि" का वर्णन आता है। जिसके अन्तर्गत कुण्डलिनी शक्ति के जागरणोपरान्त अमृत-सिंचन स्वरूप भगवती की कृपा से काया-कल्प हो जाता है। अर्थात् वृद्ध मनुष्य भी युवा हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण शंकराचार्य के ग्रन्थ के इस श्लोक से हो जाता है जो कि निम्नवत् है –

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं,
तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः।
गलद्वेणीबन्धाः कुचकलशविस्रस्तसिचया,
हठात् त्रुटयत्काञ्च्यो विगलितदुकूला युवतयः॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक १३, पृष्ठ १५३

कुण्डलिनी शक्ति के जागरणोपरान्त कायापलट हो जाती है। अर्थात् शरीर वज्रवत् सुगठित हो जाता है, रूप, लावण्य एवं बल में वृद्धि हो जाती है। वास्तव में रूप-लावण्य, बल और शरीर का वज्रवत् सुगठित होना ही कार्यसम्पत् है। प्रत्येक नाड़ी में अमृत का संचार हो जाने का फल ही कायसम्पत् है।

यहाँ तक कुण्डलिनी जागरण एवं कार्यसम्पत् सिद्धि को स्पष्ट किया गया है। इसके अन्तर *सौन्दर्यलहरी* में "वाक्-सिद्धि" पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है। "वाक्-सिद्धि" में भी कुण्डलिनी शक्ति के जागरण की बात कही गई है। शंकराचार्य के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति के जागरणोपरान्त ही वाक्-सिद्धि सम्भव है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जो सरस्वती देवी का ध्यान नहीं करेगा उसकी "वाक्-सिद्धि" सम्भव नहीं है, वह कविता करने में भी समर्थ नहीं हो सकता है। जैसाकि *योगशिखोपनिषद्* के प्रस्तुत श्लोकों से स्पष्ट होता है –

सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि॥

सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया॥

य इमां वैखरीं शक्तिं योगी स्वात्मनि पश्यति।
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः॥
– तृतीय अध्याय, श्लोक ७, ८, १०, पृष्ठ ४०२

अर्थात् – वाक्यात्मक मन्त्र, वेद, शास्त्र, पुराण और काव्य विविध भाषाएँ सातों स्वर और गाथाएँ सभी नाद से ही उत्पन्न होती हैं। नादरूपा

सरस्वती देवी सभी प्राणियों की बुद्धि-रूपी गुहा में रहती है। जो योगी इस वैखरी शक्ति को अपने भीतर में देख लेता है अर्थात् उसे अपने अन्दर जाग्रत् कर लेता है उसे सरस्वती के प्रभाव से (प्रसाद से) "वाक्-सिद्धि" की प्राप्ति हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति जागकर चार रूपों में प्रकट होती है। उन रूपों के नाम क्रमशः क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी हैं। शारीरिक कम्पादि, हठ-योग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नृत्यादि क्रियाओं में क्रियावती का रूप है। ३६ तत्त्वों के व्यतिरेक और शुद्धि की क्रियाओं में कलावती का रूप है। वर्णात्मिका सरस्वती मन्त्रमयी है और षट्-चक्र का वेध वेधमयी करती है। वर्णमयी सरस्वती का रूप ही समस्त शब्दमय जगत् को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी – इन चारों स्तरों पर धारण किए हुए है।

इसके अतिरिक्त ही वाक्-देवी के ध्यान की महत्ता को बताते हुए आगे शंकराचार्य प्रस्तुत श्लोक की रचना करते हैं –

सावित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिलाभंगरुचिभि-
र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति यः।
स कर्ता काव्यानां भवति महतां भंगि सुभगै (रुचिभिर्-)
वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १७, विष्णुतीर्थकृत भाषा टीका

अर्थात् – वाशिनी आदि सावित्रियों सहित, जो चन्द्रकान्त मणि की शिला गढ़ी हुई मूर्तियों की शोभा वाली है, हे जननी! जो मनुष्य तेरा ध्यान करता है वह उच्च कोटि के काव्यों की रचना करने लगता है। उसकी सुन्दर कविता वाग्देवी के मुख-कमल के आमोदपूर्ण माधुर्य से युक्त होती है।

"वाक्-सिद्धि" के अनन्तर शंकराचार्य ने आनन्दलहरी में "मधुमती भूमिका" की सिद्धि का उपाय भी बताया है। इसके अनुसार जो अपनी समस्त कुण्डलिनी आदि शक्तियों को जाग्रत् कर ध्यान में मग्न होकर मधुमती की आराधना करता है उसे उसकी साधना से, तपस्या से, कोई भी विरक्त नहीं कर सकता। अपितु जो भी देवांगनाएं अथवा अप्सराएं उसे पथ-भ्रष्ट करने की चेष्टा करती हैं वे सभी उसके वश में हो जाती हैं। इस प्रकार महामाया देवी की साधना में साधक को कोई भी डिगा नहीं सकता है, अपितु साधक को समस्त ब्रह्माण्ड महादेवीमय ही दिखाई पड़ने लगता है। जहाँ काम-वासना हेतु कोई भी स्थान शेष नहीं रह जाता है।

आनन्दलहरी में यहाँ तक वाक्-सिद्धि एवं मधुमती भूमिका की व्याख्या के अनन्तर ही अब "अहं ब्रह्मास्मि" ज्ञान के उदय के बारे में बताया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि पूर्वोक्त कुण्डलिनी आदि-शक्ति को जिन्होंने जगा लिया है वही केवल "महावाक्यों" के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। यही भाव *सौन्दर्यलहरी* के प्रस्तुत श्लोक से भी व्यक्त होता है –

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं,
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजितपदाम्॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक २२, विष्णुतीर्थकृत भाषा टीका

अर्थात् – "हे भवानी! तू मुझ दास पर भी अपनी करुणामयी दृष्टि डाल", इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय "भवानि त्वं" (मैं तू हो जाऊँ) इस पद का ही उच्चारण कर पाता है कि उसी समय तू उसे निज सायुज्य पद प्रदान कर देती है, जिस पद की ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी अपने मुकुटों के प्रकाश से आरती उतारा करते हैं। (अर्थात् प्रणाम किया करते हैं।)

यहाँ "अहं ब्रह्मास्मि" वह अवस्था है जहाँ उपासक एवं उपास्य में कोई भी भेद नहीं रह जाता है। यहाँ "अहं ब्रह्मास्मि" ज्ञान से साथ ही प्रज्ञानं ब्रह्मं, "अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि" और "अयमात्म ब्रह्म" जो क्रमशः *ऋग्, यजुर, साम* और *अथर्व* वेदों के ये चार महावाक्य जीवब्रह्मैक्य का लक्ष्य कराते हैं यह भी स्पष्ट किया गया है। यहाँ गुरु की महत्ता भी बताई गई है। यह स्पष्ट भी किया गया है कि "अहं ब्रह्मास्मि" आदि चारों महावाक्यों के ज्ञान हेतु गुरु का सानिध्य आवश्यक है। (गुरु की कृपा (ज्ञान) आवश्यक है) क्योंकि गुरु ही पहले प्रज्ञानात्मा का स्वरूप दिखाता है। तदनन्तर यह उपदेश करता है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है और वह तू है। इस प्रकार शिष्य को स्वयं के अभ्यास एवं गुरु के उपदेश द्वारा ही "अहं ब्रह्मास्मि" का ज्ञान सम्भव होता है। सर्वप्रथम महाशक्ति (महामाया) देवी सती की अनुकम्पा का होना अति आवश्यक है क्योंकि सभी के मूल में यही शिव-शक्ति विराजमान है।

परन्तु उपर्युक्त कहे गए वक्तव्य से भिन्न शंकर भगवत्पाद इस श्लोक (भवनि त्वं . . .) में कहते हैं कि जाने अथवा अनजाने भगवती की स्तुति करते समय जो कोई भी इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के "भवानि त्वं" इतने ही पद का उच्चारण मात्र कर पाता है, तो भगवती उसे सायुज्य मोक्ष दे देती

है। क्योंकि "भवानि त्वं" पद का यह भी अर्थ होता है कि "मैं तू बन जाऊँ"। इसीलिए भगवती यह मानकर कि "यह मेरा भक्त मुझमें लीन होकर मेरे सायुज्य पद की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है", – "दासे मयि" इत्यादि उच्चारण करने से पूर्व ही उसे सायुज्य मुक्ति प्रदान कर देती है। इसके अनन्तर *सौन्दर्यलहरी* पूर्वार्द्ध भाग में "अर्धनारीश्वर" सदाख्य तत्त्व के ध्यान का विवेचन किया गया है। आचार्य शंकर का प्रस्तुत श्लोक इसी को स्पष्ट करता है –

त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसा,
शरीरार्धं शम्भोरपरमपि शङ्के हृतमभूत्।
यदेतत् (तथाहि) त्वद्रूपं सकलमरुणाभं त्रिनयनं,
कुचाभ्यामानम्रं कुटिलशशिचूडालमकुटम्॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक २३, पृष्ठ २३७

अर्थात् – हे भगवती! शम्भु का वामांग हरण करके भी तेरा मन तृप्त नहीं हुआ। मुझे शङ्का होती है कि दूसरे आधे शरीर का भी अपहरण कर लिया गया है, क्योंकि वह सारा शरीर अरुण वर्ण की आभा से तेरा ही दिख पड़ता है, उसमें तीन नेत्र हैं, वह कुचों के भार से कुछ झुका हुआ है और द्वितीया का चन्द्र केशों के ऊपर मुकुट पर शोभा दे रहा है।

उपर्युक्त श्लोक में छिपा हुआ जो तत्त्व है वह यह है कि अर्धनारीश्वर शक्ति-तत्त्व की इतनी अधिक प्रबलता (प्रधानता) हो गई है कि उसमें से शिव-तत्त्व को जान पाना अत्यधिक कठिन है। वास्तव में शिव-तत्त्व एवं शक्ति-तत्त्व भिन्न हैं ही नहीं, वे दोनों एक ही हैं।

यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि भगवती देवी की शक्ति से केवल शिव ही प्रभावित नहीं होते हैं अपितु समस्त देवता देवी की ही शक्ति से प्रेरणा एवं कार्य करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। यह भी स्पष्ट किया गया है कि देवी के स्मरण से ही समस्त देवताओं का स्मरण हो जाता है एवं उन्हीं के पूजन से समस्त देवताओं की पूजा भी हो जाती है। यहाँ आनन्दलहरी के अन्तर्गत आचार्य शंकर ने यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्मा सृष्टि की रचना करते हैं जबकि विष्णु सृष्टि-पालक हैं एवं प्रलय के समय रुद्र सृष्टि का संहार करते हैं पुनः ये तीनों देव महेश्वर तत्त्व में लीन हो जाते हैं। महेश्वर भी बीज-रूप में सदाशिव में लीन हो जाते हैं। प्रलय होने पर भी सृष्टि की बीज-शक्ति सदाशिव में बनी रहती है। उसी के द्वारा पुनः प्रलय के बाद सदाशिव सृष्टि की रचना

एवं ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश सभी को नवजीवन प्रदान करते हैं। प्रभव एवं प्रलय दोनों शक्ति के ही कार्य हैं। अतः भगवती देवी की ही प्रेरणा से (शक्ति से) ये दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं। इसी कारण यह कहा गया है कि देवी के पूजन से ही समस्त देवताओं की पूजा हो जाती है क्योंकि सभी देवतागण इन्हीं की शक्ति से ही शक्ति-सम्पन्न होते हैं। महामाया शक्ति के अस्तित्व से ही इन देवों का भी अस्तित्व है। यद्यपि सदाशिव को माया का स्वामी कहा गया है, परन्तु महामाया (शक्ति) का प्रभुत्व इतना अधिक है कि सदाशिव होकर उसी से शक्ति लेकर, माया का सहारा लेकर ही सृष्टि करने को प्रेरित होता है। यही बात *गीता* के प्रस्तुत श्लोक से भी स्पष्ट होती है –

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
– अध्याय ९, श्लोक ८

अर्थात् – अपनी प्रकृति को अङ्गीकार करके स्वभाव के बल से परतन्त्र हुये सम्पूर्ण भूतसमुदाय को बार-बार उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ।

सौन्दर्यलहरी के पूर्वार्द्ध आनन्दलहरी में "पूजन के प्रकारों" की शंकराचार्य ने व्याख्या की है जिसके अन्तर्गत उन्होंने प्रमुखतया पूजन के तीन प्रकारों का स्पष्टीकरण किया है जो कि निम्नवत् हैं –

यहाँ (*सौन्दर्यलहरी* में) पूजन के अधिकारियों के आधार पर पूजा तीन प्रकार की बताई गई है। तीन प्रकार के अधिकारी "अधम अधिकारी" जिनके हेतु मूर्ति-पूजा (यन्त्र इत्यादि के द्वारा) जो कि बाह्य भावनायुक्त पूजा की श्रेणी में आती है, द्वितीय मध्यम अधिकारी जिनके लिए अन्तर्भावना अर्थात् अन्तर्याग साधन इत्यादि ही पूजा के साधन हैं अर्थात् जो साधक कुछ-कुछ ब्रह्म के निकट हों परन्तु जिसमें पूर्णतः "अहं" के भाव की समाप्ति न हुई हो वे मध्यम अधिकारी की श्रेणी में आ जाते हैं। तीसरे वे हैं जो कि अपनी बुद्धि एवं साधना के आधार पर "उत्तम पूजा" के अधिकारी हो जाते हैं। इन तीनों ही अधिकारियों की पूजाओं को क्रमशः अपरा-पूजा, पराऽपरा-पूजा और परा-पूजा कहते हैं। इनमें से परा-पूजा वस्तुतः साधक की साधना की पराकाष्ठा है। परा पूजा तक साधक तभी पहुँचता है (उसका अधिकारी उसी समय बनता है) जबकि जीव ब्रह्म में कोई भी भेद नहीं रहता है। परा-पूजा का सार आचार्य शंकराचार्य की *सौन्दर्यलहरी* के प्रस्तुत श्लोक में भी स्पष्ट हो रहा है –

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना,
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा,
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥
— *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक २७, पृष्ठ २६२

अर्थात् — एक ज्ञान-योगी के लिए जो कि जीव-ब्रह्मैक्य तक पहुँच गया है जो स्वयं के अस्तित्व को भूल चुका है उस ज्ञान-योगी का — बोलना मन्त्रों के जप सदृश, कर्मकाण्ड समस्त मुद्राओं की विरचना के समान, चलना-फिरना प्रदक्षिणा सदृश, खाना-पीना आहुति के समान, सोना प्रणाम सदृश, समस्त सुखों के उपभोग में आत्मसमर्पण की दृष्टि अर्थात् जो भी मेरा विलास, सब कुछ तेरी पूजा-पद्धति का क्रम हो। अतः ज्ञान-योगी इस प्रकार की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है।

आनन्दलहरी में आचार्य शंकराचार्य ने "शिव-शक्ति" का अंगी एवं अंगवत सम्बन्ध की व्याख्या की है। जोकि *सौन्दर्यलहरी* के प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट होता है —

शरीरं त्वं शम्भोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं
तवात्मानं मन्ये भगवति नवात्मानमनघम्।
अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया
स्थितः सम्बन्धो वां समरसपरानन्दपरयोः॥
— *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ३४, पृष्ठ ३०४

अर्थात् — हे भगवती! मैं ऐसा समझता हूँ कि तू शम्भू का शरीर है जिसके वक्ष-स्थल पर सूर्य और चन्द्र दो स्तन उभरे हुए हैं और तेरी आत्मा समस्त संसार की आत्मा-शंकर अथवा नवात्मा-शंकर है। इसीलिए तुम दोनों में परा-शक्ति और आनन्द का एक समरस होने के कारण शेष और शेषीवत् सम्बन्ध स्थित हैं।

यहाँ शिव-शक्ति के अंग-अंगीवत् सम्बन्ध की व्याख्या के अनन्तर *सौन्दर्यलहरी* में समस्त जगत् को शक्ति का परिणाम बताया गया है। *सौन्दर्यलहरी* में शंकराचार्य के मतानुसार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की भावना का प्राकट्य हो रहा है। *दुर्गासप्तशती* के प्रस्तुत श्लोक से भी यही भाव प्रकट होता है कि समस्त संसार शक्ति (महामाया) का ही स्वरूप है —

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥
— *दुर्गासप्तशती,* पञ्चम अध्याय, श्लोक ७८-८०

अर्थात् — जो देवी चैतन्य रूप से इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है, उनको नमस्कार, उनको नमस्कार। उनको बारम्बार नमस्कार है।

यही भाव शंकराचार्य की *सौन्दर्यलहरी* के निम्नलिखित श्लोक से भी प्रकट हो रहा है —

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि,
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा,
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥
— *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ३५, पृष्ठ ३४९

अर्थात् — हे शिवयुवती! तू मन है, तू वायु है और वायु जिसका सारथि है — वह अग्नि भी तू है। तू जल है और तू भूमि है। तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं है। अर्थात् सारा विश्व तेरे परिणाम का ही रूप है। तूने ही अपने आपको परिणत कराने के लिये चिदानन्दाकार को विराट् देह के भाव द्वारा व्यक्त किया हुआ है। इस प्रकार शंकराचार्य ने सम्पूर्ण जगत् का कारण माया (महामाया) देवी भगवती को ही बताया है। यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उन्हीं से शक्ति प्राप्त कर सृष्टि करने में सक्षम होते हैं। महामाया की शक्ति के बिना सृष्टि-रचना सम्भव नहीं हो सकती है।

"सर्वं खल्विदं" के साथ ही आनन्दलहरी में ब्रह्म-भाव का भी विवेचन किया गया है। यहाँ शंकराचार्य देवी के शरीर से ही प्रकट होने वाली शक्तियों के अन्तर्गत अणिमा आदि शक्तियों की स्थिति मानते हैं। ऐसे देवता की भावना परम महनीय है। महान् प्रलय के समय भी प्रकट होने वाली वह्नि उस देवता की नीराजना की विधि बनती है। यह उस परम देवता का उल्लेखनीय वैभव है। इस प्रकार देवी को इतने निकट से जानने वाला योगी (साधक) ही "अहं ब्रह्मास्मि" तक पहुँचने में सफल हो सकता है।

शंकराचार्य ने प्रमुख चौंसठ तन्त्रों से भिन्न देवी के स्वतन्त्र तन्त्र की स्थापना की है। यहाँ शंकराचार्य ने यह बताया है कि, जिस साधक को देवी की असीम अनुकम्पा प्राप्त होती है वह शैव परम्परा के पूर्व स्थापित

चौंसठ तन्त्रों के जाल में न फँसकर एक स्वतन्त्र तन्त्र के प्रकाश से आनन्दित होता है।

सौन्दर्यलहरी के पूर्वार्द्ध में हादि-कादि विद्याओं का वर्णन किया गया है। आचार्य ने श्लोकों के माध्यम से स्पष्ट किया है कि –

शिव-शक्ति, काम, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, स्मर, हंस, परा, मार, हरि इत्यादि हृतलेखा के तीन भागों के सहित देवी के भक्त विविध प्रकारेण इन्हें उन परा-देवता के अक्षांश के रूप में स्मरण करते हैं। साथ ही यह भी कहा है कि जो साधक निरवधि स्वरूप वाले महाभोग में अभिरुचि रखते हैं वे मूल रूप में स्मर, योनि और लक्ष्मी नामक त्रितय को एक नित्य आधार पर स्थापित करते हैं। वे अक्षमाला को हाथ में लेकर चिन्तामणि के समान तुम्हारे गुणों का स्मरण करते हुए सुगन्धित घृत धाराओं वाली सैंकड़ों आहुतियों के द्वारा शिवाग्नि में तुम्हारे स्वरूप का हवन करते हैं। यहाँ तक हादि-कादि विद्याओं का वर्णन किया गया है।

शंकराचार्य ने प्रायः देवी श्रीचक्र में स्थित समस्त चक्रों – आज्ञा चक्र, विशुद्ध चक्र, हृदय-कमल, स्वाधिष्ठान चक्र एवं मूलाधार चक्र सभी पर स्तुतिपरक प्रकाश डाला है। यहाँ सर्वप्रथम आचार्य *सौन्दर्यलहरी* में देवी के आज्ञा चक्र का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं –

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरा लोकेऽलोके निवसति हि भालोकभुवने॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ३६, पृष्ठ ३५७

अर्थात् – (हे देवी!) तेरे आज्ञा चक्र में स्थित करोड़ों सूर्य-चन्द्र के तेज से युक्त परशिव की वन्दना करता हूँ जिसका वाम पार्श्व पराचिति से एकीभूत है। उसकी जो मनुष्य भक्ति-पूर्वक आराधना करते हैं, वे उस प्रकाशवान लोक में निवास करते हैं जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि का विषय नहीं है अथवा सब आतंकों से मुक्त है अथवा सूर्य, चन्द्र और अग्नि का विषय न होने के कारण उनके प्रकाश से प्रकाशित नहीं है।

यहाँ प्रस्तुत श्लोक से यह अर्थ निकल रहा है कि – देवी के आज्ञा चक्र में स्थित सूर्य, चन्द्रमा से भी अधिक अपरिमित प्रकाश वाले परमशिव की वन्दना करने से उनके नैकट्य का लाभ तो होता ही है साथ ही प्रकाश से परिपूर्ण स्थान में दिव्य स्थान की भी प्राप्ति होती है। यहाँ अप्रत्यक्ष एवं प्रत्यक्ष दोनों

ही रूपों में स्पष्ट किया गया है कि देवी के आज्ञा चक्र में भगवान् शिव की स्थिति है।

आज्ञा चक्र बताने के पश्चात् आचार्य शंकर विशुद्ध चक्र की स्थिति को भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि – देवी से सम्बन्धित विशुद्ध चक्र में आकाश को जन्म देने वाले शिव की प्राप्ति होती है इस रूप की स्थापना करने से दिव्य स्वरूप वाली भूमि पर स्थित घटित होती है। आकाश के कारण स्वरूप चिदम्बर सदाशिव शुद्ध स्फटिक के सदृश कान्तिमान् है। श्रुति का वचन भी है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे
व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। तस्माद्वार आकाशाद्वायुः
वायोरग्निः अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी॥

– *तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली*, प्रथम अनुवाक, पृष्ठ ८३-८४

अर्थात् – ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। जो उसको गुहा में निहित परमाकाशवत् जानता है, वह ब्रह्मज्ञान सहित सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

शंकराचार्य ने देवी के स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति को स्पष्ट किया है। आचार्य के अनुसार – देवी के स्वाधिष्ठान चक्र में जो समया देवी से सम्बन्धित संवर्ताग्नि स्थित है वही उन देवता की कृपा से शीतल उपचार की रचना करता है।

इसके साथ ही आचार्य शंकर ने मणिपूर एवं मूलाधार चक्रों की स्थिति भी बताई है। अतः पूर्व उल्लेख के द्वारा स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य के *सौन्दर्यलहरी* नामक ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध आनन्दलहरी में योग एवं अध्यात्म की चर्चा का ही समावेश है। साथ ही श्रीचक्र में स्थित प्रायः सभी चक्रों की भी स्थिति स्पष्ट की गई है। इन समस्त चक्रों से होते हुए कुण्डलिनी शक्ति के जागरण को भी आचार्य ने अपने ग्रन्थ के द्वारा स्पष्ट किया है। आनन्दलहरी में यह भी बताया गया है कि किस प्रकार से देवी भगवती की स्तुति की जाए कि भगवती के अन्दर निहित उस परमशिव का नैकट्य प्राप्त किया जा सके।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि *सौन्दर्यलहरी* के पूर्वार्द्ध भाग आनन्दलहरी में पिण्डस्थ शक्ति, श्रीचक्र, कुण्डलिनी शक्ति, शिव-शक्ति, काम-

दहन-आख्यान, शिव-शक्ति का अंग-अंगीवत् सम्बन्ध एवं अर्धनारीश्वर सदाख्य शिव के स्वरूप का वर्णन एवं गुरु-शिष्य सम्बन्धों सहित ही आदि अन्य ब्रह्मैक्य आध्यात्मिक पहलुओं पर भी गुरु शंकराचार्यजी ने प्रकाश डाला है। साथ ही आनन्दलहरी के श्लोकों में मुख्यतया कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा "जीव-ब्रह्मैक्य" के ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है। *सौन्दर्यलहरी* के उत्तरार्द्ध भाग में सम्पूर्ण विश्व को देवी भगवती की विराट् देह मानकर उसकी स्तुति एवं उस प्रकृति देवी के सौन्दर्य का वर्णन (ध्यान) आदि शंकराचार्य ने अपने श्लोकों के माध्यम से किया है।

सौन्दर्यलहरी के उत्तरार्द्ध में विश्व को भगवती की विराट देह मानकर प्रकृति देवी के दिव्य देह का चित्र खींचा गया है। जोकि छन्द-शास्त्रोक्ति आभूषणों में अलंकृत सर्वभावपूर्ण, नवरसों में पगी अनादि, अनन्त महामाया, महादेवी आदिशक्ति की झाँकी दिखाने वाली, वास्तव में *सौन्दर्यलहरी* ही है। अतः *सौन्दर्यलहरी* में आचार्य शंकर ने भगवती के आनन्दशिव स्वरूप (सौन्दर्य) का ध्यान किया है। आचार्य ने देवी के किरीट, केश, ललाट, भ्रू, नेत्र, कपोलों, कर्ण, नासिका, हस्त, पाद, ग्रीवा, कण्ठ, दन्त, चिबुक, नख, जानु प्रायः सभी के सौन्दर्य (तेज) का वर्णन एवं ध्यान किया है। जो भगवती स्तुति में प्रायः अद्वितीय स्थान रखता है। शंकराचार्य की यह एक प्रकार से सौन्दर्य-वर्णनपरक स्तुति है। जिसमें एक महान् भारत की स्तुति (उपासना की) भावना का समावेश है।

शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में शिव-शक्ति महामाया देवी भगवती की स्तुति की है जबकि *दुर्गासप्तशती* में महाशक्ति को भगवान् विष्णु की आदि-शक्ति मानकर देवताओं ने उनकी स्तुति की है। जो कि निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट हो रहा है –

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥
– *श्री दुर्गासप्तशती,* पञ्चमोऽध्यायः श्लोक १४-१६, पृष्ठ १११

अर्थात् – जो देवी सब प्रणियों में विष्णुमाया के नाम से कही जाती हैं, उनको नमस्कार, उनको नमस्कार, उनको बारम्बार नमस्कार है।

जबकि शंकराचार्य ने शिव-शक्ति को महामाया देवी भगवती के रूप में स्वीकार किया है यह निम्न श्लोक से स्पष्ट हो रहा है –

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक १, पृष्ठ १

अर्थात् – यदि शिव-शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने के योग्य भी नहीं था, इसलिए तुझ हरि-हर और ब्रह्मा आदि की भी आराध्या देवी को प्रणाम करने अथवा स्तुति करने की सामर्थ्य किसी भी पुण्यहीन मनुष्य में कैसे हो सकती है?

सौन्दर्यलहरी के उत्तरार्द्ध में आचार्य शंकर ने जो देवी-सौन्दर्य का वर्णन किया है वस्तुतः यह वर्णन एक भक्त की सात्विक-धार्मिक भक्ति-भावना से किया गया वर्णन है। जिसका लाभ (ज्ञान) कभी भी किसी चंचल इन्द्रियों वाले मनुष्य को नहीं हो सकता है।

वस्तुतः आचार्य के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* को आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखने वाला भक्त ही पूर्णतः आत्मसात् कर पाता है। आचार्य के ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध का पूर्णरूपेण लाभ अध्यात्म एवं योग से जुड़े हुए विद्वानों को ही होता है।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध भाग के श्लोकों में जिस देवी के अंग-प्रत्यंगों की अपरिमित शोभा का परिचय दिया गया है, वह परमस्वरूपिणी देवी भगवान् शिव की गृहिणी के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है। उनके चरणों की सेवा करने को धर्माचरण की मर्यादा माना गया है। इस सेवा मर्यादा को चंचल इन्द्रिय वाले लोग नहीं प्राप्त कर सकते। फिर भी इन्द्रादि देव उस सेवा मर्यादा को समझकर देवी के स्थान पर रहते हुए साधना के द्वारा अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करने में सफल हो सके। भगवत्पाद आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध का आरम्भ देवी के मुकुट का ध्यान करके किया है।

यहाँ शंकराचार्य अपने देवी के मुकुट के ध्यानपरक श्लोक के द्वारा कहते हैं कि –

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीर्तयति यः।
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणाम्॥
– *सौन्दर्यलहरी,* द्वितीयो भागः, ४२, पृष्ठ २

अर्थात् – यहाँ (प्रस्तुत श्लोक) में भगवत्पाद शंकराचार्य यह कह रहे हैं कि जो भी साधक देवी के मुकुट का ध्यान करता है वह ऐसा अनुभव करता है कि मानो आकाश में इन्द्रधनुष निकला हो। देवी का मुकुट उसी प्रकार शोभायमान होता है; जिस प्रकार तारों का समूह (तारागण) स्वच्छ निर्मल आकाश में सुशोभित होते हैं। (ऐसा प्रतीत होता है कि देवी का सम्पूर्ण मुकुट स्वच्छ निर्मल आकाश है, साथ ही उसमें जड़ित रत्न, मणियाँ, इत्यादि तारागणों का समूह है।)

आचार्य शंकर देवी के केशों का ध्यान (स्तुति) करते हैं। यहाँ देवी के केशों की सुन्दरता के वर्णन हेतु आचार्य इन्दीवर वन की सहायता लेते हुए कहते हैं कि मानो देवी के केश समूह में इन्दीवर वन की शोभा उपस्थित हो रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो देवी के केशों में गुँथे हुए इन्द्रवाटिका के पुष्प देवी के केशों की सुगन्ध से सुगन्धित होने के लिए (सुगन्ध प्राप्त करने के लिए) स्वयं ही वहाँ (देवी के केशों में) जा बसे हैं। अर्थात् केशों में गुँथ गये हैं। देवी के मुख-कमल की लालिमा केशों के मध्य माँग में सिन्दूर का काम कर रही है वही देवी के केश एवं केशों के मध्य की लालिमा हमारा एवं भक्तजनों का कल्याण करे।

फिर देवी के अलकों, ललाट एवं भृकुटी का ध्यान किया गया है। आचार्य अपने श्लोक के द्वारा कहते हैं कि "स्वाभाविक घुँघराली, जवान भौंरो की कान्तियुक्त अलकावलि से घिरा हुआ तेरा मुख, कमलों की शोभा का परिहास करता है; जिससे स्फटिक सदृश शोभा वाले दन्तों से किंचित् मुस्कराते समय निकलने वाली सुगन्ध पर काम का दहन करने वाले शिवजी के नेत्र-रूपी भौंरे भी मस्त हो जाते हैं।" यहाँ शंकराचार्य के प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट हो रहा है कि देवी का सौन्दर्य, सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। जिस कारण भगवान् शिव भी जिन पर स्मर का कोई प्रभाव जल्द नहीं होता है वे भी देवी के सौन्दर्य एवं तेज से मोहित हो जाते हैं। अब आचार्य देवी के ललाट की भी स्तुति (ध्यान) करते हुए अपने श्लोक के द्वारा कहते हैं कि – देवी का ललाट महान् तेज से युक्त है जो कि चन्द्रमा की दूसरी कला के समान प्रतीत होता है।

अब भृकुटी-ध्यान आता है। देवी की (चढ़ी हुई) भृकुटी (त्यौरी) सम्पूर्ण जगत् के जीवों के भय की नाशक है। देवी की त्यौरी भगवान् शंकर के अन्दर काम की भावना को भी बढ़ाने का कार्य करती है। उनका अपूर्व सौन्दर्य भगवान् शंकर के हृदय में रति के बीजों के वपन में भी सहायक है। देवी की तनी हुई त्यौरी ही वास्तव में कामदेव के धनुष का कार्य कर रही है। अतः उनकी चढ़ी हुई त्यौरी जगत् का कल्याण करे। इसलिए भगवती की भृकुटी

सात्विक साधक के अन्तर्गत सभी काम एवं वासनाओं की समाप्ति भी करती है।

उपरोक्त स्तुति में तीनों नेत्रों का स्तुतिपरक वर्णन आता है, आचार्य ने देवी के दोनों ही नेत्रों की तुलना सूर्य एवं चन्द्रमा से की है। देवी के नेत्र वास्तव में जगत् को दिन एवं रात्रि प्रदान करते हैं। उनका दक्षिण नेत्र सूर्यात्मक होने के कारण ही दिन बनता है जबकि बायाँ नेत्र चन्द्रात्मक होने से रात्रि की सृष्टि करता है तथा कुछ विकसित एवं सुवर्ण के बने हुए कमल की शोभा से युक्त तेरी तीसरी दृष्टि दिन और रात दोनों के बीच में रहने वाली सन्ध्या है। उनके नेत्र (दृष्टि) कमलों की शोभा का हरण करने वाले हैं। देवी के नेत्र भोगों को प्रदान करने वाले हैं जिस कारण भोगवतिका हैं। वे नेत्र समस्त संसार की रक्षा करने वाले हैं अतः वे विजया हैं। यह भाव आचार्य के प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट हो रहा है –

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः
कृपाधाराधारा किमपि मधुरा भोगवतिका।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगरविस्तारविजया
ध्रुवं तत्तन्नामव्यवहरणयोग्या विजयते॥
– ***सौन्दर्यलहरी* द्वितीयो भागः, श्लोक ४९, पृष्ठ ३५**

अर्थात् – तेरी दृष्टि विशाला, कल्याणी, खिले हुए कमलों की शोभा की उपमा से ऊँची अयोध्या कृपा धारा सदृशधारा कुछ-कुछ मथुरा, भोगवतिका, सबकी रक्षा करने वाली अवन्तिका और अनेक नगरों के विस्तार को जीतने वाली विजया है और निश्चय ही इन प्रत्येक नागरिकों के नाम से सम्बोधित नाना अर्थों के सन्देह को हरण करने के योग्य है (अर्थात् प्रत्येक नाम भी भावसूचक है)।

शंकराचार्य ने देवी के तीसरे नेत्र को कुछ-कुछ लाल (रक्त) वर्ण से युक्त बताया है साथ ही अपने श्लोक के द्वारा इसका भी उल्लेख किया है कि उसका वर्ण रक्त क्यों है। क्योंकि देवी को कवियों की कविताएँ अत्यन्त प्रिय हैं, जिस कारण वे अपने दोनों ही नेत्रों को तिरछा कर कर्णों के पास तक ले जाती हैं जिससे देवी का तीसरा नेत्र उन दोनों ही नेत्रों से असूया (ईर्ष्या) करने के कारण थोड़ा रक्त वर्ण से युक्त दृष्टिगत होता है।

वस्तुतः देवी के नेत्रों का वर्णन भगवान् शिव के पक्ष में किया गया है।

उभय ग्रन्थों की विषय-वस्तु समरूपी, विषद् एवं प्रसंगानुगर्भी है। यहाँ हम विषय-वस्तु के अन्तर्गत उन सभी तत्त्वों का समावेश पाते हैं जो तान्त्रिक

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिवेश का विश्लेषण करते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि दोनों की विषय-वस्तु विवेचन के लिए सम्यक् तथा विकासशील है। इस विषय-वस्तु से अध्यायों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है तथा विवेचन के लिए स्थान प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय खण्ड

उभय ग्रन्थों में तन्त्र-दर्शन की अन्विति

तृतीय परिच्छेद

तन्त्र की अवधारणा

संस्कृत के व्यक्त आयामों में तन्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका विकास वेदों की दार्शनिक परम्परा के समानान्तर हुआ है। भारतीय संस्कृति के निर्माण में इस परम्परा ने अपने विपुल साहित्य, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वैदिक और तान्त्रिक परम्पराओं के मिश्रण से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। यह ध्यान देने योग्य है कि वैदिक परम्परा के समानान्तर होते हुए भी तान्त्रिक परम्परा इसके विपरीत नहीं है। वस्तुतः जब हम तन्त्र का विवेचन करते हैं तो उसका आशय सांस्कृतिक विवेचन ही होता है। किसी भी साहित्य में उसकी संस्कृति का अभूतपूर्व योगदान होता है। सामान्य रूप से भारतीय परम्परा में तन्त्र को शिव का प्रकाशन कहा जाता है। तन्त्र का मूलतः अर्थ प्रकाशित ज्ञान है। जीवन में दो प्रकार के अनुभव होते हैं –

(१) सामान्य अनुभव (इन्द्रिय अनुभव)

(२) उच्चतर अनुभूत (अनुभूति)।

तान्त्रिक परम्परा में सामान्य अनुभव और उच्चतर अनुभव का सामंजस्य स्थापित किया गया है। तन्त्रानुसार दोनों अनुभवों में "चिति-शक्ति" का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामान्यरूपेण जो इन्द्रिय अनुभव होता है वह सीमित होता है, किन्तु जब अनुभव बिना ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सीधे प्राप्त होता है तो उसे पूर्ण ज्ञान माना जाता है। तन्त्र यह मानता है कि सामान्य अनुभव के स्तर पर सत्य को जानने की कोशिश की जा सकती है। ध्यान देने योग्य है कि तन्त्र की व्यापक मीमांसा में अज्ञान और ज्ञान में, अन्धकार और प्रकाश में कोई भेद नहीं माना गया है। यहाँ अज्ञान और ज्ञान में अवस्था भेद है। जिसे अपूर्ण ज्ञान कहते हैं। "चिति-शक्ति" पर पड़े आध्यात्मिक मल (बन्धन) के कारण ज्ञान अपूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। इसी अवस्था में तत्त्व का ज्ञान होता है। तान्त्रिक दर्शन के अनुसार इन्द्रियानुभव से उच्चतर भी ज्ञान का बन्धन है, जिससे तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। तन्त्र की प्रतीकात्मक भाषा में तृतीय क्षेत्र कहा जाता है। तन्त्र-दर्शन में चेतना को शक्ति का रूप माना गया है जो स्वभावतः स्पन्दित होती रहती है, यह स्पन्दनात्मक

क्रिया स्वतःस्फूर्त होती है जो आनन्द में स्वाभाविक रूप से उत्थित होती है। सृष्टि क्रिया शिव का लीला-विलास या आनन्द-नर्तन है जो नटराज के प्रतीक से ध्वनित होता है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित पंक्तियाँ साक्ष्य रूप में प्रस्तुत हैं –

> सारा विश्व वाक् और अर्थ की सम्पृक्तता की लीला है। पार्वती शिव की लीला सखी है, यह लोक-रचना उनकी क्रीड़ा है, चिन्मय शिव उनके सख हैं, सदानन्द उनका आहार है –

क्रीडा ते लोकरचनासखा ते चिन्मयः शिवः।
आहारस्ते सदानन्दो वासस्ते हृदयं सताम्॥
– *ललितास्तवराज*

अतः यहाँ परम तत्त्व का केवल शिव, ज्ञान या प्रकाश न मानकर शिव-शक्ति, ज्ञान-क्रिया, प्रकाश-विमर्श माना गया है। इसी सत्य को तन्त्र की प्रतीकात्मक भाषा में अर्धनारीश्वर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो एक ही व्यक्ति में एक ही साथ शिव और पार्वती दोनों हैं। इस तथ्य की विवेचना तन्त्र इस प्रकार करता है। जीव-विज्ञान में XY क्रोमोसोम (chromosome) है, पुरुष XY तथा स्त्री XX है। इसमें X दोनों में कॉमन (common) है जो नारी का प्रतीक है, तत्त्वतः पुरुष की प्रकृति में भी स्त्री तत्त्व समाया हुआ है। उपनिषदों में जहाँ श्रेय को प्रेय से उच्च मानकर ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है वहीं तन्त्र में श्रेय एवं प्रेय में समन्वय स्थापित किया गया है। सामान्य रूप से मोक्ष श्रेय के अन्तर्गत आता है। प्रायः श्रेय की प्राप्ति हेतु प्रेय को त्याग करने को कहा गया है, किन्तु तन्त्र श्रेय को प्रेय का उदात्त रूप मानता है। भोग यदि भोग के लिए होगा तो वह श्रेय की प्राप्ति में बाधक होगा किन्तु यदि वह उदात्त रूप में होगा तो श्रेय की प्राप्ति का साधन बन जाएगा। तन्त्रानुसार जगत् और जागतिक भोग परम तत्त्व (शिव) की ही अभिव्यक्ति (सृष्टि) है। तान्त्रिक दर्शन में अध्यात्म और भौतिकता के अन्तर को मिटा दिया गया है और समस्त जागतिक मूल्य शिव के लीला-विलास बन जाते हैं। कहा गया है कि चिति-शक्ति (श्री सुन्दरी) के उपासक को भोग और मोक्ष एक ही साथ प्राप्त होते हैं। इन पंक्तियों के आधार निम्नांकित हैं –

भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कलेश्वरि॥
– *कुलार्णवतन्त्र २.२४*

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्री सुन्दरी सेवन-तत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥
– **शिवभद्दृष्टि, ७.१०७**

तन्त्र की इस विचारधारा के समानान्तर हमें बहुत सी बातें आधुनिक विज्ञान में भी मिल जाती हैं तथा परमाणु के भीतर प्रोट्रॉन और न्यूट्रॉन का होना तथा शक्ति को समंजित करने के लिए इलेक्ट्रान निरन्तर दौड़ते रहते हैं। इस विषय में काल-तत्त्व को, शिव-तत्त्व को तथा प्रकृति को शिवा माना गया है। इसका उन्मुक्त प्रमाण नटराज का नर्तन है, जो इलेक्ट्रान के निरन्तर गत्वरता का प्रतीक है।

परमाणु संरचना
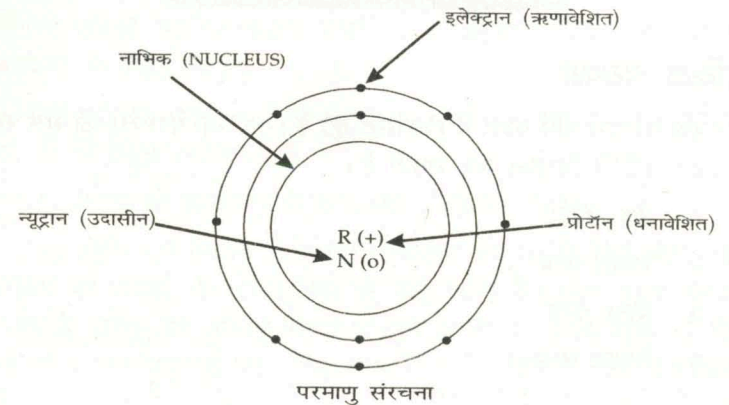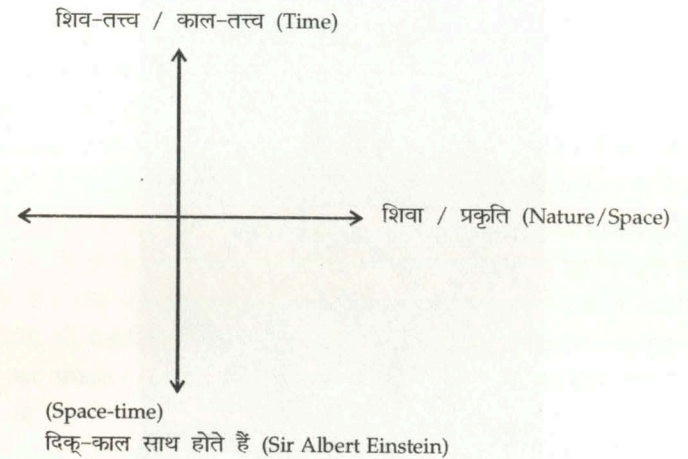
नटराज का जो चित्र है, उससे शिव-शक्ति का प्रतिदर्श बिम्बित होता है। पूरी सृष्टि में काल और प्रकृति की ही लीला चल रही है। दूसरे शब्दों में पदार्थ ऊर्जा में और ऊर्जा पदार्थ में बदल रही है जिसका सूत्र आइंस्टीन ने इस प्रकार दिया है –

$E = mc^2$,

E = energy equivalent of mass

m = mass of the body

c = velocity of light

तान्त्रिक परम्परा

तान्त्रिक परम्परा दीर्घ काल में विकसित हुई है। तान्त्रिक परम्परा को मूल रूप से चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

१. शैव तन्त्र

२. शाक्त तन्त्र

३. बौद्ध तन्त्र

४. वैष्णव तन्त्र।

तन्त्रों में जितने भी सम्प्रदाय हैं वे इन्हीं में से किसी-न-किसी के उपभेद हैं। शैव और शाक्त तन्त्र प्रायः समान हैं। इनमें कोई मौलिक भेद नहीं हैं। यदि भेद कोई दिखता है तो वह यह है – शैव तन्त्र में परम तत्त्व को शिव कहते हैं तथा शाक्त तन्त्र में परम तत्त्व को शक्ति कहते हैं। शैव और शाक्त दोनों ही यह मानते हैं कि परम तत्त्व (चैतन्य) शिव-शक्ति दोनों ही हैं। शैव और शाक्त में भेद केवल आग्रह का है। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ सम्प्रदाय तथा कीनाराम द्वारा प्रवर्तित अघोर सम्प्रदाय शैव-शाक्त तन्त्र परम्परा के हैं। बंगाल का सहजिया सम्प्रदाय वैष्णव तन्त्र की परम्परा का है। गुरु-परम्परा की दृष्टि से शैव-शाक्त परम्परा की दो परम्पराएँ हैं – (१) गिरनारी (२) नेवारी। गुजरात में स्थित गिरिनार पर्वत को भगवान् दत्तात्रेय का पीठ माना जाता है। भगवान् दत्तात्रेय को शैव-शाक्त तन्त्र परम्परा का आदिगुरु माना जाता है। इस क्षेत्र की गुरु-शिष्य की जो परम्परा चली, उसे गिरनारी कहा जाता है। दुर्वासा तथा परशुराम इसी परम्परा में आते हैं। अघोर सम्प्रदाय के तान्त्रिक साधक गिरनारी कहे जाते हैं। नेपाल स्थित हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र नेवार में जो गुरु-शिष्य परम्परा चली, उसे नेवारी परम्परा कहा जाता है। नाथ सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा यहीं से विकसित हुई। कुछ लोग बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय से सभी प्रकार के तन्त्रों का विकास होना मानते हैं। यह सत्य अवश्य है कि वज्रयान सम्प्रदाय ने अन्य तान्त्रिक सम्प्रदायों को प्रभावित किया। किन्तु वज्रयान को तन्त्र की उत्पत्ति का मूल नहीं माना जा सकता। वास्तव में तन्त्र बुद्ध से भी प्राचीन है। सच्चाई यह है कि तन्त्र के दार्शनिक विचारों, साधना-पद्धति आदि को अन्य परम्पराओं ने अपने-अपने अनुसार अंगीकार किया। फलतः विभिन्न प्रकार की तान्त्रिक परम्पराएँ – शैव, शाक्त, बौद्ध तथा वैष्णव विकसित हुईं। इन परम्पराओं ने तान्त्रिक प्रतीकों का नामकरण अपने-अपने अनुसार किया तथा अपनी शब्दावली का प्रयोग किया।

सभी तान्त्रिक परम्पराओं में मूलभूत बातें सामान्य रूप से पाई जाती हैं। तन्त्र की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं –

(१) चेतना को ज्ञान-रूप के साथ-साथ क्रिया-रूप मानना।

(२) प्रवृत्ति एवं निवृत्ति में समन्वय स्थापित करना। ये दोनों बातें सभी तान्त्रिक परम्पराओं में समान रूप से पाई जाती हैं। थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है, परन्तु वह अन्तर ज्यादातर नाम से ही है। उदाहरणार्थ जो शैव तन्त्र में अर्धनारीश्वर है वह बौद्ध तन्त्र में "युगनद्ध" कहलाता है। किन्तु

अन्तर यह है कि जहाँ शैव-शाक्त तथा वैष्णव तन्त्र में शक्ति (क्रिया) का प्रतीक नारी एवं ज्ञान का प्रतीक नर है वहाँ बौद्ध तन्त्र में पुरुष (नर) शक्ति एवं नारी ज्ञान का प्रतीक है। "युगनद्ध" में पुरुष को "वज्र" और नारी को "पद्‌म" नाम से कहा जाता है। (तिब्बत में इसका प्रचार है)। चीन, जापान एवं कोरिया में चूँकि बौद्ध तन्त्र का ही प्रभाव है, अतः वहाँ भी नारी (यिन) ज्ञान का एवं पुरुष (यांग) शक्ति का प्रतीक है। शक्ति के प्रतीक को नारी या नर से क्यों जोड़ा गया है। इस विषय में तन्त्र में कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती, किन्तु समझा जा सकता है कि शैव एवं वैष्णव तन्त्र में नारी को जो शक्ति का प्रतीक माना गया उसका कारण यह माना जा सकता है कि नारी भावना-प्रधान होती है और क्रिया-शक्ति वस्तुतः भावना में होती है। ज्ञान तो केवल रास्ता दिखाता है, आँख का काम करता है; किन्तु बौद्ध तन्त्र में पुरुष को शक्ति का प्रतीक सम्भवतः इसलिए माना गया क्योंकि व्यावहारिक जीवन में पुरुष शक्तिमान दिखता है तथा नारी कोमल भावनाओं से युक्त दिखती है। इसीलिए वहाँ कठोर शक्ति के प्रतीक पुरुष को "वज्र" तथा कोमल भावनाओं की प्रतीक नारी को "पद्‌म" कहा गया। शैव तन्त्र में जो शिव-पार्वती एवं वैष्णव तन्त्र में जो "राधा-कृष्ण" हैं वही बौद्ध तन्त्र में वज्र-पद्‌म या "यांग-यिन" हैं। यहाँ प्रतीक उलट गया है। इसी प्रकार अन्य बातों में भी सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में मौलिक समानता है।

जहाँ तक तन्त्र-दर्शन का प्रश्न है "शैव-शाक्त" तन्त्र ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। तन्त्र दर्शन की प्रायः सभी अवधारणाओं की व्याख्या तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन शैव-शाक्त तन्त्रों में ही किया गया। उदाहरणार्थ शक्ति तत्त्व (क्रिया) की व्याख्या तथा भोग और मोक्ष के समन्वय रूप कौल साधना को यहाँ पूर्णरूपेण प्रस्तुत किया गया। मोक्ष के स्वरूप का पूर्ण निदर्शन तथा मोक्ष के उपायों का व्यापक वर्गीकरण भी यहीं किया गया। प्रमुख शैव तन्त्र हैं – *मालिनी विजयोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान-भैरव, नेत्र तन्त्र, स्वयम्भू तन्त्र, रुद्रयामल तन्त्र, नैश्वास तन्त्र, आनन्द भैरव, अक्षुस्म भैरव, मृगेन्द्र आगम,* आदि।

शैव-शाक्त तन्त्रों का दार्शनिक तथा सुव्यवस्थित, तार्किक, सैद्धान्तिक प्रतिपादन काश्मीर शैव दर्शन की प्रक्रिया में हुआ। काश्मीर शैव-दर्शन शैव तन्त्र परम्परा का सर्वप्रमुख दार्शनिक मतवाद है, जिसमें तान्त्रिक दर्शन की परिणति हुई है। चूँकि शिव तान्त्रिक परम्परा अन्य तान्त्रिक परम्पराओं की तुलना में तान्त्रिक अवधारणाओं को अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण रूप में प्रस्तुत करती है और चूँकि काश्मीर शैव-दर्शन इस शिव तान्त्रिक परम्परा की चरम

परिणति है, अतः काश्मीर शैव-दर्शन को तान्त्रिक परम्परा का केन्द्रीय दर्शन कहा जा सकता है। इसका नाम "काश्मीर" शैव-दर्शन तो आधुनिक विद्वानों विशेषतः विदेशी विद्वानों का दिया हुआ है। इसका शास्त्रीय नाम – "त्रिक् दर्शन" है। इसे "प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" भी कहा जाता है। एक दो परवर्ती दार्शनिकों को छोड़कर इसके सभी दार्शनिक कश्मीर में हुए हैं। अतः इसे काश्मीर शैव-दर्शन कहना भी समीचीन ही है। हम तन्त्र के आधार को स्पष्ट प्रस्तुत करने के लिए शैव-दर्शन के इतिहास को प्रस्तुत करते हैं क्योंकि इतिहास में किसी भी सिद्धान्त के विकास का आधार मिलता है।

काश्मीर शैव-दर्शन के इतिहास के क्रम में पहला नाम "वसुगुप्त" का आता है, जिनका समय आठवीं शती ईस्वी के अन्त तथा नौवीं शती ईस्वी का आरम्भ काल माना जाता है। उन्होंने अद्वैतवादी शैव दर्शनों को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया, जिसे *शिव-सूत्र* कहा जाता है।

जनश्रुति के अनुसार वसुगुप्त *शिव-सूक्त* के रचनाकार नहीं हैं वरन् भगवान् शिव ने इसे उनके सम्मुख प्रकाशित किया था। काश्मीर-शैव आचार्यों की परम्परा में *शिव-सूक्त* को आगम अथवा तन्त्र माना जाता है। इस प्रकार इसे "श्रुति" होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है। वसुगुप्त के शिष्य "भट्ट कल्लट" ने *स्पन्दकारिका* की रचना की। *स्पन्दकारिका* पर चार टीकाएँ मिलती हैं –

(१) स्वयं कल्लट की वृत्ति।

(२) रामकण्ठ की *स्पन्द वृत्ति*।

(३) क्षेमराज का *स्पन्द-निर्णय* तथा *स्पन्द-संदोह*।

(४) उत्पल भट्ट की *स्पन्द-प्रदीपिका*।

भट्ट कल्लट के बाद कश्मीर शैव दार्शनिकों की परम्परा में सोमानन्द का नाम आता है। इनका समय नौवीं शती ईस्वी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। सोमानन्द ने *शिव-दृष्टि* की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने मत का प्रतिपादन तथा विरोधी मतों का खण्डन किया। सोमानन्द को "प्रत्यभिज्ञा" सम्प्रदाय का जनक माना जाता है। इनके शिष्य उत्पलदेव ने जिनका समय नौवीं शती ईस्वी का अन्त तथा दसवीं शती ईस्वी का आरम्भ माना जाता है, अपनी *ईश्वर प्रतिभिज्ञा-कारिका* में इस परम्परा के विचारों की तार्किक व्याख्या की। अभिनवगुप्त ने इस पर दो टीकाएँ, एक छोटी तथा दूसरी बड़ी लिखी है। पहली को *विमर्शिनी* तथा दूसरी को *विवृत्ति विमर्शिनी* कहा जाता है। उत्पल ने *सिद्धित्रयी* की रचना की जिसमें "अजड़-पमात्रि सिद्धि", "ईश्वर सिद्धि" तथा

"सम्बन्ध सिद्धि" निबद्ध हैं, उत्पल की अन्य महत्त्वपूर्ण रचना *शिवस्तोत्रावली* है। उत्पल के बाद "काश्मीर-शैव" परम्परा में अभिनवगुप्त का नाम आता है। इनका समय दसवीं शती का अन्त तथा ग्यारहवीं शती का आरम्भ काल माना जाता है। अभिनवगुप्त ने काश्मीर शैव-दर्शन को अनेक ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। इनमें टीका ग्रन्थ एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ दोनों ही हैं। उनके टीका ग्रन्थ हैं – *ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, विमर्शिनी परात्रिंशिका विवरण, भगवत्-गीतार्थ-संग्रह, शिव दृष्ट्या-लोचन* (अनुपलब्ध)। उनके स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं *तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्रवट-धानिका, मालिनी-विजय-वार्तिक, परमार्थ-सार*। अभिनवगुप्त के परवर्ती आचार्यों में क्षेमराज आते हैं उनके ग्रन्थ हैं – *प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, परा-प्रवेशिका, शिव-सूत्र-विमर्शिनी, स्पन्द-निर्णय, स्पन्द-संदोह, स्तवचिन्तामणि विवृत्ति, स्वच्छन्दोद्योत, विज्ञान-भैरव उद्योत, शिवस्तोत्रावली* पर टीका। क्षेमराज के पश्चात् उनके शिष्य वरदराज का नाम आता है, उनके ग्रन्थ हैं – *शिव-सूत्र वार्त्तिक*। इस प्रकार काश्मीर शैव-दर्शन की एक दीर्घ परम्परा है जहाँ तक इसकी विकास-प्रक्रिया का प्रश्न उठता है उसके विषय में यह कहना ही उचित है कि आचार्य अभिनवगुप्त का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तान्त्रिक दर्शन को बोधगम्य बनाने का कार्य अभिनवगुप्त ने किया। अभिनवगुप्त ने तन्त्र के प्रतीकों की व्याख्या की तथा तन्त्र दर्शन की तार्किक विवेचना की। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया वह यह है कि उस समय प्रचलित तन्त्र दर्शन के चार सम्प्रदायों – स्पन्द, क्रम, कौल तथा प्रत्यभिज्ञा में समन्वय स्थापित किया। अभिनवगुप्त की गुरु-परम्परा में प्रायः ये सभी सम्प्रदायों के गुरु थे। अभिनवगुप्त ने सभी से शिक्षाएँ ग्रहण की। इनका प्रभाव अभिनवगुप्त पर पड़ना स्वाभाविक था। फलतः उनकी दार्शनिक विचारधारा में चारों सम्प्रदाय मिलकर एकीभूत हो गए। अभिनवगुप्त ने सभी उपधाराओं को प्रत्यभिज्ञा में अनुस्यूत कर दिया। प्रत्यभिज्ञा के सूत्र में पिरोकर क्रम, कुल तथा स्पन्द को एक माला बना दिया। इसी कारण सभी उपधाराएँ "प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" नाम से अभिहित होने लगीं। अभिनवगुप्त के अनुसार आत्मा के वास्तविक स्वरूप (शिव-रूप) पहचान (ज्ञान एवं अथवा-प्रत्यभिज्ञा) मोक्ष है। अभिनवगुप्त ने सभी दार्शनिक अवधारणाओं को अपने दर्शन में आत्मसात् किया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि स्पन्द तो चेतना का स्वरूप है। चेतना स्वरूपतः क्रियाशील है। इस प्रकार स्पन्द शक्ति का ही पर्याय है। अभिनवगुप्त ने प्रतिपादित किया कि विकल्प (जगत्) शिव की अभिव्यक्ति है। किन्तु इसके प्रति द्वैत ज्ञान का होना अज्ञान है तथा अद्वैत भाव होना ही ज्ञान है। कौल-दर्शन में शिव और शक्ति की एकता पर आग्रह किया गया है। अभिनवगुप्त ने यह प्रतिपादित

किया कि – शिव-शक्ति मूलतः एक ही है। एक ही परम तत्त्व के प्रकाश रूप (ज्ञान-रूप) को शिव कहा जाता है तथा उसके विमर्श-रूप (क्रिया-रूप) को शक्ति कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि आत्मा की शिवरूपता (अद्वैतरूपता) का ज्ञान ही मोक्ष है वही पूर्णता है। शैव-दर्शन के संक्षिप्त इतिहास विवेचन के पश्चात् उसके ज्ञान-मीमांसा पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान का स्वरूप : ज्ञान के स्वरूप के विषय में सर्वप्रथम विचारणीय बात यह है कि चेतना (आत्मा) के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में चेतना के साथ ज्ञान के सम्बन्ध दो प्रकार के माने गए हैं –

(१) ज्ञान चेतना का गुण है (द्रव्य गुण सम्बन्ध) तथा

(२) ज्ञान चेतना का स्वरूप है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान को चेतना (आत्मा) का आकस्मिक गुण माना गया है। इसके विपरीत सांख्य, वेदान्त तथा तन्त्र-दर्शन में ज्ञान को चेतना का स्वरूप ही माना जाता है इसकी व्याख्या हेतु काश्मीर शैव-दर्शन में प्रकाश एवं प्रकाशन का उदाहरण दिया जाता है। प्रकाश और प्रकाशन दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। प्रकाशन प्रकाश से भिन्न नहीं है। प्रकाश का अर्थ ही होता है प्रकाशित होना अथवा प्रकाश करना।

प्रकाशन प्रकाश का गुण न होकर स्वरूप ही है। चेतना तथा ज्ञान में द्रव्य-गुण सम्बन्ध मानने पर दोनों की स्वतन्त्र तथा पृथक् सत्ता सिद्ध होती है। किन्तु स्वरूप सम्बन्ध मानने पर दोनों की एक ही सत्ता आभासित होती है। न्याय-वैशेषिक में इस तर्क के उत्तर में कि निद्रावस्था में चेतना में ज्ञान की कोई क्रिया परिलक्षित नहीं होती है। काश्मीर शैव दार्शनिक कहते हैं कि उस समय चेतना के ज्ञान का प्रकाशन पर निद्रा का आवरण पड़ा होता है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि चेतना में उस समय ज्ञान की उपस्थिति नहीं है।

ज्ञान के स्वरूप के विषय में काश्मीर शैव-दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि ज्ञान क्रिया-रूप है। ज्ञान चेतना की सक्रियता की अवस्था है। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को चेतना की निष्क्रियता की अवस्था मानते हैं। उनके अनुसार जिस क्षण चेतना को ज्ञान होता है, वह निष्क्रिय रूप से होता है। चेतना में ज्ञान की प्रक्रिया के समय कोई क्रिया नहीं

होती। काश्मीर शैव दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के क्षण चेतना की जो क्रिया होती है, वह निष्क्रियता जैसी दिख सकती है किन्तु वह निष्क्रियता नहीं है।

ज्ञान के स्वरूप के विषय में काश्मीर शैव-दर्शन की तीसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता अद्वैत वेदान्त की ही तरह है, इसके अनुसार ज्ञान स्वयं प्रकाश है। ज्ञान को स्वयं प्रकाश कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है तथा उसी क्रम में अथवा उसके साथ ही वह स्वयं भी प्रकाशित होता है। उसके स्वयं के प्रकाशन के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। उदाहरणार्थ जब हम मेज को जानते हैं तो उसी क्षण हमें मेज को जानने का ज्ञान भी स्वयं हो जाता है। ज्ञान की समानता प्रकाश (दीपक) से की जा सकती है। प्रकाश वस्तु को प्रकाशित करता है तथा उसी समय स्वयं को भी उसी प्रक्रिया में प्रकाशित करता है।

ज्ञान के साधन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में ज्ञान के साधन के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान शब्दादि अनेक प्रमाण माने गए हैं, जो संख्या में दस हैं। काश्मीर शैव-दर्शन को इन सभी प्रमाणों को ज्ञान के साधन के रूप में मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। काश्मीर शैव-दर्शन में इनकी संख्या अथवा प्रकारों को महत्त्व नहीं दिया गया है। यहाँ इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है कि इन सभी प्रमाणों के मूल में आधार रूप में क्या है? वह क्या है जो इन सभी प्रमाणों को प्रामाणिकता प्रदान करता है? काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार इन सभी प्रमाणों के मूल में चेतना है। चेतना ही इन प्रमाणों का आधार है तथा चेतना द्वारा ही यह सभी प्रमाण प्रकाशित हैं अतः मूलतः चेतना या "चिति" ही यथार्थ प्रमाण या एकमात्र मूल प्रमाण है। अन्य सभी प्रमाण "चिति" के साधन रूप हैं। "चिति" ही इन प्रमाणों को साधन के रूप में प्रयोग कर ज्ञान प्राप्त करती है। वह सुनिश्चित करती है कि इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रामाणिक है अथवा नहीं। इस प्रकार स्वयं प्रमाण को प्रामाणिकता "चिति" ही प्रदान करती है इसीलिए काश्मीर शैव-दर्शन 'चिति' को ही मूल प्रमाण मानता है। "चिति" अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को ज्ञान के साधन के रूप में प्रयोग करती है।

उदाहरणार्थ – प्रत्यक्ष प्रमाण में आत्मा (चिति) ज्ञाता (प्रमाता) है। यह ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषय के साथ सन्निकर्ष स्थापित करता है। इसी

प्रकार अनुमान प्रमाण में व्याप्ति आदि के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में काश्मीर शैव-दर्शन सांख्य दर्शन से भिन्न है। सांख्य के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है न कि सीधे पुरुष अथवा आत्मा (चिति)। काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार बुद्धि अथवा इन्द्रिय तो ज्ञान के साधन अथवा उपकरण मात्र हैं। साधन अथवा उपकरण स्वयं ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। उदाहरणार्थ जब हम मेज या कुर्सी को देखते हैं तो हमारी आँख, बुद्धि अथवा मन उसे नहीं देखता अपितु इसके द्वारा हम (हमारी चेतना) इसे देखते हैं। प्रमाणों का उपयोग खिड़की खोलने के समान है। खिड़की खुलने पर खिड़की वस्तु को नहीं देखती वरन् खिड़की के द्वारा हम देखते हैं, खिड़की खुलने का अर्थ इतना ही है कि हमारी दृष्टि-पथ का अवरोध हट गया।

उपर्युक्त उपादानों के पश्चात् परम शिव (परम तत्त्व) पर ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य हो जाता है क्योंकि मूल आधार वही है।

परम शिव (परम तत्त्व)

काश्मीर शैव-दर्शन अद्वैतवादी दर्शन है। यह एक मात्र तत्त्व परम शिव की सत्ता मानता है। समस्त जीव-जगत् परम शिव की ही अभिव्यक्ति है। परम शिव ही स्वयं को आत्माओं (पशु) तथा जगत् के रूप में आभासित करता है। काश्मीर शैव-दर्शन के अनुसार परम तत्त्व (परम शिव) स्वरूपतः अनिर्वचनीय है। इसे सामान्य ज्ञान अथवा तर्क बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता। परम शिव का ज्ञान आगम प्रमाण द्वारा ही हो सकता है जो कि उच्चतर ज्ञान की अभिव्यक्ति है। वहाँ हम आगम प्रमाण के आधार पर परम शिव के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करते हैं। परम तत्त्व के स्वरूप के विषय में तान्त्रिक परम्परा की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि यहाँ परम तत्त्व को शक्ति रूप अथवा क्रियाशील माना गया है। परम चैतन्य के यहाँ ज्ञान और क्रिया दोनों रूप माने गए हैं। यहाँ चैतन्य निष्क्रिय नहीं है वरन् स्पन्दशील है। उसकी स्पन्दनशीलता या क्रियाशीलता को शक्ति नाम से अभिहित किया गया है। चैतन्य-तत्त्व या शिव-तत्त्व वस्तुतः शिव से शक्ति, ज्ञान एवं क्रिया प्रकाश एवं विमर्श दोनों हैं। तन्त्र-दर्शन की यह अवधारणा इसलिए भी मानी जाती है क्योंकि वैदिक परम्परा के दर्शनों में परम तत्त्व के स्वरूप में इस पक्ष पर आग्रह नहीं किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार, जो वैदिक परम्परा का एक प्रमुख दर्शन है – चैतन्य में क्रियात्मकता माया के द्वारा आती है। उनके अनुसार क्रियाशीलता चैतन्य का स्वरूप या स्वभाव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त ऐसा सम्भवतः इसलिए मानता है कि उसके अनुसार कर्म अपूर्णता का द्योतक है। तन्त्र यह मानते हैं कि क्रिया का एक ऐसा स्वरूप है जो माया के कारण नहीं होता अपितु शिव के स्वाभाविक रूप से है। इस क्रिया को ही तन्त्र-दर्शन में स्पन्द कहा गया है। तन्त्र-दर्शन भी यह मानता है कि कर्म अपूर्णता का द्योतक है। किन्तु उसके अनुसार स्पन्द या क्रिया का कर्म से मौलिक भेद है। स्पन्द अपूर्णता का द्योतक नहीं है अपितु पूर्णता अथवा आनन्द का स्वाभाविक स्फुरण है। काश्मीर शैव-दर्शन में स्पन्द के स्वरूप का विवेचन किया गया है, कर्म ऐच्छिक होता है, इसके सम्पादन में कर्त्ता को आयास (प्रयत्न) करना पड़ता है। स्पन्द-क्रिया में कर्त्ता को आयास या प्रयास नहीं करना पड़ता है। यह अनायास होती है। यह आनन्द का स्वाभाविक उच्छलन है। यह अपूर्णता नहीं वरन् पूर्णता की अवस्था में अभिव्यक्त होती है। स्पन्द की क्रिया को काश्मीर शैव-दर्शन में शिव का स्वातन्त्र्य कहा गया है। शिव में जो शक्तिरूपता है उसी से विश्व की रचना होती है। शिव-सृष्टि रचना करके भी सृष्टि से अछूता रहता है। सृष्टि करने के लिए शिव पर कोई बाध्यता नहीं है, न आन्तरिक बाध्यता और न ही बाह्य बाध्यता।

परम तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में तन्त्र-दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा है शिव को विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों ही मानना। शिव अपने क्रिया-स्वातन्त्र्य से जगत् की अभिव्यक्ति करते हैं, एक ही साथ "पर" तथा "अन्तर्यामी" दोनों ही हैं। उपनिषद् भी शिव के इन दोनों रूपों को स्वीकार करता है। शिव में अहम् विमर्श अथवा आत्म-चेतना का होना तन्त्र-दर्शन की दूसरी विशेषता है। अद्वैत वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म को शुद्ध चैतन्य माना गया है। वहाँ परम तत्त्व में आत्म चेतना नहीं मानी गई। किन्तु शैव-दर्शन में चेतना को स्वीकार किया गया है। काश्मीर शैव-दर्शन के रूप को प्रसादजी ने *कामायनी* में अनेक स्थानों पर व्यक्त किया —

कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त॥

— कामायनी, श्रद्धासर्ग

यहाँ प्रसादजी ने "चिति" के लीलामय आनन्द से क्रिया-शक्ति का विश्लेषण किया है। काश्मीर शैव-दर्शन में परम शिव को ही जगत् का मूल कारण माना गया है। वह जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों हैं। वह उपादान कारण इसलिए हैं कि जगत् उनके भीतर से ही प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में जगत् जिस उपादान का बना है वह चैतन्य (शिव) ही है। शिव निमित्त

कारण इसलिए भी हैं कि जगत् को अपने में स्वयं ही बनाता है। बनाने वाला भी वही है तथा बनने वाला भी वही है। जगत् की सृष्टि में शिव की स्वतन्त्र इच्छा ही प्रमुख कारण है। परम शिव अपनी इच्छा द्वारा ही इस विश्व की रचना करता है। जगत्-रचना के लिए परम शिव को किसी उपादान या अधिकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह कार्य मात्र उसकी इच्छा से ही सम्पादित हो जाता है। उसी तरह जैसे योगी अपनी इच्छा-शक्ति के बल से बिना किसी उपादान का अवलम्बन लिए मानसिक सृष्टि कर लेता है।

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थित मिच्छावशाद्बहिः।
योगिः निरूपादानमर्थजात प्रकाशते॥

— अभिनवगुप्त। *ई० प्र०का०* **१.५.७**

काश्मीर शैव-दर्शन को समझने के लिए उसे ३६ तत्त्वों में विभाजित किया गया है। इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति के रूप में जगत् की सृष्टि होती है। सृष्टि रूप में अभिव्यक्ति होने पर भी इन तत्त्वों का तादात्म्य परम तत्त्व से बना रहता है।

ये न तो शिव से ही अलग हैं और न ही एक-दूसरे से पृथक् होते हैं। प्रत्येक तत्त्व मूलतः शिव ही है, इसलिए प्रत्येक तत्त्व एक-दूसरे में उपस्थित रहता है। विश्व की आभासरूपता में तत्त्वों का यह क्रम वस्तुतः अक्रम में ही क्रम का आभास है। उच्चतर तत्त्व निम्नतर तत्त्वों को अपने में सन्निहित किए रहता है तथा निम्नतर तत्त्व भी अपने सभी उच्चतर तत्त्वों को अपने में समाहित किए रहते हैं। *विज्ञान-भैरव* में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि पूर्व-तत्त्व उत्तर-तत्त्व में सर्वत्र व्यापक भाव में उपस्थित रहते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे घट इत्यादि में मिट्टी व्याप्त रहती है।

काश्मीरी शैव-दर्शन के छत्तीस तत्त्व

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में ३६ तत्त्व माने गए हैं। यहाँ परम शिव को देश-कालादि से परे विश्वोत्तीर्ण, परम स्वतन्त्र, सत्य, आनन्द एवं ज्ञानस्वरूप बतलाया है, परन्तु जब वे सृष्टि की कामना करते हैं, तब विश्वोत्तीर्ण से विश्व-रूप बन जाते हैं। जब उनमें सृष्टि के निर्माण की अनुभूति जाग्रत् होती है, तब उन्हें शिव-तत्त्व कहा गया है और उनसे ही क्रमशः अन्य तत्त्वों का विकास होता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के वे ३६ तत्त्व इस प्रकार हैं —

(१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) ईश्वर, (५) शुद्ध-विद्या या सद्-विद्या, (६) माया, (७) कला, (८) विद्या, (९) राग, (१०) काल, (११) नियति,

(१२) पुरुष, (१३) प्रकृति, (१४) बुद्धि, (१५) अहंकार, (१६) मन, (१७-२१) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रवण), (२२-२६) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), (२७-३१) पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और (३२-३६) पाँच स्पन्द महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी)।

"प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" में जो बातें कही गई हैं वह वर्तमान जगत् के उद्धार के उपकरण भी प्रस्तुत करती हैं। मानव प्रकृति में शक्ति के जो विद्युत कण विद्यमान हैं उनमें समन्वय करना ही मानव का पराक्रम है। उसका समन्वित होना ही पराकाष्ठा है। इस दर्शन में समन्वय अथवा समरसता का प्रयोग एक ऐसा प्रयोग है जिसके प्रकाश पक्ष का महत्त्व हर युग के लिए स्पृहणीय है। योगी की समरसता उसकी पूर्णता की अंग मानी जाती है। मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का सम्पूर्ण धर्मों का अन्तिम लक्ष्य सम्पूर्णता का होना है। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के लेक्चर में कहा था –

रुचीनां वैचित्र्यात ऋजुकुटिल नानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

अर्थात् जिस प्रकार सभी नदियाँ सीधे और टेढ़े रास्ते से होते हुए अन्त में समुद्र को ही पहुँचती हैं। उसी प्रकार विभिन्न स्त्री-पुरुष अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रास्तों पर चलते हुए ईश्वर तक ही पहुँचते हैं। ऐ प्रभु, तू उन सबका एकमात्र गन्तव्य है।

समरसता या समन्वय पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन के दृष्टिकोण को समझने के लिए जानना आवश्यक है।

समरसता

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में समरसता के सिद्धान्त का एक विशिष्ट स्थान है। *स्वच्छन्द तन्त्र* में लिखा है कि "जैसे एक नदी समुद्र में मिलकर समरसता को प्राप्त होती है और समुद्र तथा उस नदी में किसी प्रकार की भी पृथकृता या भिन्नता नहीं रहती, उसी प्रकार जब आत्मा परमात्मा-भाव को प्राप्त होकर पूर्णतः एक शिव-रूप हो जाती है, उसे समरसता कहते हैं।" *स्वच्छन्द तन्त्र* के टीकाकार क्षेमराज ने भी लिखा है कि

समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः।

अर्थात् जिसमें समान रस हो, ऐसे लोलीभाव या ललक की भावना को सामरस्य कहते हैं।

श्री उत्पलदेव ने समरसता की व्याख्या इस प्रकार की है कि –

भावानामेकैकस्य निर्वाणेऽपि परमेश्वरस्पर्शरसो खण्डित एवेति सामरस्याम्।

अर्थात् निर्वाण हो जाने पर प्रत्येक पदार्थ का परमेश्वर के स्पर्श-रस से अखण्डित या अभिन्न हो जाना सामरस्य कहलाता है।

नेत्र तन्त्र में समरसता का उल्लेख इस प्रकार मिलता है –

नाहमस्मि न चान्योऽस्ति ध्येयं चात्र न विद्यते।
आनन्दपदसलीनं मनः समरसीगतम्॥

अर्थात् जिस समय योगी यह जानने लगता है कि न तो मैं हूँ, न कोई अन्य है और न ध्येय ही यहाँ विद्यमान है, अपितु उसका मन आनन्द पद में लीन होकर समरसता को प्राप्त हो जाता है, उसी अवस्था को सामरस्य कहते हैं।

अभिनवगुप्ताचार्य का मत है कि "आनन्दशक्ति विश्रान्ते योगी समरसो भवेत्।" समन्द-शक्ति में विश्रान्ति पाने पर ही योगी को समरसता की स्थिति प्राप्ति होती है तथा "चित्ते समरसी भूते द्वयोरौन्मनसी स्थितिः।" अर्थात् समरसता की स्थिति प्राप्त होते ही चित्त में द्वैत के प्रति उन्मनी भाव जाग्रत् हो जाता है अथवा वह पूर्ण अद्वैत को प्राप्त हो जाता है साथ ही अभिनवगुप्ताचार्य के मत से समरसता ही अनुत्तरावस्था है, क्योंकि इस स्थिति में पहुँचकर योगी के लिए कुछ और शेष नहीं रहता और वह अखण्ड आनन्दधन शिवरूप हो जाता है। यही बात श्रीमत् शंकराचार्य ने *सौन्दर्यलहरी* में "समरसपरानन्दपरयोः" कहकर स्वीकार की है और समरसता द्वारा आनन्द का प्राप्त होना बतलाया है। *बोधसार* में श्री नरहरि स्वामी ने भी इस सामरस्य का उल्लेख करते हुए लिखा है –

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दाम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥

अर्थात् जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रेम वाले दम्पत्तियों का द्वैत दोनों के समरस हो जाने पर आनन्ददायक होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा के समरस हो जाने पर जो आनन्द निर्बाध रूप से उत्पन्न होता है, उसमें यह कल्पित द्वैत या पार्थक्य भी ब्रह्मानन्द के तुल्य हो जाता है।

समरसता की अन्विति योग में होती है। जब हम *सौन्दर्यलहरी* पर दृष्टिपात करते हैं तो उसमें काव्यात्मक भाषा में "कुण्डलिनी योग" का स्वरूप प्राप्त होता

है। हमारे शरीर में षट्चक्रों की कल्पना है। इन षट्चक्रों से होकर कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में पहुँचती है। कुण्डलिनी का साधक ध्यान एवं प्राण वायु की सहायता से सहस्रार के स्पन्दन की अनुभूति करता है। यह अध्यात्म का शिखर है क्योंकि जितेन्द्रिय होने के लिए मन पर नियन्त्रण आवश्यक है, मन पर नियन्त्रण प्राण-वायु से होता है। *हठयोग* में लिखा है –

मनोविलीयते यत्र प्राणस्तत्र विलीयते।
प्राणो विलीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥

अर्थात् श्वास-क्रिया पर नियन्त्रण होने के साथ ही मन पर नियन्त्रण करने की शक्ति आ जाती है। यदि हम आधुनिक वैज्ञानिक शैली में कहना चाहे तो यह कह सकते हैं कि अचेतन मस्तिष्क ध्यान की प्रक्रिया से चेतन में इस प्रकार जुड़ जाता है कि सारा ज्ञान और अनुशासन वहीं से संचालित होने लगता है। हमारे शरीर की तीन महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं प्राण-वायु, विरिचि तथा वाणी। इन तीनों में से किसी पर नियन्त्रण होने पर आत्म-नियन्त्रण हो जाता है। यदि कोई अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन अध्यात्म में रहते हुए करता है तो उसे आत्म-नियन्त्रण शक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राण-वायु का संधान अर्थात् प्राणायाम की प्रक्रिया से भी मन वश में हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने *गीता* के छठे अध्याय में प्राणायाम की क्रिया का तथा अन्यत्र अध्यायों में भी यथा आठवें अध्याय में भी इसका वर्णन किया है। तत्त्वतः यौगिक क्रिया में ध्यान को केन्द्रित करने में प्राणायाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वाणी

यदि सत्य वाणी का प्रयोग निरन्तर किया जाए तो *आत्म-नियन्त्रण* हो जाता है। चालीस वर्ष तक सत्य का प्रयोग करने पर किसी भी दशा में सत्य के द्वारा "कुण्डलिनी शक्ति" जग जाती है, तथा संकल्प-शक्ति चर्मावस्था में पहुँच जाती है। इन तीनों प्रक्रियाओं में प्राणायाम एवं ध्यान सर्वश्रेष्ठ उपाय है। यद्यपि इन तीन मूल बातों के अतिरिक्त और भी तरीकों से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् किया जा सकता है क्योंकि ईश्वर तक पहुँचने के अनन्त मार्ग हैं –

गगन नखत तन रोवाँ जेते।
विधना के मारग हैं तेते॥
– जायसी के *पद्मावत* से

जगत् गुरु शंकराचार्य ने (बानवें) ६२वें श्लोक में जिस प्रकार वर्णन किया है उससे कुण्डलिनी का वर्णन स्पष्ट हो जाता है, उनके वर्णन से पता चलता है –

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः
शिवः स्वच्छच्छायाघटितकपटप्रच्छदपटः।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरी शृंगारो रस इव दृशां दोग्धि कुतुकम्॥

अर्थात् ब्रह्मा, हरि, रुद्र और ईश्वर द्वारा रक्षा किए जाने वाले (क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत चक्र) तेरे मंच के चार पाये हैं अर्थात् चारों तेरा मंच बनाते हैं। उस पर बिछी हुयी स्वच्छ छाया की बनी हुई कपट-रूपी माया की चादर शिव है जो तेरी प्रभा के झलकने के कारण अरुण दीख पड़ने से ऐसी प्रतीत होती है मानों शृंगार रस शरीरी बनकर दृष्टि में कौतूहल उत्पन्न कर रहा है।

सूक्ष्म को समझने के लिए स्थूल रूप में जो प्रतिपादन यहाँ प्रस्तुत किया गया है इसमें प्रथम स्पन्द आज्ञा चक्र में सदाख्य अर्थात् अर्धनारीश्वर शिव विशुद्ध में ईश्वर, रुद्र, विष्णु ब्रह्मा क्रमशः नीचे चक्रों में अधिदेव हैं। रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत हैं और जीव माया के अन्तर्गत है। अन्य चौबीस तत्त्वों का संघात-रूपी देह अशुद्ध करती हुई विशुद्ध चक्र में अपने विशुद्ध रूप में विराजमान लगती है। दूसरे शब्दों में आज्ञा चक्र में ही शक्ति का स्पन्दन होना शुरू होता है। नीचे के चक्रों में चेतना क्रमशः विकसित होती हुई आगे बढ़ती है। कुण्डलिनी की क्रिया प्राचीन भारत की गूढ़ प्रक्रिया है बाद के साधकों ने इसमें थोड़ा परिवर्तन किया है वे आज्ञा चक्र से ही ध्यान प्रारम्भ करते हैं। *गीता* के आठवें अध्याय में भी आज्ञा चक्र से ध्यान करने का वर्णन है –

प्राणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रूवोर्मध्ये प्राणामावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

– *भगवद्गीता*, व्याख्याकार राधाकृष्णनन्, पृ० २१०

अर्थात् जो व्यक्ति संसार से प्रस्थान के समय मन को भक्ति और योग बल से स्थिर करके और अपनी प्राण-शक्ति को भौहों के मध्य भली-भाँति स्थापित करके ध्यान करता है, वह दिव्य परम-पुरुष को प्राप्त करता है।

विवक्षा यह है कि ध्यान की प्रक्रिया की दिव्य अनुभूति (स्पन्दन) का आभास छठे चक्र में होता है जिसे आज्ञा चक्र कहते हैं। ये सारी बातें प्रतीकात्मक भाषा में कही गई हैं तथा शब्द सुनकर उनको समझना सरल नहीं है इस प्रतीकात्मक विधान का हम एक सरल रूप में चित्र-प्रस्तुत करते हैं जिससे चिन्तन के धरातल पर समझने में सरलता प्राप्त होगी।

चक्र	प्रतीक	भाव या सिद्धि का फल
१. मूलाधार		नित्यानन्द-परम्परा, पीयूष-धारा
२. स्वाधिष्ठान		अहंकार मोहादि नाश
३. मणिपूर		शक्ति-चेतना, ज्ञान-सन्दोह
४. अनाहत		शक्ति-चालन; परकाया-प्रवेश, काव्याम्बुधारा
५. विशुद्ध		वाग्मा, ज्ञाना, शान्तचेता, त्रिकालदर्शी
६. आज्ञा		विष्णु-स्थान, वाक्सिद्धि
७. सहस्रार		सुधाधारासार, शिवस्थान, परम पुरुष स्थान, हरिहरपद, देवापदं, अमल प्रकृति-पुरुष स्थान, नित्यानन्दपद, निर्वाण कला, हंसपद, शून्यपद, इत्यादि।

उपर्युक्त चित्रों में चेतना के विकास अभियान को दिखाया गया है। इसी प्रकार "अरविन्द" ने भी जीवन चेतना के विकास को अपने दर्शन में दिखाया है। वे कहते हैं कि – जड़ पदार्थ का "चित्" का भी सम्बन्ध है उन्होंने सच्चिदानन्द ब्रह्म को कहा है। ब्रह्म = सत् + चित्-शक्ति + आनन्द

उन्होंने इसकी एक विकास-शृंखला प्रस्तुत की है वे कहते हैं ब्रह्म सत् है, इसका यह अर्थ है कि उनका अस्तित्व तीनों काल में अक्षुण्ण रहता है। ब्रह्म सृष्टि के पूर्व था और अब भी व्यक्त हो रहा है। वे कहते हैं –

> आत्मा से भौतिक तत्त्व तक सर्वत्र सत् ही व्याप्त है। "सत्" वस्तु का "चित्" होना भी आवश्यक है। वे कहते हैं कि यदि "सत्" जड़ होता तो उससे चेतना की अभिव्यक्ति नहीं होती। उन्होंने विकास के सात क्रम बताए हैं। भौतिक वस्तु-जीवन-मन-अतिमन-आनन्द-चित्शक्ति-सत्। वैदिक ऋषियों ने सप्त रश्मियों का उल्लेख किया है। अरविन्द का चिन्तन इस अर्थ में आधुनिक है कि वह विकासवाद से समर्थित है। उनके अधिमानस की कल्पना भी तर्क के क्रम में सही पड़ती है। यदि अरविन्द के चिन्तन को हम निम्नलिखित रूप में देखें तथा उसमें आत्मा को शामिल कर दें तो सत्ता के कुल आठ पक्ष हो जाएंगे तथा सृष्टि की विकास-प्रक्रिया को समझने में सरलता होगी।

सत्..भौतिक वस्तु।

चित्-शक्ति..................................जीवन

आनन्द......................................आत्मा

अतिमन......................................मन।

वस्तुतः अरविन्द के चिन्तन में विकासवाद का पहलू विज्ञान के समीकृत है। उनकी यह कल्पना कि अतिमानव भी धरती पर होगा पर्याप्त आशावादी है। जब हम चेतना के विकास के बारे में अध्ययन करते हैं तब हमें दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों तथ्यों का सहारा लेना पड़ता है। शंकराचार्य प्रणीत *सौन्दर्यलहरी* में "कुण्डलिनी" को देवी सौन्दर्य के रूप में प्रस्तुत करने की क्रिया "मनोविज्ञान" के उदात्तीकरण (sublimation) के समकक्ष है।

"फ्रॉयड" ने काम-भावना के उदात्तता की बात कही है तथा यह बताया है कि किस प्रकार से काम-भावना को उदात्त करने के बाद कोई व्यक्ति कवि बन जाता है या अपनी प्रतिभा को दूसरे उदात्त रूप में प्रस्तुत करता है। शंकराचार्य ने कुण्डलिनी को देवी के रूप में प्रस्तुत किया है तथा देवी के रूप को सुन्दरतम नारी के रूप में प्रस्तुत किया है जिससे उनकी उदात्तता का

विकास हुआ है। एक प्रकार से काम का दमन हुआ है दूसरे शब्दों में काम का परिष्करण हुआ है। काम के परिष्करण होने पर व्यक्ति की रुचि, दृष्टि सभी व्यापक बन जाती हैं तथा उच्चतम बिन्दुओं को देखने की अन्तर्दृष्टि भी प्राप्त हो जाती है। शिव द्वारा कामदेव को जलाने की जो कथा है उसका अभिप्राय एक योगी के सारभौम दृष्टि का प्रकाशन है जब योगी की शिव-तत्त्व से समरसता स्थापित हो जाती है। दूसरे शब्दों में उसकी चेतना का परिष्करण हो जाता है तब वह दिव्यलोक का दृष्टा बन जाता है। उसकी प्रतिभा के विविध आयाम पुष्पित और पल्लवित होने लगते हैं। सम्पूर्ण मानव जीवन "मनोविज्ञान" की भाषा में S.O.R. (Stimulus-Organis Responses) (प्रेरक-व्यक्ति-प्रतिक्रिया) है।

प्रेरक व्यक्ति और प्रतिक्रिया के त्रिक् में मानव का विकास होता है। दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि लोग चलचित्र देखने जाते हैं और अपने तनाव दूर करते हैं। इसी प्रकार विविध परिप्रेक्ष्यों में चेतना का विकास एवं समायोजन होता है। मनोविज्ञान की बहुत ऐसी पद्धतियाँ हैं जिनमें सौन्दर्य के माध्यम से मानव विकृति को दूर किया जाता है। तत्त्वतः सौन्दर्य ऐसी वस्तु है जो चेतना का अद्‌भुत वरदान है। "अद्‌भुत वरदान चेतना का सौन्दर्य है जिसे सब कहते हैं"। इसी प्रकार जो ध्वनि तत्त्व है उसका भी जीवन की प्रेरणा में अद्‌भुत योग है। उपनिषदों में कहा गया है कि – एक बार देवता मृत्यु के भय से भयभीत हो गए थे तभी उन्होंने अपने को छन्दों में समावृत्त कर लिया, यह "छन्द संगीत" ही था। "संगीत" के केन्द्र में नाद है। प्राचीन-कालीन साधना में "नाथ योगियों" ने "नाद-बिन्दु" की जो कल्पना की थी उससे शब्द और प्रकाश की अभिव्यक्ति होती थी। शिव-शक्ति की कल्पना जगत् और चेतना की कल्पना है, प्रकृति और काल की कल्पना है। इन्हीं तथ्यों को लेकर भारतीय दर्शन में मुख्य रूप से आगमों में चिन्तन किया गया है। दर्शन की कल्पना मानव को विज्ञान के द्वार तक पहुँचाती है तथा आज भी विज्ञान का मार्गदर्शन कर रही है।

Sir Albert Einstein's Theory of Relativity (आइंस्टीन का सापेक्षवाद) भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। जैसाकि हमने पहले कहा है – काल और प्रकृति, पदार्थ और ऊर्जा जिन्हें भूत और देव-तत्त्व कहते हैं का रेखांकन हमारे दर्शनों में हुआ है।

आइंस्टीन ने सापेक्षवाद में कहा है कि – किसी वस्तु की गति जिस अनुपात में बढ़ेगी उसका वजन उसी अनुपात में बढ़ जाएगा यह बात दर्शन के लिए भी उतनी ही सत्य है। जब हम किसी सुन्दरी में दैवीय शक्ति की

अद्‌भुत कल्पना करते हैं तब हमारी मानसी-शक्ति का वेग अधिक हो जाता है और हमें आकर्षण के विरोध को झेलने की अद्‌भुत क्षमता प्राप्त हो जाती है।

शिव-शक्ति को एक बिन्दु पर मिला हुआ दिखाया गया है इसका प्रमाण "जीव-विज्ञान" के विकसित सिद्धान्तों में भी पाया जाता है। व्यष्टि जगत् में यदि पुरुष को शिव और नारी को शिवा मान लिया जाए तो यह प्रत्यांकन इस प्रकार होगा।

स्त्री - पुरुष

XX XY
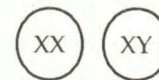
शिव-शक्ति
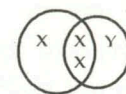
स्त्री और पुरुष में XY क्रोमोसोम होते हैं स्त्री में XX तथा पुरुष में XY होते हैं। इसका अर्थ है कि हर पुरुष में स्त्री है तथा हर स्त्री में पुरुष है। तत्त्वों की यह भिन्नता विकास की प्रक्रिया है। जब दो भिन्न तत्त्व एक बिन्दु पर मिलते हैं तभी विकास कार्य प्रारम्भ होता है।

प्रकृति में यही धन ऋण (+, -) तत्त्व प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन के रूप में जाने जाते हैं। यद्यपि इन तत्त्वों को XY से समीकृत नहीं किया जा सकता तथापि विकास की सम्भावना को अवश्य दिखाया जा सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल की व्याख्या देखी जा सकती है –

> प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके ही परम तत्त्व का अनुभव करना सर्वोच्च और अमृत ज्ञान है। शक्ति से घटित और विघटित होने वाले परमाणुमय परिणामों और परिवर्तनशील विकारों के रूप जितना यह जगत् है उसके मूल में निहित एकता को जान लेना संसार का सबसे महान् साध्य है।

विज्ञान इस विश्वव्यापी एकत्व का अनुसन्धान बड़े वेग से कर रहा है, और यह देखकर चकित हो जाना पड़ता है कि विश्व-सृष्टि और विश्व के आधार के विषय में दर्शन और विज्ञान का सान्निध्य कितनी तीव्र गति से दिन-दिन बढ़ रहा है। स्थूल प्रकृति मूल में परमाणुमय है। परमाणु की रचना सौर-मण्डल से मिलती है, अर्थात् एक केन्द्र के चारों ओर परमाणु के केन्द्र और इलेक्ट्रॉनों के बीच में सौर-मण्डल के समान ही अपेक्षाकृत वृहद् अन्तरिक्ष या आकाश (शून्य) है। इसी अन्तरिक्ष के कारण हिरण्यगर्भ दशा से प्रकृति विराट् दशा में आती है। यह हिरण्यगर्भ दशा प्रकृति की है। यह सूक्ष्म या तैजस अवस्था है। विराट् प्रकृति में अन्तरिक्ष या आकाश प्रकृति को स्थूल रूप देता है। उस दशा

में उसकी संज्ञा वैश्वानर भी है। स्थूल बहिःप्रज्ञ और ऋण विद्युत कण बड़ी दुर्धर्ष गति से घूमते हैं। बीच के केन्द्र में धन विद्युत रहती है और उसी के बल पर ऋण विद्युत कण परमाणु के भीतर समत्व में युक्त या निरुद्ध रहते हैं। परमाणु के अन्दर के ऋण और धन विद्युत (इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन) वस्तुतः एक ही विश्वव्यापी शक्ति के दो रूप हैं। सृष्टि-प्रजनन के लिए आरम्भ में ही प्रजापति ने आत्मदेह को द्विधा करके उत्क्रान्त किया।

विज्ञान ने इसे ऋण और धन विद्युत कहा है। धर्मग्रन्थ इसे शिव-शक्ति, पुरुष-स्त्री, चन्द्र-सूर्य, प्राण-अपान आदि अनेक नामों और भावों से व्यक्त करते हैं। जो तत्त्व एक परमाणु को नियन्त्रित करता है वही विराट्-ब्रह्माण्ड का ही नियन्त्रण करने वाला है। इसीलिए विराट्-जगत् में भी जितने उत्पादन कार्य हैं उनका फल तब तक हो ही नहीं सकता जब तक पुरुष-योषित अथवा ऋण-धन जैसे दो ध्रुव परस्पर मिथुनवान न हों – "मिथुनम् उत्पादयते जगत्" – इस कारण जिसे हम सामान्यतया जड़ समझते हैं, जैसे वनस्पति औषधि, आदि, उसमें भी पुरुष और स्त्री का भाव काम कर रहा है।

इन पक्तियों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि हमने जो वैचारिक धारणा उपस्थित की है, वह संगत है।

चतुर्थ परिच्छेद

उभय ग्रन्थों में तन्त्र के प्रस्थान बिन्दु

जहाँ तक तन्त्र के विवेचन का प्रश्न है वह *सौन्दर्यलहरी* में *दुर्गासप्तशती* की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्रयुक्त है। इस सन्दर्भ में कतिपय उदाहरण प्रस्तुत है – *सौन्दर्यलहरी* एक तान्त्रिक ग्रन्थ है। शंकराचार्य कृत *सौन्दर्यलहरी* ने सबको आकर्षित किया है।

प्रथम श्लोक में आचार्य शंकर लिखते हैं – यदि शिव-शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने में शक्तिमान होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने योग्य भी न होता। इसीलिए देवी को हरिहर और ब्रह्मा भी प्रणाम करते हैं। ऐसी दशा में किसी पुण्यहीन मनुष्य की सामर्थ्य नहीं है कि माँ वह तेरी स्तुति कर सके। यहाँ शिव-शक्ति का जो प्रतिपादन हुआ है। उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। शिव का रूप परब्रह्म है जो प्रकृति सहित सभी तत्त्वों का लय स्थान है। इसीलिए सदैव उनको समाधिष्ट दिखाया जाता है और उनका स्थान सहस्रार है। शक्ति ज्ञानाग्नि का रूप है जो सभी शुभाशुभ कर्मों को भस्म करके सब तत्त्वों को अपने-अपने कारण में लीन करती हुई, साधक को सर्वकारणभूत ब्रह्म में लीन कर देती है। शक्ति ब्रह्मा के आदि संकल्प के स्फुरणा का प्रथम स्पन्द है, वही प्राण-शक्ति है, वही इच्छा-क्रिया और ज्ञान-शक्ति है। दूसरे शब्दों में यही कुण्डलिनी शक्ति है। यहीं तन्त्र का प्रारम्भ होता है।

ॐ ज्ञानिनामपिचेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

अपने भक्तों को कल्पवृक्ष के सदृश मनोवांछित भोग दुर्गा माँ देती है। *दुर्गासप्तशती* के पाचवें अध्याय में जो उनकी स्तुति की गई है तथा उनके गुणों का रेखांकन किया गया है यथा उनको चेतना-रूप अथवा "चिति-रूप" मानकर उनको नमस्कार किया गया है वहाँ पर तन्त्र के दर्शन होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि दोनों ग्रन्थों में माँ का जो रूप प्रस्तुत किया गया है वहाँ तन्त्र विद्यमान है। *दुर्गासप्तशती* के अध्याय प्रथम के ७३ से ८७ श्लोक तक जो विवरण है उसमें तन्त्र की सामग्री का सांगोपांग-रूप उपस्थित है –

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥
त्वमेव संध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये।
महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी।
प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा।
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च।
खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा ॥
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा।
सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ॥
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।
यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।
यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।
विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ॥
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्।
सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता ॥
मोहयैतौ दुराधर्षावसुरौ मधुकैटभौ।
प्रबोधं च जगत्स्वामी नीयतामच्युतो लघु ॥
बोधश्च क्रियतामस्य हन्तुमेतौ महासुरौ ॥

अर्थात् देवी! तुम्हीं स्वाहा, तुम्ही स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार – इन तीन मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो तथा इन तीन मात्राओं के अतिरिक्त जो बिन्दुरूपा नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेष रूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्हीं हो। देवी! तुम्हीं सन्ध्या, सावित्री तथा परम जननी हो। देवी! तुम्हीं इस विश्व-ब्रह्माण्ड को धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत् की सृष्टि होती है। तुम्हीं से इसका पालन होता है और सदा तुम्हीं कल्प के अन्त में सबको अपना ग्रास बना लेती हो। जगन्मयी देवी! इस जगत् की उत्पत्ति के समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालन-काल में स्थितिरूपा हो तथा कल्पान्त के समय संहाररूप धारण करने वाली हो। तुम्हीं महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति, महामोहरूपा, महादेवी और महासुरी हो। तुम्हीं तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली सबकी प्रकृति हो। भयंकर कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रि भी तुम्हीं हो। तुम्हीं श्री, तुम्हीं ईश्वरी, तुम्हीं ह्रीं और तुम्हीं बोधस्वरूपा बुद्धि हो। लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति और क्षमा भी तुम्हीं हो। तुम खड्गधारिणी, शूलधारिणी, घोररूपा तथा गदा, चक्र, शङ्ख और धनुष धारण करने वाली हो। बाण, भुशुण्डी और परिघ – ये भी तुम्हारे अस्त्र हैं। तुम सौम्य और सौम्यतर हो – इतना ही नहीं, जितने भी सौम्य एवं सुन्दर पदार्थ हैं, उन सबकी अपेक्षा तुम अत्यधिक सुन्दरी हो। पर और अपर – सबसे परे रहने वाली परमेश्वरी तुम्हीं हो। सर्वस्वरूपे देवी! कहीं भी सत्-असत् रूप जो कुछ वस्तुएं हैं और उन सबकी जो शक्ति है वह तुम्हीं हो। ऐसी अवस्था में तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है? जो इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान् को भी जब तुमने निद्रा के अधीन कर दिया है, तब तुम्हारी स्तुति करनें में यहाँ कौन समर्थ हो सकता है? मुझको, भगवान् शंकर को तथा भगवान् विष्णु को भी तुमने ही शरीर धारण कराया है; अतः तुम्हारी स्तुति करने की शक्ति किसमें है? देवी! तुम तो अपने इन उदार प्रभावों से ही प्रशंसित हो। ये दोनों दुर्धर्ष असुर मधु और कैटभ हैं इनको मोह में डाल दो और जगदीश्वर भगवान् विष्णु को शीघ्र ही जगा दो। साथ ही इनके भीतर इन दोनों महान् असुरों को मार डालने की बुद्धि उत्पन्न कर दो।

यहाँ प्रणव कला जो शक्ति की कला है सहस्रार में दिखती है। मार्कण्डेय ऋषि ने अकार, उकार, मकार के पश्चात् जो अर्धमात्रा की बात कही है उसमें देवी के ध्यानस्थ रूप का बिम्बन है। जब योगी दर्शन करता है तो तीसरी मात्रा विद्युतवत् चमकती हुई दिखाई देती है। ऋषि ने यहाँ दुर्गा के जिस सांकेतिक

रूप में जागतिक रूप को समाहित किया है उसे योगी पुरुष ही देख सकता है।

काल और प्रकृति का मेल शिव-शक्ति का मेल है। हर चक्र के कला की संख्या का विवेचन इस प्रकार है – मूलाधार के देवता ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान के विष्णु, मणिपूर के रुद्र, अनाहत के ईश्वर, विशुद्ध के सदाशिव और आज्ञा के परशिव। मणिपूर की कला संख्या १०, अनाहत की १२ और विशुद्ध की १६ कलाएँ हैं अर्थात् अग्नि के १० तत्त्व, सूर्य की १२, चन्द्रमा की १६ कलाएँ होती हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र प्रत्येक की १०-१० कलाएँ हैं। ईश्वर की ४ और सदाशिव की १६ कलाएँ हैं। मूलाधार की ४, स्वाधिष्ठान की ६ और आज्ञा की २ कलाएँ हैं। यदि समस्त कलाओं का योग किया जाए तो १०० के बराबर होता है। तत्त्वतः यह ईश्वरी शक्ति की निम्न एवं उच्च महिमा की प्रतीक हैं। ध्याता ऋषि ने यहाँ कुण्डलिनी को माँ दुर्गा के रूप में प्रस्तुत करके समस्त साधना की कुंजी को दिखाया है। इस कुंजी के आयाम को ही हमने ऊपर चक्रों के परिक्षेत्र में गिनाया है। इस प्रकार *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में ही जो दुर्गा की आराधना है वह तन्त्र से जुड़ जाती है।

इसी प्रकार पाँचवें अध्याय में जो देवी के ध्यान के लिए चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें माँ का स्वरूप प्रकृति के रूप में दिखाया गया है। उदाहरणार्थ – माँ की कान्ति शरद् ऋतु की शोभा सम्पन्न चन्द्रमा के समान मनोहर है। अभिप्राय यह है कि शिव की शक्ति को सूर्य के प्रकाश से तथा शक्ति की शक्ति को चन्द्रमा से उपमित किया गया है।

पाँचवें अध्याय में नौवें से अस्सीवें (९-८०) श्लोक तक जो चित्रांकन है उसमें मानव एवं प्रकृति का कुछ भी शेष नहीं बचता है यथा – शिवा और प्रकृति, गौरी आदि का स्तवन, उसके पश्चात् चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, दया, तुष्टि, माता, भ्रान्ति सब में माँ का दर्शन किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रकृति के रूप में शक्ति को देखा गया है। इस शक्ति के दर्शन में ही शक्ति की आराधना है। यह आराधना शक्ति और शिव के मिलन की कारण है। अतएव यहाँ भी तन्त्र की पुष्टि होती है। यहाँ प्रेय की वस्तुओं को श्रेय की वस्तुओं के साथ जोड़कर आराधना का जो रूप प्रस्तुत किया गया है वह तन्त्र में ही सम्भव है क्योंकि तन्त्र में श्रेय को प्रेय का उदात्त रूप माना जाता है। हमने भूमिका में इस बात को स्पष्ट किया है।

इसी क्रम में हम शंकराचार्य की *सौन्दर्यलहरी* में कुण्डलिनी जागरण का तान्त्रिक परिप्रेक्ष्य पाते हैं। वैसे तो आनन्दलहरी के प्रथम से लेकर इकतालीसवें (१-४१) श्लोक तक जो शक्ति के स्वरूप का रूपांकन है। प्रामाणिक रूप से तन्त्र से सम्बद्ध है तथा समस्त की व्याख्या कर उसमें तन्त्र दिखाना बहुत युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता है किन्तु छत्तीसवें से लेकर इकतालीसवें (३६-४१) श्लोक तक षटचक्रों का सीधा प्रत्यांकन देखा जा सकता है।

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शंभुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोकेऽलोके निवसति हि भालोकभुवने ॥३६॥

अर्थात् तेरे आज्ञा चक्र में स्थित करोड़ों सूर्य चन्द्र के तेज से युक्त परशिव की वन्दना करता हूँ, जिसका नाम पार्श्व परांचिति एकीभूत है। उसकी जो मनुष्य भक्तिपूर्वक आराधना करते हैं, वे उस प्रकाशमान लोक में निवास करते हैं, जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि का विषय नहीं है अथवा सब आतंकों से मुक्त है अथवा सूर्य, चन्द्र और अग्नि का विषय न होने के कारण उनके प्रकाश से प्रकाशित नहीं है।

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम्।
ययोः कान्त्या यान्त्याश्शशिकिरणसारूप्यरसणेः
विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती ॥३७॥
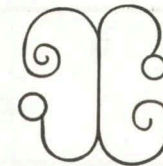
अर्थात् तेरे विशुद्ध चक्र में आकाश-तत्त्व के जनक, शुद्ध स्फटिकवत् स्वच्छ शिव की और शिव के समान सुव्यवस्थित देवी की भी मैं सेवा करता हूँ, जिन दोनों की चन्द्रमा की किरणों के सदृश कान्ति से जगत्, जिसका अन्तरन्धकार नष्ट हो गया है, चकोरी की तरह आनन्दित सोता है।

(विशुद्ध चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सोती है। वह योगियों को मोक्षदायिनी होती है।)

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणतिः
यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमद्भ्यः पय इव ॥३८॥
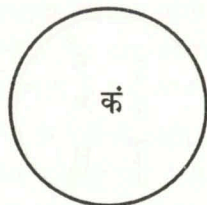
अर्थात् हृद्देश (हृदय देश) में विकसित संवित कमल से निकलने वाले मकरन्द के एकमात्र रसिक उस किसी (अद्भुत) हंसों के जोड़े का मैं भजन करता हूँ जो महान् पुरुषों के मन-रूपी मानस-सरोवर में विहार करता है, जिसके वार्तालाप का परिणाम १८ विद्याओं की व्याख्या है और जो दोषों से समस्त गुण को इस प्रकार निकाल लेता है जैसे हंस जलमिश्रित दूध से सब दूध को निकाल लेता है।

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्तं जननि महतीं तां च समयाम्।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते
दयार्द्रा या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति ॥३९॥

ठं पं पः
षं सं
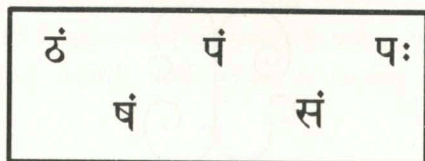
अर्थात् हे जननि! तेरे स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नि-तत्त्व को अधिष्ठान (प्रभाव) में रखने के लिए जो संवर्ताग्नि रहता है, उसकी और उस महती समया देवी की मैं स्तुति करता हूँ। जिस समय संवर्ताग्नि बड़ी क्रोध भरी दृष्टि से लोकों को जलाने लगता है, उस समय समया देवी की दयार्द्र दृष्टि शीतल उपचार करती है।

तटित्त्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया
स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम्।
तव श्यामं मेघं कमपि मणिपूरैकशरणं
निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम् ॥४०॥
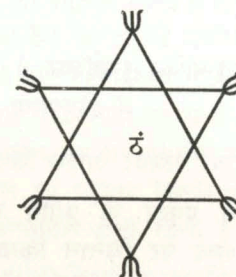
अर्थात् तेरे मणिपूर की शरण में गए हुए श्याम मेघों के रूप धारण करने वाले कं जल की भी सेवा करता हूँ, जिसमें अन्धकार की परिपन्थिनी अर्थात् प्रतिद्वन्द्विनी बिजली की चमक, आभरणों में जटिल नाना रत्नों की चमक सदृश इन्द्रधनुष का रूप धारण किए हुए हैं और जो अग्नि और सूर्य के ताप से सन्तप्त त्रिभुवन पर वर्षा कर रहे हैं।

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम् ॥४१॥

यं
ह्रीं
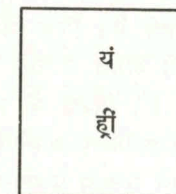
अर्थात् तेरे मूलाधार में लास्यपरा अर्थात् नृत्य करती हुई समया देवी के साथ, नवधा सम्पूर्ण ताण्डव नृत्य करने वाले नटेश्वर नवात्मा शिवजी का मैं चिन्तन करता हूँ। यह जगत् इन दोनों को जनक-जननीवत् दया से प्रभावाभिमुख होने के कारण अपने को सनाथ मानता हूँ।

उपर्युक्त षट्चक्रों के भेदन की जो प्रक्रिया प्रस्तुत की गई है। उसका अपना ध्यान व्यावहारिक महत्त्व भी है। जब हम अपना ध्यान निर्धारित बिन्दुओं पर केन्द्रित करते हैं; तब आत्म-संयम तथा आत्म-नियन्त्रण की प्रक्रिया हमारे व्यक्तित्त्व में संचालित होने लगती है। ध्यान की प्रक्रिया मनुष्य के चेतन विकास की प्रक्रिया है। ध्यान की प्रक्रिया में जब कल्पना जुड़ती है तब सृजनात्मक क्षमता का विकास होता है इसे ही माया की विक्षेप-शक्ति कहा गया है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिंन तु महेश्वरः ॥

– *लिङ्गपुराण*

अर्थात् प्रकृति माया है तथा महेश्वर अथवा शिव उसके प्रकाशक हैं।

आज मनोविज्ञान में विविध प्रकार के प्रयोग चल रहे हैं। अमेरिकन मनोवैज्ञानिकों ने "आत्म" शब्द पर चिन्तन किया है, उन्होंने आत्मसिद्धि नामक गुण को सर्वोपरि गुण माना है। मनोविज्ञान में "स्व" के विकास को परिवेश से जोड़कर दिखाया गया है, जो स्वाभाविक भी है। कुण्डलिनी जागरण में स्व-विकास की प्रक्रिया को (जो श्रेय है) प्रेय की सहायता से किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य के भीतर प्रकृति की उदात्ता का संचार होने लगता है यह तत्त्व भी निर्देशित करना अनिवार्य हो जाता है। आखिरकार कुण्डलिनी जागरण ही मात्र विकास का साधन है इसका उत्तर है – कुण्डलिनी साधन विकास की प्रक्रिया में जिस आधार को प्रस्तुत करता है उसमें ध्यान की प्रक्रिया प्रमुख है।

आज के युग में ध्यान की प्रक्रिया को विकसित करने के अनेक उपाय हैं किन्तु सारे उपायों के केन्द्र में ध्यान बिन्दु प्रमुख हैं। चिन्तन के विकास के लिए ध्यान और कल्पना दोनों की आवश्यकता होती है। कल्पना का विकास सांसारिक सर्वेक्षण से प्राप्त होता है। जिस प्रकार बच्चे कहानी सुनकर तत्सम्बन्धित अनेक बातें सोचने लगते हैं वैसे ही संसार के निरीक्षण से कल्पना-शक्ति का जन्म होता है। विश्व के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों – न्यूटन (Newton) आइंस्टीन (Einstein) आदि ने अपने चिन्तन में भौतिक विज्ञान के जिन सूत्रों की खोज की है उनमें उनकी प्रेक्षण-शक्ति का विशेष महत्त्व है।

किन्तु इसके साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेक्षण के लिए उन्होंने कुछ निश्चित आयाम ही चुने थे। निश्चित आयाम को चुनने के कारण उनके चिन्तन विकास की प्रक्रिया सहज एवं उदात्त रूप में विकसित हुई है।

दर्शन में याज्ञवल्क्य ने आत्मा के विषय में जो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं उसमें प्रमुख है, ध्यान और निदिध्यासन –

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो।
मैत्रेयात्मनि खल्वरे द्रष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वविदितम् ॥

– बृहदारण्यक, ४.५.६

आज के प्राचीन एवं आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों ने अध्ययन एवं मनन के साथ शिक्षा में अनेक पद्धतियों को शामिल किया है जिनका मूल उद्देश्य कल्पना एवं चिन्तन-शक्ति का विवर्धन है। भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली जिसमें बौद्ध शिक्षा-प्रणाली महत्त्वपूर्ण है, उनमें निदिध्यासन के स्थान पर अनेक व्यावहारिक प्रक्रियाओं को प्रस्तुत किया गया है जो मानव के मस्तिष्क को विकसित करती हैं। समाज के परिवेश में रुचि का विकास होता है यह रुचि प्रेय से जुड़ी होती है। रुचि के कारण ध्यान की प्रक्रिया विकसित होती है। युग के प्रवाह में वस्तुओं की उपादेयता परिवर्तित होती रहती है।

आज समस्त शिक्षा-शास्त्री वैज्ञानिक जागतिक वस्तुओं को प्रमुखता देते हैं और दिया भी जाना चाहिए। *ईशावास्योपनिषद्* में कहा गया है – जो लोग केवल अपने भीतर ही ब्रह्म का निवास मानते हैं; वे अपूर्ण हैं। बाहर भी ईश्वर का निवास है। उपनिषद् के इस तथ्य को इस प्रकार कहा जा सकता है – मानव के अन्तःकरण में ईश्वर विद्यमान है। साथ ही बाहरी प्रकृति भी ईश्वर से रिक्त नहीं है। अतएव आज जो शैक्षिक वैज्ञानिक अध्ययन समाज तथा विश्व के बारे में हो रहे हैं वे भी ईश्वर के प्रति सम्मान ही हैं। तत्त्वतः कुण्डलिनी की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली केवल आत्म-मुक्ति की शिक्षा-प्रणाली नहीं है वास्तव में वह मानव मस्तिष्क के अन्तर्विकास की प्रणाली है जिसकी उपयोगिता आज भी निर्विवाद रूप से बनी हुई है।

आज मनोविज्ञान मानता है कि सौन्दर्य मस्तिष्क के केन्द्रीकरण के लिए सर्वोत्तम साधन है। यदि हम आज की सभ्यता में देखें तो मनोवैज्ञानिकों ने जो बातें याद की हैं व्यवहार में उनका उपयोग एवं दुरुपयोग हो रहा है तथापि सिद्धान्त की महानता पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

अतएव भारत का आध्यात्मिक चिन्तन मस्तिष्क के केन्द्रीकरण का मार्ग

निर्देशन करता है इसीलिए विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि यदि मुझे अपनी शिक्षा फिर से प्रारम्भ करनी हो तो मैं ध्यान को केन्द्रित करना भी सीखूँगा।

भारतीय संस्कृति में अनेक संस्कृतियों का मेल है। सामाजिक चिन्तकों का मानना है कि शिव, कार्तिकेय और गणेश सम्भवतः द्रविड़ (दक्षिण) संस्कृति के देवता थे। इन्हें भारतीय संस्कृति ने आत्मसात् कर लिया। शंकराचार्य ने स्वयं को "द्रविड़-शिशु" कहा है। चिन्तन के विविध आयाम ब्रह्म के "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायै" की अनुमिति करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुण्डलिनी साधना जिसका प्रारम्भ योगियों ने किया था, उसके भीतर निहित तत्त्व जिनमें ध्यान और कल्पना प्रमुख हैं। आज की सभ्यता के विकास के मेरुदण्ड हैं। कोई भी वस्तु मूलावस्था में विकास के बीज को स्वयं में धारण किए रहती है। यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति के विकास को व्यावहारिक जीवन में सीधे नहीं ग्रहण किया गया है। किन्तु उसके मूल तत्त्वों को अर्थात् ध्यान और कल्पना को आज भी विकसित किया जा रहा है।

उपर्युक्त तन्त्र-विषयक तथ्य सांस्कृतिक अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य में दर्शन और संस्कृति अवश्य आते हैं यदि मार्कण्डेय-कालीन संस्कृति को देखा जाए तो गुप्त-काल का परिवेश ठहरता है। समस्त पुराणों की रचना का एक काल है। यह पुराण अपने काल से विचारात्मक इतिहास संग्रहीत करते हैं।

दुर्गासप्तशती में वैश्य का ब्राह्मण के पास जाकर अपनी दरिद्रता बताना, तथा ब्राह्मण द्वारा देवी की उपासना करने को कहना यह सामान्य सी बात है। देवी की उपासना की पद्धति युग के धार्मिक धरातल को बताती है। राक्षसों को जो अस्त्र-शस्त्र दिए गए हैं वे तत्कालीन सेनाओं के अस्त्र-शस्त्र हैं। महिषासुर, चण्ड-मुण्ड आदि द्वारा कहे गए वचन नारी की सामाजिक स्थिति को बताते हैं। दुर्गा का युद्धभूमि में असुर को सम्बोधित करके कहना कि "मैं जब तक मधुपान करती हूँ तू तब तक गरज ले," यह इस बात का द्योतक है कि युद्ध में शक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष प्रकार के पेय पीए जाते थे। ये बातें सामाजिक परिवेश को बताती हैं। असुर का यह कहना कि मैं केश-कर्षण करके पकड़ ले आऊँगा। यह नारी के सम्मान पर प्रश्न-चिह्न लगाता है।

दुर्गा की दिव्य शक्तियों का प्रकाशन रचनाकार की कल्पना से संचालित होता है। एक का अनेक होना तथा अनेक शक्तियों का एक स्थान पर जुड़ जाना चमत्कारिक नहीं वैज्ञानिक संधान है। इस प्रकार *दुर्गासप्तशती* में समाज तथा युद्ध-प्रक्रिया के उपायों का चिन्तन है। किन्तु जब हम माँ भगवती के आराधना के मन्त्रों को पढ़ते हैं तो उसमें तन्त्र-दर्शन की तरलता प्रवाहित होती दिखती है। इस तन्त्र-दर्शन का हमने इस अध्याय में विशेष रूप से अध्ययन प्रस्तुत किया है।

यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तन्त्र का प्रकाशन सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवेश में ही सम्पन्न होता है। शक्ति की उपासना का सम्बन्ध तन्त्र-दर्शन से जुड़ा है। इस तन्त्र-दर्शन के विकास में "द्रविड़ संस्कृति" का विशेष योगदान है।

सौन्दर्यलहरी में शंकराचार्य ने शक्ति की उपासना में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे इस बात के पूर्ण प्रमाण हैं कि आर्य संस्कृति उस समय तक "द्रविड़ संस्कृति" के आवश्यक आयामों को अपने में आत्मसात् कर चुकी थी। षट्चक्रों की अवधारणा देवी के रूप में शृंगार की लवणीयता ये सभी भारतीय संस्कृति में जुड़े हुए तत्त्वों को प्रमाणित करते हैं।

अतएव तान्त्रिक अध्ययन की पूर्णता सांस्कृतिक एवं साहित्यिक अध्ययन के जुड़ने से ही होती है। इसका विवेचन हमने अलग-अलग अध्यायों में किया है।

तृतीय खण्ड

उभय ग्रन्थों में प्रतिपादित
शक्ति देवता का माहात्म्य वर्णन
एवं
भक्ति-तत्त्व विवेचन

पंचम परिच्छेद

उभय ग्रन्थों में प्रतिपादित शक्ति देवता का माहात्म्य

उभय ग्रन्थों में प्रतिपादित शक्ति देवता का माहात्म्य वर्णन अतुलनीय है। उभय ग्रन्थों अर्थात् *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* में वर्णित शक्ति देवता अर्थात् महामाया देवी भगवती का माहात्म्य भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगत होता है।

१. सर्वसामर्थ्यवती,
२. भक्तवत्सला,
३. दुष्टसंहारिणी,
४. मोक्षदात्री,
५. करुणामयी मातृ स्वरूपिणी,
६. त्रिकालदर्शिनी,
७. अतुलनीय सौन्दर्यवती,
८. मोहिनी रूपिणी,
९. विश्वात्मस्वरूपिणी

दुर्गासप्तशती और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थों में शक्ति की अधिष्ठात्री अर्थात् देवी भगवती को सर्वसामर्थ्यवती बताया गया है। (देवी भगवती सर्वत्र सर्वसामर्थ्यवती दृष्टिगत होती है।) सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ भी चर-अचर दिखाई पड़ता है, उन सभी को आश्रय प्रदान करने की शक्ति भगवती देवी में ही है। प्राणिमात्र में शक्ति का संचार करने वाली एकमात्र शक्ति की अधिष्ठात्री देवी भगवती ही हैं। देवी भगवती ही सर्वसामर्थ्यवती है। भगवती ही एकमात्र शक्ति का आधार है। *दुर्गासप्तशती* का प्रस्तुत श्लोक जिसमें कि देवताओं द्वारा देवी को ही सर्वशक्तिशालिनी सर्वसामर्थ्यवती मानकर उनकी आराधना की गई है, इस बात की पुष्टि करता है कि देवी भगवती ही एकमात्र सर्वशक्तिशालिनी हैं –

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥

– *दुर्गासप्तशती*, पञ्चम अध्याय, श्लोक ३२-३४, पृष्ठ ११२

प्रस्तुत श्लोक शुम्भ-निशुम्भ से पराजित व स्वर्गलोक से वंचित देवों ने अपनी रक्षा हेतु महाशक्ति (महामाया) की स्तुति करते समय कहा था।

भारतीय विद्वान् एवं प्राचीन आर्य भी इसी को स्वीकार करते हैं। हमारी सनातन संस्कृति के ग्रन्थ *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* में भी शक्ति देवता के रूप में देवी के स्वरूप को ही स्वीकार किया गया है।

दुर्गासप्तशती और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थों में शक्ति देवता के रूप में देवी भगवती की ही स्थापना की गई है। दोनों ही ग्रन्थों में अद्वैत दर्शन परिलक्षित होता है। *दुर्गासप्तशती* के अन्तर्गत (देवी) शक्ति की देवी के रूप में भगवान् विष्णु की शक्ति महामाया के स्वरूप की आराधना की गई है। जबकि *सौन्दर्यलहरी* में आचार्य शंकर ने शक्ति की देवी के रूप में भगवान् शंकर की शक्ति, देवी भगवती की उपासना की है। देवी के सामर्थ्यवती होने का अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में मिलता है। जब राजा सुरथ अपने राज-पाठ, आदि से वंचित निराश होकर महर्षि मेधा मुनि की शरण में जाते हैं तभी महर्षि राजा सुरथ को एकमात्र सर्वशक्तिशालिनी देवी महामाया की शरण में जाने का उपदेश देते हैं। साथ ही देवी के स्वरूप का वर्णन भी करते हैं –

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम।
– *दुर्गासप्तशती*, प्रथम अध्याय, श्लोक ६४, पृष्ठ ६८

अर्थात् – राजन्! वास्तव में तो वे देवी नित्यस्वरूपा ही हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का रूप है तथा उन्होंने समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है, तथापि उनका प्राकट्य अनेक प्रकार से होता है।

इसकी पुष्टि प्रथम अध्याय के प्रस्तुत श्लोक से भी होती है –

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
– *दुर्गासप्तशती*, प्रथम अध्याय, श्लोक ५५, पृष्ठ ६७

अर्थात् – भगवान् की यह माया जगत् को मोहित करती है, यह देवी ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है।

यहाँ महर्षि द्वारा वर्णित विष्णु की योगनिद्रा रूपी महामाया का स्वरूप अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य की माया (देवी भगवती महामाया) से अभिन्न है। शंकराचार्य ने भी माया व ब्रह्म को एकट्ट ही बताया है। आचार्य शंकर ने भी परब्रह्म (शिव) की शक्ति माया (देवी भगवती) को ही बताया है।

आचार्य शंकर के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक ३५ में भी विश्व मात्र को शक्ति का परिणाम बताया गया है –

मनस्त्वं व्योमत्वं मरुदसि मरुत्सरथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा,
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ३५, पृष्ठ ३४९

अर्थात् – हे शिवयुवती (देवी भगवती) तू मन है, तू वायु है, और वायु जिसका सारथी है – वह अग्नि भी तू है। तू जल है और तू भूमि है। तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं अर्थात् समस्त विश्व देवी भगवती की शक्ति का ही परिणाम है।

उभय ग्रन्थों के श्लोक के आधार पर देवी के सामर्थ्यवती होने की स्पष्टता सिद्ध होती है। *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में ही जब दो भयंकर दैत्य मधु-कैटभ भगवान् ब्रह्मा का वध करने को तत्पर थे तथा भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या बिछाकर योगनिद्रा का आश्रय लेकर सो रहे थे तभी ब्रह्माजी ने महामाया के वशीभूत (जिनकी शक्ति ही महामाया है) भगवान् विष्णु को निद्रा से जगाने के लिए स्वयं ही रक्षा के लिए महामाया स्वरूपिणी सर्वोच्च शक्ति का स्तवन करना प्रारम्भ किया। स्तवन करते हुए ब्रह्माजी कहते हैं –

त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
– *दुर्गासप्तशती* , प्रथम अध्याय, श्लोक ७५ उत्तरार्ध
एवं ७६ पूर्वार्ध, पृष्ठ ७०

अर्थात् – हे महामाये! तुम्हीं इस विश्व को धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत् की सृष्टि होती है। तुम्हीं से उसका पालन होता है। सदा तुम्हीं कल्पान्त में सबको अपना ग्रास बना लेती हो तथा समस्त जगत् को अपने में समाहित कर लेती हो।

आचार्य शंकर की *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक २५ में भी देवी भगवती का सर्वोपरि होना सिद्ध होता है।

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता॥
तथा हि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिता ह्येते शश्वन्मुकुलित करोत्तंसमुकुटाः॥
– *सौदर्यलहरी*, श्लोक २५, पृष्ठ २५०

अर्थात् – हे शिवे! तेरे चरणों की जो पूजा की जाती है, उससे तेरे तीनों गुणों से उत्पन्न इन देवों का भी पूजन हो जाता है। इसलिए यह उचित ही है कि ये तीनों देव तेरे चरणों को धारण करने वाले मणियों के बने आसन के निकट अपने मुकुटों की शोभा बढ़ाने के लिए हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

ब्रह्माजी ने *दुर्गासप्तशती* में देवी की स्तुति करते हुए उन्हें (देवी को) अनेकानेक नामों से सम्बोधित किया है।

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः॥

महामोहा च भवती महादेवी महासुरी।
प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी॥
– *दुर्गासप्तशती,* प्रथम अध्याय, श्लोक ७७ का उत्तरार्ध एवं ७८, पृष्ठ ७०

अर्थात् – हे सर्वशक्तिशालिनी महादेवी तुम्हीं तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली सबकी प्रकृति हो।

दुर्गासप्तशती में अद्वैतवाद की स्थापना की गई है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् में जो कुछ भी सत्-असत् विद्यमान है, उन सभी का कारण विष्णु की शक्ति योगनिद्रा रूपी महामाया ही है। उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

भक्तवत्सला

शक्ति देवता महामाया देवी भगवती के भक्तवत्सला होने के भी पर्याप्त उदाहरण उभय ग्रन्थों (*दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी*) में मिलते हैं। देवी की भक्तवत्सलता सम्पूर्ण *दुर्गासप्तशती* में अनेक स्थानों पर दृष्टिगत होती है। देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, अर्थात् प्राणिमात्र में जो भी देवी की भक्तिपूर्वक उपासना (आराधना) करता है। देवी भगवती उस पर प्रसन्न होकर उसे मनवांछित फल प्रदान करती है।

दुर्गासप्तशती के द्वादशाध्याय (श्लोक २) में स्वयं देवी भगवती ने अपने मुख से वचन कहे हैं –

एभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः।
तस्याहं सकलां बाधां नाशयिष्याम्यसंशयम्॥
– पृष्ठ १७१

अर्थात् – देवताओ! जो एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन इन स्तुतियों से मेरा स्तवन करेगा, उसकी सारी बाधा मैं निश्चय ही दूर कर दूँगी।

प्रस्तुत श्लोक से देवी के भक्तवत्सल होने का प्रमाण स्पष्टतः प्राप्त हो रहा है। इसके साथ ही राजा सुरथ एवं वैश्य दोनों ही महर्षि मेधा के द्वारा देवी की शक्ति एवं भक्तवत्सलता को सुनकर (जानकर) नदी-तट पर देवी की मिट्टी की मूर्ति स्थापित करके घोर तपस्या में लीन हो जाते हैं। धीरे-धीरे वे अन्न इत्यादि का भी त्याग कर देते हैं। इस प्रकार उनकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर देवी उन्हें दर्शन देती हैं और कहती हैं –

यत्प्रार्थ्यते त्वया भूप त्वया च कुलनन्दन।
मत्तस्तत्प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत्॥
– *दुर्गासप्तशती* , त्रयोदशोऽध्यायः, श्लोक १५, पृष्ठ १८१

अर्थात् – राजन्! तथा अपने कुल को आनन्दित करने वाले वैश्य! तुम लोग जिस वस्तु की अभिलाषा रखते हो वह मुझसे माँगो। मैं सन्तुष्ट हूँ, अतः तुम्हें वह सब कुछ दूँगी।।

अतः देवी के इस प्रकार कहने पर राजा ने अपने दूसरे जन्म में नष्ट न होने वाला राज्य माँगा तथा वैश्य बुद्धिमान् था साथ ही उसका चित्त संसार की ओर से खिन्न एवं विरक्त हो चुका था। अतः उसने ममता और अहंता-रूप आसक्ति का नाश करने वाले ज्ञान की याचना की इस पर देवी ने पुनः कहा –

स्वल्पैरहोभिर्नृपते स्वं राज्यं प्राप्स्यते भवान्॥
हत्वा रिपूनस्खलितं तव तत्र भविष्यति।
मृतश्च भूयः सम्प्राप्य जन्म देवाद्विवस्वतः॥
सावर्णिको नाम मनुर्भवान् भुवि भविष्यति॥
वैश्यवर्य त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः॥
तं प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति॥
– *दुर्गासप्तशती,* त्रयोदशोऽध्यायः, श्लोक २०-२५, पृष्ठ १८१-८२

दुर्गासप्तशती के उपर्युक्त श्लोकों में देवी के भक्तवत्सलता से ओत-प्रोत होने के पर्याप्त (साक्ष्य) उदाहरण प्राप्त हैं। देवी भगवती को जीव-मात्र से प्रेम है, क्योंकि प्रत्येक जीव में उन्हीं देवी भगवती का ही अंश है। देवी भगवती ने जब भी रूप धारण किया (साक्षात् रूप में प्रकट हुई) तो भक्तों की रक्षा एवं भक्तवत्सलता के वशीभूत होकर ही प्रकट हुई। वे भक्त चाहे देवताओं के रूप

में अथवा ऋषि-मुनि एवं राजा, ब्राह्मण, इत्यादि किसी के भी रूप में हो। यदि उन्होंने देवी की भक्ति या उपासना की है तो देवी ने सदैव ही प्रकट होकर उनकी रक्षा की है एवं उन्हें मनोवांछित फल भी प्रदान किया है।

दुर्गासप्तशती के अन्त में "वैकृतिकं रहस्यम्" (श्लोक ६) में स्पष्टरूपेण श्लोक के रूप में लिखा हुआ है –

एषा सा वैष्णवी माया महाकाली दुरत्यया।
आराधिता वशीकुर्यात् पूजाकर्तुश्चराचरम्॥
– पृष्ठ २००

अर्थात् – ये महाकाली भगवान् विष्णु की दुस्तर माया है। आराधना करने पर ये चराचर जगत् को अपने उपासक के अधीन कर देती है।

"वैकृतिकं रहस्यम्" (श्लोक २६) के एक अन्य श्लोक के द्वारा भी देवी के भक्तवत्सला होने का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है।

महिषान्तकरी येन पूजिता स जगत्प्रभुः।
पूजयेज्जगतां धात्रीं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्॥

अर्थात् – जिसने महिषासुर का अन्त करने वाली महालक्ष्मी की भक्तिपूर्वक आराधना की है, वही संसार का स्वामी है। अतः जगत् को धारण करने वाली भक्तवत्सला भगवती चण्डिका की पूजा अवश्य करनी चाहिए।

सौन्दर्यलहरी में भी भक्तवत्सलता के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। आचार्य शंकर ने स्वयं ही देवी भगवती को मातृ-प्रेम एवं भक्तवत्सलता से युक्त बताया है। *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक ७५ में देवी का भक्तों के प्रति दया एवं स्नेह का प्रमाण मिल रहा है –

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥
– पृष्ठ १६३

अर्थात् – हे धरणिधरकन्ये! मैं ऐसा समझता हूँ कि तेरे स्तनों के दूध का पारावार तेरे हृदय से बहने वाले सारस्वत ज्ञान के सदृश है, जिसे पीकर, दयावती होकर तेरे दुग्ध-पान कराने पर, द्रविड़-शिशु ने प्रौढ़ कवियों के सदृश कमनीय कविता की रचना की थी।

श्लोक में द्रविड़शिशु (शब्द) पर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् द्रविड़शिशु के रूप में स्वयं आचार्य शंकर को ही मानते हैं परन्तु कुछ विद्वान् इस पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि स्वयं आचार्य शंकर अपनी ही लेखनी से अपनी श्लाघा नहीं करेंगे।

आचार्य शंकर-कृत उनकी *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक १०० के द्वारा भी देवी के सर्वसामर्थ्यवती होने का प्रमाण प्राप्त हो रहा है –

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम्॥
– पृष्ठ ३०१

अर्थात् – हे जननी! तेरी प्रदान की हुई वाक्शक्ति से की गई इस स्तुति के शब्द इस प्रकार हैं जैसे दीपक की ज्वालाओं से सूर्य की आरती उतारना अथवा चन्द्रकान्त मणि से टपकते हुए जल-कणों से चन्द्रमा को अर्घ्य प्रदान करना अथवा समुद्र का सत्कार उसी के जल से करना।

उभय ग्रन्थों के श्लोकों के आधार पर देवी के सर्वसामर्थ्यवती, भक्तवत्सला, इत्यादि रूपों के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

शक्ति देवता के माहात्म्य में उभय ग्रन्थों में अनेकानेक उदाहरण एवं लक्षण दृष्टिगत होते हैं। जैसे दुष्टों के नाश करने वाली (दुष्टसंहारिणी) के रूप में, मोक्षदात्री के रूप में, त्रिकालदर्शिणी के रूप में एवं अतुलनीय सौन्दर्यधारिणी के रूप में हमारे समक्ष देवी उपस्थित होती हैं।

दुष्टसंहारिणी

उभय ग्रन्थों में देवी के दुष्टसंहारिणी स्वरूप के भी दर्शन होते हैं। *दुर्गासप्तशती* में स्पष्टतः दृष्टिगत होता है कि देवी का प्राकट्य ही दुष्टों के संहार हेतु हुआ है। देवी का प्राकट्य दुष्टसंहारिणी स्वरूप दोनों ही पक्षों से देखने को मिलता है। भौतिक पक्ष को देखने का प्रयास करें अथवा आध्यात्मिक पक्ष के आधार पर आकलन करें। भौतिक रूप में तो साक्षात् ही देवी मधु-कैटभ जैसे भयंकर स्वरूप वाले दुष्टों का संहार करती है जिसके साक्ष्य *दुर्गासप्तशती* (पृ.६६) में स्पष्टतः दृष्टिगत होते हैं –

योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते ॥
आस्तीर्य शेषमभजत्कल्पान्ते भगवान् प्रभुः ।
तदा द्वावसुरौ घोरौ विख्यातौ मधुकैटभौ ॥
विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ ।

— श्लोक ६६-६८

विबोधनार्थाय हरेर्हरिनेत्रकृतालयाम् ।
विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीं स्थितिसंहारकारिणीम् ॥
निद्रां भगवतीं विष्णोरतुलां तेजसः प्रभुः ।

— श्लोक ७०-७१

इन श्लोकों के आधार पर स्पष्ट हो रहा है कि देवी ही समस्त कार्यों की कारण है। समस्त ब्रह्माण्ड ही देवी महामाया की परिणति हैं। भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उन्हीं देवी महाशक्ति के अधीन है। इसी कारण से जब मधु-कैटभ ब्रह्मा को मारने के लिए उद्धत होते हैं तो उस समय ब्रह्मा देवी-स्वरूपा विष्णु-शक्ति महामाया की स्तुति करते हैं।

इसके विपरीत यदि हम अध्यात्म पक्ष को लेकर महाशक्ति के दुष्टसंहारिणी स्वरूप को देखें तो वह भी स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अध्यात्म पक्ष के आधार पर देखें तो प्रमाद, अज्ञान, इत्यादि ही मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भ जैसे राक्षस हैं। यहाँ इन राक्षसों का अन्त तभी सम्भव है जब देवी महाशक्ति महामाया का जाल (आवरण) हटाती हैं। यह अध्यात्म पक्ष आचार्य शंकर की *सौन्दर्यलहरी* (श्लोक) में स्पष्टतः परिलक्षित होता है –

किरीटं वैरिञ्चं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमकुटम् ।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोक्तिर्विजयते ॥

— पृष्ठ २४८

यहाँ "कैटभभिदः" (कैटभ का भेदन करने अर्थात् मारने वाले) की जो कथा प्रचलित है उसके अनुरूप भगवान् विष्णु के कान के मैल से दो असुर मधु-कैटभ उत्पन्न होते हैं। वे असुर ब्रह्मा को मारने हेतु तत्पर होते हैं तब ब्रह्माजी भगवान् विष्णु को जगाने हेतु देवी का स्तवन करते हैं। क्योंकि भगवान् विष्णु साधारण निद्रा नहीं अपितु मोह (माया) रूपी निद्रा से घिरे हुए होते हैं। जिससे एकमात्र देवी ही मुक्त कर सकती हैं। देवी भगवती के द्वारा मोह मुक्त होने के पश्चात् ही भगवान् विष्णु मधु-कैटभ का वध करने को तत्पर हो पाते हैं।

इसके साथ ही विभिन्न ग्रन्थों में भी इस अध्यात्म पक्ष को स्पष्ट किया गया है। यहाँ *दुर्गासप्तशती* के "मेधा", "सुरथ" तथा "समाधि", जो कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के नाम आए हैं, उनका आध्यात्मिक अर्थ कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है –

मेधा - मेधया आत्मज्ञानलक्षणया प्रज्ञया ।

— *शाङ्करभाष्य, गीता* १८.१०, पृष्ठ ४१३

सुरथ - रमन्तेऽस्मिन् इति रथः । शोभनो रथो यस्य स सुरथः

— *दुर्गासप्तशती*, शान्तनवी टीका

समाधि - समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः ।

— *श्रीमद्भगवद्गीता* २.५३ पर शाङ्करभाष्य, पृष्ठ ६४

समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिः ।

— तत्रैव, २.४४ पर *शाङ्करभाष्य*, पृष्ठ ५९

श्री *गीता* (२.४६) में "बुद्धि" अर्थात् मेधा की शरण में जाने का आदेश है।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

— तत्रैव, पृष्ठ ६१

देवी दोनों व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक पक्षों से दुष्टों एवं मोह इत्यादि का नाश करने वाली हैं। *दुर्गासप्तशती* में तो देवी ने बारम्बार प्रकट होकर देवताओं को राक्षसों, दैत्यों से मुक्त कराया है। अतः जब-जब दुष्टों ने देवताओं को कष्ट, क्षति पहुँचाने का प्रयास किया तब-तब देवी ने प्रकट होकर देवताओं की रक्षा की। कभी "महिषासुरमर्दिनी" के रूप में तो कभी शुम्भ-निशुम्भ को मारकर। देवी के ये नाम स्पष्ट रूप से *श्रीदुर्गाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्* में दिए हुए हैं –

निशुम्भशुम्भहननी महिषासुरमर्दिनी ।
मधुकैटभहन्त्री च चण्डमुण्डविनाशिनी ॥

— *दुर्गासप्तशती*, दुर्गाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्
श्लोक १०, पृष्ठ १०-११

दुर्गासप्तशती के चतुर्थ अध्याय में भी लिखा हुआ है। यहाँ देवताओं ने देवी की स्तुति में कहा है –

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा
दुर्गासि दुर्गभवसागरनौरसङ्गा ।
श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा
गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा ॥

— श्लोक ११, पृष्ठ १००

श्लोक में देवतागण देवी की स्तुति करते हुए कहते हैं – हे देवी! जिससे समस्त शास्त्रों के सार का ज्ञान होता है, वह मेधा शक्ति आप ही हैं। दुर्गम भवसागर से पार उतारने वाली नौका रूप दुर्गा देवी भी आप ही हैं। इस प्रकार से उभय ग्रन्थों में देवी के दुष्टसंहारिणी स्वरूप का निरूपण हुआ।

यहाँ तक देवी के दुष्टसंहारिणी स्वरूप का माहात्म्य प्रतिपादित किया गया। इसके आगे देवी के मोक्षदात्री स्वरूप पर एक दृष्टि डालेंगे।

मोक्षदात्री

दोनों ही ग्रन्थों में देवी के मोक्षदात्री रूप के दर्शन होते हैं। देवी के मोक्षदात्री होने का साक्ष्य *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में ही दृष्टिगत हो जाता है –

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥
– श्लोक ५७-५८, पृष्ठ ६८

श्लोक उस प्रसंग से जुड़ा हुआ है जबकि वैश्य तथा राजा सुरथ मोहवश अपने-अपने जीवन से निराश होकर मेधा मुनि के आश्रम में शान्ति प्राप्ति हेतु पहुँचते हैं। वहाँ मेधा मुनि ने वैश्य तथा राजा को देवी की शरण में जाने को कहा। मुनि ने बताया कि "जगदीश्वर" भगवान् विष्णु की योगनिद्रारूपा जो भगवती महामाया है; उन्हीं से यह जगत् मोहित हो रहा है वे ही परा-विद्या संसार-बन्धन और मोक्ष की हेतुभूता सनातनी देवी तथा सम्पूर्ण ईश्वरों की भी अधीश्वरी है।

सौन्दर्यलहरी के प्रस्तुत श्लोक (२२) से भी देवी-भगवती के मोक्षदात्री स्वरूप की पुष्टि होती है –

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजितपदाम् ॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक २२, पृष्ठ २०९

यहाँ आचार्य शंकर का देवी की स्तुतिपरक प्रस्तुत श्लोक उनके (देवी के) मोक्षदात्री होने की पुष्टि करता है। शंकराचार्य *सौन्दर्यलहरी* में कहते हैं –

हे भवानी! तू मुझ इस दास पर भी अपनी करुणामयी दृष्टि डाल इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय "भवानि त्वं" (मैं तू हो जाऊँ) इस

पद का उच्चारण कर पाता है कि उसी समय तू उसे निज सायुज्यपद प्रदान कर देती है, जिस पद की ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी अपने-अपने मुकुटों के प्रकाश से आरती उतारा करते हैं।

यहाँ सायुज्य पदवी से तात्पर्य मोक्ष ही है। देवी प्रसन्न होने पर सकामों को उनकी इच्छानुसार फल प्रदान करती है। साथ ही मोक्ष की वांछना वालों को देवी उनके अज्ञान आदि को दूर करके उन्हें सायुज्य प्रदान करती है। देवी सदैव अपने भक्तों को मनोवांछित फल प्रदान करती है। भक्त की कामना, आदि सकाम हो अथवा निष्काम या फिर मोक्ष की कामना हो देवी अपने सच्चे भक्तों को पूर्ण सन्तुष्टि प्रदान करती है। उसके साक्ष्य हमें *दुर्गासप्तशती* के त्रयोदश अध्याय में प्राप्त होते हैं।

राजा सुरथ और समाधि वैश्य मेधा मुनि के वचनों को सुनकर देवी के दर्शन हेतु देवी-सूक्त का जप करते हुये नदी-तट पर देवी की मृण्मय मूर्ति स्थापित कर पूजन-अर्चन में लीन हो जाते हैं। वे निरन्तर तीन वर्ष तक देवी की तपस्या में लीन रहे, तपस्या से प्रसन्न होकर देवी ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया तथा वरदान माँगने को कहा। राजा ने कभी नष्ट न होने वाले राज्य की कामना (वांछना) की जबकि वैश्य का चित्त पूर्णतयाः संसार से विरक्त हो चुका था, अतः वैश्य ने देवी से जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति की कामना की अर्थात् मोक्ष की याचना की साथ ही समाधि वैश्य ने ममता और अहंतारूप आसक्ति का नाश करने वाला ज्ञान माँगा। देवी ने भी ममता एवं वात्सल्य से युक्त होकर उन्हें मनोवांछित फल प्रदान कर सन्तुष्ट किया –

मृतश्च भूयः सम्प्राप्य जन्म देवाद्विवस्वतः ॥
सावर्णि को नाम मनुर्भवान् भुवि भविष्यति ॥
– *दुर्गासप्तशती,* त्रयोदशोऽध्यायः, श्लोक २२, २३, पृष्ठ १८१-८२

वैश्यवर्य त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः ॥
तं प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति ॥
– *दुर्गासप्तशती,* त्रयोदशोऽध्यायः, श्लोक २४, २५, पृष्ठ १८२

देवी प्रसन्न होने पर प्राणि मात्र को मनवांछित फल प्रदान करती है। देवी अपने साधकों को ऐश्वर्य एवं मोक्ष दोनों ही प्रदान करती है। देवी राजा सुरथ एवं वैश्य समाधि को वरदान देकर वहाँ से अन्तर्धान हो गई।

जिस प्रकार *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* में सकाम एवं निष्काम भक्ति (भोगार्थी एवं मोक्षार्थी) की बात कही गई है ठीक उसी प्रकार

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय १८ श्लोक ५५) में भी भगवान् श्रीकृष्ण के वचनों से इसकी पुष्टि होती है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
— *श्रीमद्भगवद्गीता,* पृष्ठ ४५२

अर्थात् — जो साधक परा-भक्ति के द्वारा मुझ परमात्मा को, मैं जो हूँ और जितना हूँ, तत्त्व से जान लेता है उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

अपि च -

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
— तदेव, श्लोक १८.५६, पृष्ठ ४५४

प्रस्तुत श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि —

मेरा परायण हुआ कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है।

यही जीव ब्रह्मैक्य का भाव *ऋग्वेद* के "प्रज्ञानं ब्रह्मं" *यजुर्वेद* के "अहं ब्रह्मास्मि" *सामवेद* के "तत्त्वमसि" तथा *अथर्ववेद* के "अयमात्म ब्रह्म" जैसे महावाक्यों से प्रकट होता है।

देवी के मोक्षदात्री स्वरूप के दर्शन *सौन्दर्यलहरी* के प्रस्तुत श्लोक ३० में भी हो रहे हैं —

स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाद्याभिरभितोः
निषेव्ये नित्ये त्वामहमिति सदा भावयति यः।
किमाश्चर्यं तस्य त्रिनयनसमृद्धिं तृणयतः
महासंवर्ताग्निर्विरचयति नीराजनविधिम्॥
— पृष्ठ २५३

उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त "त्वामहमिति", वाक्य के द्वारा आचार्य शंकर ने सायुज्य पद या मोक्ष पद को स्पष्ट किया है। यहाँ "त्वां अहम्" अर्थात् तुझको अपना ही रूप मानकर सदा भावना करता है त्वामहमिति अभेदेन यः भावयति — सौभाग्लवर्धनी, यः साधकः त्वां भवतीं अहमात्मा इति सदा भावयति तादात्म्यभावनां करोति — *अरुणामोदिनी,* पृष्ठ २५। इस प्रकार से

इसका (श्लोक का) अर्थ किया गया है। "त्वां अहम्" की स्थिति ही मोक्ष की स्थिति है। अतः उभय ग्रन्थों (*दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी*) के आधार पर देवी के मोक्षदात्री स्वरूप के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं।

करुणामयी स्वरूप

उभय ग्रन्थों में अपने भक्तों के प्रति सदैव ही देवी का करुणामयी स्वरूप देखने को मिलता है। *दुर्गासप्तशती* में देवी का जो स्वरूप दिखाई देता है उससे देवी साक्षात् रूपेण करुणा की प्रतिमूर्ति रूप लगती है। *दुर्गासप्तशती* के प्रारम्भ में ही जब मधु-कैटभ ब्रह्मा को मारने के लिए तत्पर होते हैं तभी ब्रह्माजी हृदय से देवी का स्तवन करते हैं। देवी ब्रह्मा की उस स्तुति से करुणा से ओतप्रोत होकर साक्षात् प्रकट होती है और विष्णु को योग-निद्रा से जगाती है जिससे भगवान् ब्रह्मा की इन राक्षसों से रक्षा हो पाती है। जब भी देवताओं ने देवी की आर्त्त-भाव से प्रार्थना की तो देवी ने सदैव प्रकट होकर देवताओं को कष्टों से मुक्त कराया। जब भी देवता गण अथवा प्राणिमात्र **"त्राहि माम्"** करके देवी की शरण में आए तो देवी ने हमेशा उनकी रक्षा की, उनका उद्धार किया। *दुर्गासप्तशती* के पंचम अध्याय में देवताओं के स्तुतिपरक श्लोक देवी के करुणामयी स्वरूप को ही उजागर करते हैं —

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥
— श्लोक ६५-६७, पृष्ठ ११४

अपि च -

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥
— श्लोक ७१-७३, पृष्ठ ११४

उपर्युक्त श्लोकों में देवी का करुणामयी स्वरूप ही दृष्टिगत हो रहा है। यहाँ "दयारूपेण" तथा "मातृरूपेण" शब्द वस्तुतः करुणा रूप के ही पर्याय हैं।

चरक-संहिता (चिकित्सास्थान, अध्याय २) में महर्षि आत्रेय ने शक्ति को निम्नरूपेण परिभाषित किया है।

स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः॥
— चिकित्सास्थान, वाजीकरणाध्याय,
प्रथमपाद, श्लोक ६, पृष्ठ ३९ (६२.१)

अर्थात् – प्रीति का निवास विशेषतः स्त्रियों में रहता है। सन्तान की जननी स्त्रियाँ ही हैं। धर्म स्त्रियों में रहता है। अर्थ भी स्त्रियों में रहता है। स्त्रियों में ही लक्ष्मी का वास रहता है। अर्थात् स्त्रियाँ ही लोक में लक्ष्मी रूप में प्रतिष्ठित हैं।

संसार में स्त्रियाँ ही प्रीति रूप में, धर्म रूप में, लक्ष्मी रूप में, कहीं माता, भगिनी, पुत्री, पुत्र-वधू, इत्यादि रूप में संसार में स्थित है। उपर्युक्त रूपों को धारण करके स्त्री-शक्ति ही समस्त संसार का संचालन करती है। अर्थात् विष्णु शक्ति ही (देवी भगवती) भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित होकर संसार का संचालन करती है।

अर्गला-स्तोत्र में भी देवी का करुणामय स्वरूप देखने को मिलता है।

देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥

– श्लोक १२, पृष्ठ ३२

स्तोत्र में भक्त देवी को जननी तथा स्वयं को पुत्र रूप में रखकर देवी से याचना करता है कि (हे देवी) हे जननी "तुम सौभाग्य दो, आरोग्य दो, परम सुख दो, रूप दो, जय दो, यश दो और शत्रु का नाश करो।" इस प्रकार की याचना सिर्फ एक पुत्र ही अपनी माँ से कर सकता है।

कहा भी गया है – "पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्।" अर्थात् पाण्डित्य का अभिमान त्यागकर बाल भाव से रहे। शिशु-भाव में स्थित होना शक्तिवाद का प्रधान साधन मार्ग है। जननी वात्सल्य जैसे शिशु की ओर धावित होता है, वैसे ही शिशु का अनुराग और अनन्य प्रेम भी मातृ-दर्शन के लिए स्फुरित होता है। शिशु माँ को छोड़कर और कुछ नहीं जानता, शिशु रो उठता है माँ के न दिखाई देने पर और वह जो कुछ चाहता है वह माँ से ही। शिशु की चाहत की सीमा नहीं है, वह अपना सारा अभाव माँ को ही बताता है।

पूर्ण समर्पित होकर किसी भी रूप में देवी की उपासना करने पर देवी अपनी करुणा से अपने भक्त को सिंचित करती है। देवी की कृपा (करुणा) प्राप्त करने के लिए पहले ही भगवान् ब्रह्मा ने स्पष्ट कहा है – "शुचिर्भूत्वा महाबाहो।" अर्थात् तुम पवित्र होकर दुर्गा-पाठ करो। चित्त में पवित्रता के बिना देवी का दर्शन या करुणा नहीं प्राप्त हो सकती।

मातृ-भाव से उपासना की सूचना *ऋग्वेद* में मिलती है। *ऋग्वेद* में जैसे अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य, आदि देवों हेतु यज्ञ का विधान किया गया

है, वैसे ही सरस्वती, उषा, भारती, पृथ्वी, नदी, वाक्, इत्यादि देवियों की भी यज्ञ द्वारा आराधना का विधान है। इनमें पृथ्वी का बार-बार माता के रूप में ध्यान किया गया है। **"पिता माता च भुवनानि रक्षतः"** अर्थात् द्यौ और पृथिवी पिता और माता के रूप में इस विश्व की रक्षा करते हैं। जलाभिमानिनी देवियों के लिए कहा गया है कि तुम सब जननी की भाँति स्नेहमयी हो, तुम्हारा रस (वात्सल्य प्रेम) अति सुखकर है, हम लोगों को वह सुख प्रदान करो।

देवी का करुणामयी मातृस्वरूप आचार्य शंकर के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में भी दृष्टिगत होता है। आचार्य शंकर ने अपने ग्रन्थ में देवी के मातृस्वरूप का चिन्तन करके ही देवी की स्तुति की है। आचार्य के ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में तो अधिकतर दर्शन ही दृष्टिगत होता है। जबकि उत्तरार्द्ध में आचार्य के द्वारा देवी की सौन्दर्य-वर्णन-परक स्तुति के दर्शन होते हैं। जहाँ आचार्य ने देवी के सौन्दर्य का वर्णन किया है। उसके आधार पर आचार्य की भक्ति में सख्य-भाव के दर्शन होते हैं जबकि आगे के कुछ श्लोकों को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि जहाँ एक तरफ ग्रन्थ में सख्य भक्ति के दर्शन हो रहे हैं वहीं आचार्य ने देवी भगवती को "जननी अथवा माँ शब्दों से सम्बोधित किया है तथा देवी से करुणा की याचना भी की है। *सौन्दर्यलहरी* के निम्न श्लोक (३२) में आचार्य ने देवी को जननी शब्द से सम्बोधित किया है –

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिताः
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्॥

– प्रथम भाग, श्लोक ३२, पृष्ठ २७७

यहाँ इस श्लोक में आचार्य ने देवी को जननी (माँ) कहकर अपने भाव व्यक्त किए हैं। आचार्य शंकर ने देवी भगवती और शिव में अंगी और अंगवत् सम्बन्ध माना है। जिस कारण से आचार्य देवी को ही शिव की शक्ति मानते हैं। कहा भी है कि शिव-शक्ति से युक्त होकर ही स्पन्दन के हेतु तत्पर होते हैं, शक्ति से विलग होकर शिव स्पन्दन योग्य भी नहीं रहते हैं। जहाँ कहीं भी आचार्य ने देवी की स्तुति संयोग शृंगार-परक श्लोकों के द्वारा की है, वहाँ आचार्य शिव के साथ सख्य-भाव का तादात्म्य है। इसी प्रकार *सौन्दर्यलहरी* के निम्न श्लोक (७४) में आचार्य शंकर का मिश्रित भक्ति-भाव दृष्टिगत हो रहा है –

वहत्यम्ब स्तम्बेरमदनुजकुम्भप्रकृतिभिः
समारब्धां मुक्तामणिभिरमलां हारलतिकाम्।
कुचाभोगो बिम्बाधररुचिभिरन्तः शबलितां
प्रतापव्यामिश्रां पुरदमयितुः कीर्तिमिव ते॥
– पृष्ठ १५९

अर्थात् – हे माँ! तेरा कुचभाग जो गजासुर के मस्तक रूपी कुम्भ से निकली हुई मुक्ता मणियों की विमल माला पहने हुए है, उस पर तेरे विम्ब-सदृश लाल ओठों की कान्ति पड़ने से अरुण छाया दिखती है, इसलिए वह हार शिवजी की प्रताप-मिश्रित-कीर्ति का प्रतीकवत् है।

कविगण प्रताप को लाल और कीर्ति को स्वच्छ रंग से उपयित करते हैं। यहाँ भी देवी भगवती और भगवान् शिव में अंगी-अंगवत् सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। उसी प्रकार एक अन्य श्लोक जोकि निम्नवत् है, में शंकराचार्य *सौन्दर्यलहरी* (श्लोक ८४) में देवी से करुणा की कामना करते हैं –

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूडामणिरुचिः॥

यहाँ श्लोक में भी आचार्य ने देवी के मातृस्वरूप की ही स्तुति कर करुणा की याचना की है।

आचार्य ने *सौन्दर्यलहरी* के अन्तिम सौवें श्लोक में पूर्णतः स्पष्ट हो रहा है कि शंकराचार्य ने देवी की स्तुति मातृरूप में ही की है –

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
कदा धत्ते वाणीमुखकमलताम्बूलरसताम्॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ९८, पृष्ठ ३९२

श्लोक में आचार्य ने देवी की स्तुति करते हुए उनसे करुणा की याचना की है। यहाँ आचार्य ने भगवती को माँ कहकर तथा स्वयं को पुत्र-रूप में रखकर देवी से वात्सल्य रस की कामना की है।

त्रिकालदर्शिनी

उभय ग्रन्थों (*दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी*) में देवी के त्रिकालदर्शिनी स्वरूप के दर्शन होते हैं। *ब्रह्मवैवर्त्त पुराण* (६६.८-११) में स्पष्टतः भगवान् श्रीकृष्ण के शब्द दिए हुए हैं –

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥

तेजः स्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥

सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥
– *ब्रह्मवैवर्त्तपुराण* (पूर्वभाग), प्रकृति खण्ड, पृष्ठ ६२७

अर्थात् – तुम्हीं विश्वजननी मूल प्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टि की उत्पत्ति के समय आद्या शक्ति के रूप में विराजमान रहती हो और स्वेच्छा से त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप सत्य, नित्य एवं सनातनी हो। परमतेजस्वरूप और भक्तों पर अनुग्रह करने हेतु शरीर धारण करती हो। तुम सर्वस्वरूपा, सर्वपूज्या एवं आशयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकार से मंगल करने वाली एवं सर्वमंगलों की भी मंगल हो।

इसी प्रकार *ऋग्वेद* (अष्टक ८) में भी स्वयं देवी के मुख-वचनों के साक्ष्य मिलते हैं –

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

अर्थात् – मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवों के रूप में विचरती हूँ। वैसे ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनी-कुमारों के रूप को धारण करती हूँ।

देवी के त्रिकालदर्शिनी होने के साक्ष्य *ब्रह्मसूत्र* (द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद, सूत्र तीस) में भी मिलते हैं –

सर्वोपेता च तद्दर्शनात्
– *ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य*, पृष्ठ ४०३

अर्थात् – वह परा-शक्ति सर्वसामर्थ्य से युक्त है क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

देवी भगवती को भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्नानिभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रों में उस गुणमयी विद्या अविद्यारूपा माया-शक्ति को प्रकृति, मूल प्रकृति, महामाया, योग-माया आदि अनेक नामों से कहा है। *ईशावास्योपनिषद्* में भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है –

ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
– श्लोक १, पृष्ठ १३

अर्थात् – त्रिगुणमयी माया में स्थित यह सारा चराचर जगत् ईश्वर से व्याप्त है। ऐसे ईश्वर की कार्ययित्री शक्ति होने के कारण देवी की *स्थिति* अनिर्वचनीय है उसे अनादि माना गया है।

जिसका स्पष्ट अर्थ है कि ऐसा कोई समय नहीं रहा जब वह सत्ता में न रही हों। अर्थात् सृष्टि के विकास के पूर्व ही उस परा-सत्ता का अस्तित्व था, उसके न होने के पहले की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः सृष्टि में जो कुछ भी था या वर्तमान में है अथवा भविष्य में होगा वह सब उनकी दृष्टि से परे नहीं हो सकता। भविष्य उनकी इच्छा का परिणाम मात्र है जिसका प्रतिफलन निश्चित है। अतः दृश्यमाण न होते हुए भी भविष्य उनकी दृष्टि की सीमा में है। देवी को बार-बार "त्रिनेत्रा" अथवा त्र्यम्बिके कहना उनकी त्रिकालदर्शिनी सत्ता का संकेत माना जा सकता है। *दुर्गासप्तशती* में देवी की उस शक्ति का संकेत रूप में किन्तु विस्तृत वर्णन हुआ है। प्रथम अध्याय में उन्हें सृष्टि के आदि में विद्यमान बताया गया है। द्वितीय अध्याय में उनके सगुण स्वरूप का आविर्भाव दिखाया है। जिस रूप में वे अनेकानेक राक्षसों का संहार करती हैं। देवताओं के सापेक्ष यह उनकी वर्तमानकालिक स्थिति है। ग्यारहवें अध्याय में वे देवताओं से आने वाली युग की घटनाओं और उसमें अपने अवतारों का पूर्व-कथन करते हुए दिखाई गई है।[3] यह देवी के भविष्य-द्रष्टा रूप का सांकेतिक आख्यान है।

सौन्दर्यलहरी में देवी के माँ या पार्वती रूप की स्तुति करते हुए बार-बार उनके असीम गुण एवं अपरिमित शक्ति का गुणगान किया गया है। सूर्य और

चन्द्रमा जिस शक्ति के नेत्र हैं। उसके त्रिकालदर्शी होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता है।

अतुलनीय सौन्दर्यवती

सौन्दर्य को मानव की सात्विक चेतना का परिणाम माना जाता है। मनुष्य की चेतना किसी भी व्यक्ति, वस्तु या सत्ता में आत्मसन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु ऐसे विशिष्ट भाव की कल्पना करती है जो सभी के लिए आनन्द का विधायक हो। यही विशिष्ट भाव सौन्दर्य है। जो आधार की किसी भी विशेषता के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। संसार और संसारी जीवों के सन्दर्भ में सौन्दर्य का स्थूल रूप मान्य है। जिसमें किसी व्यक्ति या वस्तु की आकृति विशेष को सौन्दर्य के मूल में रखा जाता है। अन्यथा चेतना के धरातल पर सौन्दर्य की व्यंजना भाव रूप में ही होती है। संसार सुन्दर है तो संसार को बनाने वाली सत्ता और भी सुन्दर होगी – ऐसा विश्वास भक्ति के क्षेत्र में भक्त को आराध्य के और भी निकट ले जाने में सहायक है।

दुर्गासप्तशती (रात्रिसूक्त, श्लोक ८१) में दुर्गा को सृष्टि की मूल कारण के रूप में वर्णित किया गया है। वे संसार बनाने वाली, संसार को धारण करने वाली और संसार का पालन-पोषण करने वाली कही गई है –

त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा।
त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्॥
त्वयैतत्पाल्यते देवी त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने॥

दुर्गासप्तशती के रात्रिसूक्त, श्लोक ८१ में दुर्गा के रूप में आदि-शक्ति की स्तुति करते हुए ब्रह्मा कहते हैं –

सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी॥

अर्थात् – हे देवी! तुम सौम्य और सौम्यतर हो संसार में जितने भी सौम्य एवं सुन्दर पदार्थ हैं उन सबकी अपेक्षा तुम अत्यधिक सुन्दरी हो।

सृष्टि में जो कुछ भी सुन्दर है वह उसी परा-शक्ति की कला-मात्र है। सगुणमार्गी भक्तों एवं आचार्यों ने उस परा-शक्ति का ध्यान करने के लिए उसके सगुण स्वरूप की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए उसके अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य का वर्णन किया है। उस देवी का मुख मन्द-मन्द मुस्कान से सुशोभित निर्मल पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब पर अनुकर करने वाला और उत्तम

सुवर्ण की मनोहर कान्ति से कमनीय है। देवी का यह लोकोत्तर सौन्दर्य प्रत्येक प्राणी को वशीभूत कर लेने वाला है।

ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र-
बिम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम्।

— *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ४.१२।

देवी के उस अलौकिक सौन्दर्य की कोई तुलना नहीं है —

केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य
रूपं च शत्रुभयकार्यतिहारि कुत्र।

— *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ४.२२।

देवी के साकार स्वरूप के सौन्दर्य निरूपण में *दुर्गासप्तशती* में जहाँ एक ओर उनके अलौकिक स्वरूप को अनिर्वचनीय, अनिन्द्य, अनुपमेय, आदि कहा गया है वहीं सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले सांसारिक अलंकरणों को धारण करते हुए भी वर्णित किया गया है। दुर्गा रूप में आविर्भूत होने पर देवी अपने समस्त अंगों में दिव्य आभूषण धारण करती है। उनके आभूषणों में उज्ज्वल हार, दिव्य चूड़ामणि, कुण्डल, कड़े, उज्ज्वल, अर्धचन्द्र, बाजूबन्द (केयूर), नूपुर, सुन्दर हँसली, रत्नों की बनी अँगूठियाँ, फूल की मालाएं, आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

क्षीरोदश्चामलं हारमजरे च तथाम्बरे।
चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च॥
अर्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्वबाहुषु।
नूपुरौ विमलौ तद्वद् ग्रैवेयकमनुत्तमम्॥
अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्वङ्गुलीषु च।
विश्वकर्मा ददौ तस्यै परशुं चातिनिर्मलम्॥

— *दुर्गासप्तशती,* अध्याय २.२५, २६, २७

इन आभूषणों के अतिरिक्त वे अपने हाथों में घण्टा, शूल, हल, शंख, मूषल, चक्र, धनुष और बाण धारण करती है, जो उनके अस्त्र-शस्त्र होने के साथ-साथ उनके सौन्दर्य की अभिवृद्धि के साधन भी हैं। *दुर्गासप्तशती* में एकाधिक स्थलों पर देवी के सामान्य नारी-रूप का चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है। पंचम अध्याय में शुम्भ का दूत शुम्भ के सामने देवी के सौन्दर्य की जिस प्रकार प्रशंसा करता है वह द्रष्टव्य है। दूत कहता है —

महाराज एक अत्यन्त मनोहर स्त्री है जो अपनी दिव्य कान्ति से हिमालय को प्रकाशित कर रही है। वैसा उत्तम रूप कहीं किसी ने भी नहीं देखा होगा। स्त्रियों में तो वह रत्न है, उसका प्रत्येक अंग बहुत ही सुन्दर है तथा वह अपने अंगों की प्रभा से सम्पूर्ण दिशाओं में प्रकाश फैला रही है।

उपर्युक्त कथन में देवी के अलौकिक सौन्दर्य का उत्कृष्ट निर्वचन हुआ है। यहाँ देवी के अंग-प्रत्यंग का वर्णन न करके उनके समग्र सौन्दर्य की छटा दिखाई गई है। वस्तुतः ऐसे लोकोत्तर सौन्दर्य की कान्ति ही देखी जा सकती है। उसका रेखांकन कर पाना सहज नहीं है। *दुर्गासप्तशती* के अंग रूप में दिए जाने वाले प्राधानिक, वैकृतिक और मूर्ति रहस्यों में देवी के विभिन्न रूपों का सौन्दर्य-निरूपण सामान्य सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा में किया गया है। जहाँ उनके स्तनों, नाभि त्रिबली, उदर, रोमावलि आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है —

शाकम्भरी नीलवर्णा नीलोत्पलविलोचना।
गम्भीरनाभिस्त्रिवलीविभूषिततनूदरी॥
सुकर्कशसमोत्तुङ्गवृत्तपीनघनस्तनी।
मुष्टिं शिलीमुखापूर्णं कमलं कमलालया॥

— *दुर्गासप्तशती,* मूर्तिरहस्यम् श्लोक १२, १३
पृष्ठ २१०, २११

सौन्दर्यलहरी में देवी के सौन्दर्य का *दुर्गासप्तशती* की अपेक्षा विशद एवं आलंकारिक वर्णन प्राप्त होता है। *सौन्दर्यलहरी* के उत्तरार्द्ध में सम्पूर्ण विश्व को भगवती का विराट् शरीर मानकर उनकी दिव्य-देह का ललित चित्र खींचा गया है। इसमें देवी के अंग-प्रत्यंगों की शोभा की मनोरम झाँकी दिखाने के साथ-साथ आचार्य शंकर ने उनके आभूषण एवं विशिष्ट क्रिया-कलापों का भी वर्णन किया है। देवी के किरीट, केश, ललाट, भ्रू, नेत्र, दृष्टि, कपोल, कर्ण, नासिका, दाँत, मुस्कुराहट मुख और मुख के ताम्बूल, वाणी, चिबुक, ग्रीवा और कण्ठ, नखों की द्युति, स्तन, नाभि, कटि, नितम्ब, जानु, पैर, चरण और शरीर की आभा का वर्णन करते हुए उनके सर्वांग सौन्दर्य का चित्र खींचा गया है। देवी के सिर पर सुशोभित होने वाला स्वर्ण-किरीट ऐसा लगता है, मानो इन्द्रधनुष निकला हुआ है। वह किरीट गगन-मणियों अर्थात् तारागण रूपी मणियों से घनीभूत जड़ा हुआ और चन्द्रमा के टुकड़े के बने पक्षी के घोंसले के सदृश जान पड़ता है जो उषाकालीन प्रकाश में रंग-बिरंगा चमक रहा है।

देवी के चिकने मुलायम केशों को समूह में खिले हुए कमल के वन के समान, सिन्दूर से भरी हुई माँग उदय होने वाले नवीन सूर्य की अरुण किरण

के समान, भृकुटि कामदेव के धनुष के समान, ललाट-मुकुट में जड़ी हुई चन्द्रमा की दूसरी कला के समान, आदि जैसे उपमेय और उपमानों को प्रस्तुत करते हुए देवी के लोकोत्तर सौन्दर्य की व्यंजना की गई है। *सौन्दर्यलहरी* में प्राप्त होने वाला देवी का सौन्दर्य-वर्णन अत्यन्त आलंकारिक है। जिसमें कृतिकार ने विभिन्न आलंकारिक उपादानों के प्रयोग से अपनी रचना को चारुता प्रदान की है। देवी की अलक के वर्णन से सम्बन्धित एक श्लोक प्रमाणार्थ अवलोकनीय है –

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभसश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पङ्केरुह रुचिम्।
दरस्मेरे यस्मिन्दशनरुचि किञ्जल्करुचिरे
सुगन्धौ माद्यन्ति स्मरदहनचक्षुर्मधुलिहः॥
– श्लोक ४५, पृष्ठ २०

अर्थात् – स्वाभाविक घुँघराली, जवान भौरों की कान्तियुक्त अलकावलि से घिरा हुआ तेरा मुख, कमलों की शोभा का परिहास करता है, जिसमें स्फटिक सदृश शोभा वाले दन्तों से किंचित् मुस्कुराते समय निकलने वाली सुगन्ध पर काम के दहन करने वाले शिवजी के नेत्र-रूपी भौंरे मस्त हो जाते हैं।

सौन्दर्यलहरी में देवी का सौन्दर्य निरूपण कहीं-कहीं अत्यन्त शृंगारिक रूप में हुआ है किन्तु कवि की भक्ति-भावना शृंगारिक वर्णन में भक्ति रस की प्रतिष्ठा कर देती है। इस ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशेषता इसके सौन्दर्य-वर्णन का श्लेषपरक होना है। प्रत्येक श्लोक में देवी के सौन्दर्य का वर्णन सामान्य नारी रूप में किया गया है। किन्तु सभी श्लोकों का प्रकृति-परक अर्थ निकलता है। इस प्रकार कवि ने सौन्दर्य-वर्णन के लौकिक उपादानों के माध्यम से परा-सत्ता के लोकोत्तर सौन्दर्य का वर्णन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि *सप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में देवी के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। यह लोकोत्तर सौन्दर्य सृष्टि के समस्त सौन्दर्याभिधानों एवं सौन्दर्यालंकरणों का मूल है। सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व देवी द्वारा ही निर्मित है। अतः किसी भी सांसारिक वस्तु अथवा व्यक्ति का सौन्दर्य उसकी सुन्दरता के तुल्य नहीं हो सकता। फिर भी उभयग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी भावनाओं के अनुरूप उत्कृष्टतम सांसारिक प्रतिमानों का आश्रय ग्रहण करते हुए देवी के सौन्दर्य की झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

मोहिनीस्वरूपा

सामान्य अर्थ में "मोह लेने की शक्ति रखने वाली नारी सत्ता" मोहिनी कही जाती है। मोह क़िसी के प्रति अनुरक्ति की वह स्थिति है जिसमें विभ्रम उत्पन्न हो जाता है और व्यक्ति के क्रिया-कलापों में विवेकशीलता का अभाव हो जाता है। मोह से ग्रस्त व्यक्ति विधि-निषेधों का विचार नहीं कर पाता है और यदि विचार करे भी तो व्यावहारिक रूप में उस पर दृढ़ नहीं रह पाता। आध्यात्मिक क्षेत्र में यही स्थिति जीव के मायाछन्न होने की मानी गई है। शास्त्रों में दुर्गा को परात्पर ब्रह्म की कारयित्री शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्म की यह शक्ति ही माया है और इस रूप में वह सम्पूर्ण चराचर को अपने वश में किए हुए है। *ऋग्वेद* में देवी को रात्रि-शक्ति के रूप में सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि समस्त प्राणी उसके अंक में निवास करते हैं –

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः॥ – X.127.5

अथर्ववेद में देवी को स्पष्ट रूप से "विश्वमोहिनी" सम्बोधन दिया गया है। उनके इस नाम की व्याख्यात्मक पुष्टि *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में प्राप्त होती है। वहाँ कहा गया है कि –

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
– अध्याय १, श्लोक ५५, ५६

जगदीश्वर भगवान् विष्णु की योग-निद्रा रूप जो भगवती महामाया है, उन्हीं से यह जगत् मोहित हो रहा है। वे भगवती महामाया ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है।

स्पष्ट है कि यहाँ मोह में डाल देने का अभिप्राय ज्ञान-मार्ग से विचलित कर देने अथवा अज्ञानियों जैसा व्यवहार करवाने से है। यही मोह की परिभाषा मानी जा सकती है। अतः देवी का मोहिनी रूप प्राणियों को आकर्षित तो करता ही है, उन्हें सांसारिक विधि-निषेधों से ऊपर भी उठा देता है। उनके मोहिनीस्वरूप में जहाँ अविद्या माया की प्रधानता हो जाती है वहाँ मोहित होने वाला प्राणी सांसारिक सम्बन्धों की सीमा में रहते हुए उन पर अनुरक्त होता है और अन्ततः बुद्धि-विभ्रम को प्राप्त होता है। *दुर्गासप्तशती* में मधु-कैटभ

तथा शुम्भ-निशुम्भ का देवी पर मोहित होना इसी प्रकार के मोह की कोटि में आता है।

देवी के मोहिनीस्वरूप में विद्या माया की प्रधानता होने पर प्राणी एकनिष्ठ भाव से उनमें अनुरक्त होता है और सांसारिक बन्धनों से ऊपर उठकर उनकी कृपा का प्रसाद प्राप्त करता है। *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में देवी के इस मोहिनीस्वरूप का वर्णन एवं ध्यान किया गया है। *सप्तशती* के तृतीय अध्याय का ध्यान यहाँ उल्लेखनीय है। जिसमें कहा गया है –

उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम्।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्देऽरविन्दस्थिताम्॥

– अध्याय ३, श्लोक १, पृष्ठ ८८

अर्थात् – जगदम्बा के श्री-अंगों की कान्ति उदयकाल के सहस्रों सूर्यों के समान है। वे लाल रंग की रेशमी साड़ी पहने हुए हैं। उनके गले में मुण्डमाला शोभा पा रही है। दोनों स्तनों पर रक्त-चन्दन का लेप है वे अपने कर-कमलों में जपमालिका, विद्या, और अभय तथा वर नामक मुद्राएँ धारण किए हुए हैं, तीन नेत्रों से सुशोभित मुखारविन्द की बड़ी शोभा हो रही है। उनके मस्तक पर चन्द्रमा के साथ ही रत्नमय मुकुट बँधा है तथा वे कमल के आसन पर विराजमान हैं। ऐसी देवी को मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

सौन्दर्यलहरी में देवी का परा-प्राकृतिक सौन्दर्य किसी के भी चित्त को मोह लेने में समर्थ है दिखाया गया है। उनका लोकोत्तर सौन्दर्य ही उनकी शक्ति है। जिसकी अभिव्यक्ति के रूप में प्रकृति के समस्त उपादानों को लक्षित किया गया है। *सौन्दर्यलहरी* के उत्तरार्द्ध के श्लोकों में देवी के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्हें सम्पूर्ण विश्व को अपनी माया से भ्रम में डालने वाली कहा गया है –

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिः सीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ९७, पृष्ठ ३५३

दुर्गासप्तशती और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थों में दुर्गा के मोहिनी स्वरूप का विशद् वर्णन प्राप्त होता है। *दुर्गासप्तशती* में जहाँ बार-बार उन्हें मोहक शक्ति धारण करने वाली (महामाया, महामोहा, कामेश्वरी, आदि) कहा गया है, वही *सौन्दर्यलहरी* में उनकी मोहक शक्ति का स्वरूपात्मक वर्णन किया गया है। दोनों ही ग्रन्थों में देवी के इस स्वरूप को सृष्टि के उद्भव, पालन और विनाश के कारण रूप में व्याख्यायित किया गया है।

विश्वात्मस्वरूपिणी

दुर्गा को आदि-शक्ति के रूप में ब्रह्म की शक्ति स्वीकार किया गया है जो सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न करती है, पालती है और उसका परिसंहार करती है। *अथर्ववेद* में प्रसंग आता है कि जब सारे देवता देवी के पास गए और उनके अभिज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो देवी ने कहा –

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च॥

. . . . अहं विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि॥

– *दुर्गासप्तशती* में संकलित श्रीदेव्यथर्वशीर्ष से उद्धृत पृष्ठ ४४, ४५

अर्थात् - मैं ब्रह्म स्वरूप हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक सत् और असत् जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं ही विष्णु, ब्रह्मदेव और प्रजापति को धारण करती हूँ।

वेदों में वर्णित देवी के इस विराट् स्वरूप का *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में पुनराख्यान किया गया है। *दुर्गासप्तशती* में देवी को विश्वेश्वरी, जगद्धात्री, स्थितिसंहारकारिणी आदि विराटता-सूचक सम्बोधन दिए गए हैं। इसमें देवी की विश्वात्मिका तथा जगदात्मा के रूप में स्तुति की गई है। द्वितीय अध्याय में देवी की स्तुति करते हुए देवताओं ने उन्हें "सम्पूर्ण देवताओं की शक्ति का समुदाय" तथा "अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाली" कहा है –

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या
निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय ४, श्लोक ३

दुर्गासप्तशती के ग्यारहवें अध्याय में देवी के विश्वात्मिका स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि –

विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः॥
– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ११, श्लोक ३३

अर्थात् – हे देवी! तुम विश्वात्मिका हो इसीलिए सम्पूर्ण विश्व को धारण करती हो।

विश्वात्मिका शब्द के इस अर्थ की व्यंजना *दुर्गासप्तशती* के अनेकानेक श्लोकों में हुई है। देवताओं द्वारा देवी की स्तुति में बार-बार यह भाव व्यक्त किया गया है कि वह देवी विश्वेश्वरी है, इस विश्व की कारणभूता परा-माया है। एकमात्र देवी ने ही उस विश्व को व्याप्त कर रखा है। वह सभी प्राणियों में विष्णु-माया, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, शक्ति, तृष्णा, क्षमा, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, आदि विभिन्न रूपों में निवास करती है। उस देवी ने चैतन्य रूप से उस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित कर रखा है –

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥
– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय पञ्चम, श्लोक ७८, ७९, ८०

सौन्दर्यलहरी में आचार्य शंकर ने देवी के विश्वात्मस्वरूप का वर्णन करते हए सम्पूर्ण सृष्टि को उसका अंगभूत माना है। सूर्य और चन्द्र उस विराट् शक्ति के दर्पण के रूप में वर्णित हुए हैं। देवी के दाहिने नेत्र के खुलने से दिन होता है और बायाँ नेत्र रात्रि की सृष्टि करता है –

अहः सूते सव्यं तव नयनमर्कात्मकतया
त्रियामां वामं ते सृजति रजनीनायकतया।
– सौन्दर्यलहरी, श्लोक (४८), पृष्ठ ३८

वेदों और उपनिषदों में वर्णित देवी के विराट् स्वरूप को *सौन्दर्यलहरी* (श्लोक १०३) में संकेतात्मक स्वीकृति देते हुए निष्कर्ष रूप में कहा गया है –

निधे नित्यस्मेरे निरवधिगुणे नीतिनिपुणे
निराघाटज्ञाने नियमपरिचित्तैकनिलये।
नियत्यानिर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे
निरातङ्के नित्ये निगमय ममापि स्तुतिमिमाम्॥
– सौन्दर्यलहरी , श्लोक १०३, पृष्ठ ३७६

अर्थात् – हे सदा हँसमुखी, असीमगुणनिधे, नीति-निपुणे, निरतिशय ज्ञानवती, नियमपरायण, भक्तों के चित्त में घर करने वाली, नियति से निर्मुक्त अर्थात् नियति से अतीते, सर्वशास्त्र उपनिषद् जिसके पद की स्तुति करते हैं ऐसी अभये, सनातनी नित्ये। मेरी उस स्तुति को भी स्वीकार करके अपने नियमों में स्थान दो।

सौन्दर्यलहरी के उपर्युक्त श्लोक में संकेत रूप में देवी के विश्वात्मा स्वरूप का उल्लेख किया गया है। श्लोक में प्रयुक्त प्रत्येक विशेषण देवी के विराट् और विश्वव्यापी स्वरूप का संकेत करने वाला है। साक्षात् माया होने के कारण उपनिषदों में देवी शक्ति को ब्रह्म का "हास" कहा गया है। इस प्रकार उनका सदा हँसमुख होना उनकी व्यापक सत्ता का द्योतक है। इसी प्रकार असीम गुणनिधि और नीति-निपुण शब्दों से भी उनकी विराटता का द्योतन होता है। "भक्तों के चित्त में घर करने वाली" शक्ति सूक्ष्माति-सूक्ष्म और सर्वव्यापिणी है। सम्पूर्ण संसार को बनाने वाली और संचालित करने वाली होने के कारण वह स्वयं नियति से निर्मुक्त है। समस्त शास्त्र और उपनिषद् उस देवी की एक स्वर से महिमा गाते हैं और उसे विश्व की उद्भवकारिणी, पालनकारिणी और संहारकारिणी मानते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदों तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थों में वर्णित विश्वात्मिका शक्ति का विभिन्न नामों से *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में महिमा-गायन किया गया है। दोनों ही ग्रन्थ देवी के विश्वात्मिका स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसे नित्य, निर्विकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापिणी सृष्टि की आदिकर्त्ता, भक्तों के हृदय में निवास करने वाली आदि मानते हैं। इन रूपों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि माँ भगवती के प्रकृति रूप को माँ की ममतामयी धारणा में प्रवर्तित किया गया है। देवी की माता रूप धारणा का अभिप्राय मानव को स्थान देना है। प्रकृति की शक्ति मानव में समायी हुई है। यह शक्ति की सर्वव्यापकता है, अतः यहाँ विश्वप्रेम की धारणा व्यक्त हुई है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की समरसता यह लक्ष्य करने योग्य है।

षष्ठम परिच्छेद

उभय ग्रन्थों में भक्ति-तत्त्व विवेचन

भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में भक्ति (उपासना) की जड़ें अत्यन्त गहरी हैं। यहाँ उपासकों के उपास्य देवता के रूप भिन्न-भिन्न हैं। यह परम्परा चिरकाल से चली आ रही है। भारतीय साहित्य के ग्रन्थ वेदों, पुराणों एवं उपनिषदों इत्यादि में (भक्ति-तत्त्व का) भक्ति की् पराकाष्ठा दृष्टिगत होती है।

"भज् सेवायाम्" धातु से "स्त्रियां क्तिन्" (पा. सूत्र) इस सूत्र के अनुसार "क्तिन्" प्रत्यय लगाने पर "भक्ति" शब्द बनता है। वस्तुतः "क्तिन्" प्रत्यय भाव अर्थ में होता है – "भजनं भक्तिः।" भक्ति शब्द का वास्तविक अर्थ है "सेवा"। यह सेवा भिन्न-भिन्न रूपों में होती है। जिसमें किसी भी प्रकार की भक्ति होती है उसे "भक्त" कहते हैं। भक्ति के अनेकों भेद शास्त्रों में कहे गए हैं। भक्ति के बिना किसी भी मनोरथ की प्राप्ति नहीं हो सकती यह अनुभवसिद्ध है। भगवत् प्राप्ति भी भक्ति के बिना सम्भव नहीं है साथ ही भगवान् भी अपने भक्त का भजन किया करते हैं। जैसाकि *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता* के प्रस्तुत श्लोक के द्वारा स्पष्ट हो रहा है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
– अध्याय ४, श्लोक ११, पृष्ठ ६६

यहाँ श्रीकृष्णजी अर्जुन को संकेत करते हुए कहते हैं – हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ (क्योंकि) सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। अर्थात् भगवान् में चित्त की स्थिरता को ही भक्ति कहते हैं।

वेदों का परम लक्ष्य परमेश्वर का प्रतिपादन है। वेदों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप वाले वरुण, इन्द्र, अग्नि, यम, सोम, आदि एक ही सृष्टि (परब्रह्म) की स्थिति एवं प्रलय का कार्य सम्पादित कर रहे हैं। जैसाकि *ऋग्वेद* के निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो रहा है –

रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते॥

वेदों में नवधा भक्ति का निरूपण किया गया है। इसके अन्तर्गत (१) श्रवण,

(२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) दास्य, (७) वन्दन, (८) सख्य, तथा (९) आत्मनिवेदन आते हैं।

पुराणों में भी प्रायः भक्ति-तत्त्व की ही प्रधानता दृष्टिगत होती है। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म की ही उपासना सर्वप्रधान है। उपनिषद् में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों की चर्चा की गई है। शास्त्रों में पुराण को "पंचम वेद" के नाम से उद्घोषित किया गया है। वेदों के गूढ़ अर्थ को समझने हेतु इतिहास (*रामायण, महाभारत*), पुराणादि का ज्ञान अत्यावश्यक है। पुराणों में प्रतीकोपासना, अवतारवाद, इत्यादि दृष्टिगत होता है।

पुराणों में शाक्तोपासना का भी विशेष महत्त्व है। शाक्त पुराणों में देवी के स्वरूप, महिमा, उपासना, भक्ति, इत्यादि का सविस्तार वर्णन है। शाक्त पुराणों के अन्तर्गत निम्न पुराण आते हैं –

१. *देवीभागवत पुराण*।
२. *मार्कण्डेय पुराण*।
३. *कालिका पुराण*।
४. *देवी पुराण*।

महाभागवत पुराण इत्यादि का शाक्त परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये पुराण पूर्णतयः देवी के माहात्म्य की स्थापना करने वाले हैं। इन शाक्त पुराणों की परम्परा में *मार्कण्डेय पुराण* का भी प्रमुख स्थान है। हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ *दुर्गासप्तशती, मार्कण्डेय पुराण* का ही एक प्रमुख भाग है। *मार्कण्डेय पुराण* के अन्तर्गत स्थित *दुर्गासप्तशती* के द्वारा देवी के माहात्म्य की, शक्ति की तथा भक्ति द्वारा देवी के प्रसन्न होने एवं विशेष फल प्राप्ति के दर्शन होते हैं।

दुर्गासप्तशती के अन्तर्गत देवी के प्रायः समस्त रूपों के दर्शन होते हैं जैसे – भक्तवत्सला, दुष्टसंहारिणी, मोक्षदात्री, करुणामयी, इत्यादि। देवी के ये रूप भक्ति के फलस्वरूप ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तुतः उभय ग्रन्थ (*दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी*) पूर्णतः भक्ति-तत्त्व से ओतप्रोत हैं। *दुर्गासप्तशती* में जब-जब देवी ने अवतार धारण किया तो सदैव भक्तों की विनम्र याचना एवं भक्ति से ही प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न रूपों को ग्रहण कर भक्तों की रक्षा की।

सौन्दर्यलहरी ग्रन्थ की तो रचना ही भक्ति से प्रेरित होकर की गई है। आचार्य शंकर की *सौन्दर्यलहरी* में सर्वत्र देवी की स्तुति एवं देवी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। *दुर्गासप्तशती* में भिन्न-भिन्न देवताओं द्वारा देवी की भक्ति की गई है। कभी ब्रह्मा के द्वारा, कभी इन्द्रादि देवताओं के द्वारा, तो कभी

राजा सुरथ के द्वारा की गई देवी की स्तुति के दर्शन होते हैं। *दुर्गासप्तशती* के अन्तर्गत विष्णु-शक्ति, देवी महामाया, महा-दुर्गा की भक्ति के दर्शन होते हैं। जबकि आचार्य शंकरकृत *सौन्दर्यलहरी* में शिव-शक्ति, देवी भगवती उमा की भक्ति एवं सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत श्लोक के द्वारा स्पष्ट हो रहा है कि *दुर्गासप्तशती* (श्लोक ५५-५८) में परम् शक्ति की विष्णु की माया के रूप में स्तुति की गई है –

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥

बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्॥

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥

अपि च –

संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥
– प्रथम अध्याय, पृष्ठ ६७, ६८

अर्थात् – जगदीश्वर भगवान् विष्णु की योगनिद्रारूपा जो भगवती महामाया है, उन्हीं से यह जगत् मोहित हो रहा है। वे ही भगवती महामाया देवी ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है। वे ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि कर्त्री है तथा वे ही प्रसन्न होने पर मनुष्यों को मुक्ति हेतु वरदान प्रदान करती है। वे ही परा-विद्या संसार-बन्धन और मोक्ष की हेतुभूता सनातनी देवी तथा सम्पूर्ण ईश्वरों की भी अधीश्वरी है।

दुर्गासप्तशती के अन्तर्गत देवी की उपासना भिन्न-भिन्न देवताओं के द्वारा की गई है। कभी देवी महामाया की स्तुति ब्रह्मा के द्वारा की गई है तो कभी इन्द्रादि-देवताओं के द्वारा देवी की भक्ति दृष्टिगत होती है।

दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय में मधु-कैटभ नाम के दो राक्षसों से स्वयं की रक्षा हेतु (भगवान्) ब्रह्म देवी (विष्णु की शक्ति-स्वरूपा) महामाया की भक्तिमय स्तुति करते हुए कहते हैं –

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः॥
– श्लोक ७३, ७४, पृष्ठ ७०

अर्थात् – हे देवी! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार – इन तीनों ही मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो। इसके अतिरिक्त जो बिन्दुरूपा नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेष रूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता है, वह भी तुम्हीं हो।

ब्रह्माजी की स्तुति के द्वारा यह स्पष्ट हो रहा है कि *दुर्गासप्तशती* में विष्णु-माया की ही स्तुति की गई है।

सौन्दर्यलहरी (श्लोक ४२) के उत्तरार्द्ध में आचार्य शंकर की स्तुति-परक प्रथम श्लोक के द्वारा ही स्पष्ट हो रहा है कि आचार्य शंकर ने देवी भगवती की स्तुति की है –

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीर्तयति यः।
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणाम्।
– *सौन्दर्यलहरी*, द्वितीय भाग, पृष्ठ २

अर्थात् – हे हिमालय पुत्री। जो मनुष्य तुम्हारे सुवर्ण के बने हुए किरीट का वर्णन करे तो उसकी धारणा ऐसी क्यों न होगी कि मानो इन्द्रधनुष निकला हुआ है, क्योंकि यह किरीट गगन-मणियों अर्थात् तारागण रूपी मणियों से घनीभूत जड़ा हुआ और चन्द्रमा के टुकड़े के बने हुए पक्षी के घोंसले के सदृश जान पड़ता है।

भगवत्पाद आचार्य शंकर के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में उत्कृष्ट भक्ति-तत्त्व के दर्शन होते हैं। *सौन्दर्यलहरी* (श्लोक १) के प्रथम स्तुतिपरक श्लोक में भक्ति-तत्त्व दृष्टिगत हो रहा है।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १, पृष्ठ १

अर्थात् – शिव-शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान होता है यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने के भी योग्य नहीं था, इसीलिए, तुझ हरि-हर और ब्रह्मा आदि की भी आराध्या देवी को प्रणाम करने की सामर्थ्य किसी भी पुण्यहीन मनुष्य में कैसे हो सकती है?

श्लोक (२२) की रचना आचार्य शंकर के द्वारा पूर्णतः भक्ति से युक्त होने के ही पश्चात् हुई है। आचार्य शंकर के निम्नवत् श्लोक में उनकी प्रेममय भक्ति के दर्शन हो रहे हैं –

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजितपदाम्॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक २२, पृष्ठ २३०

अर्थात् – हे भवानी! तू मुझ दास पर करुणामयी दृष्टि डाल – इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय "भवानि त्वं" अर्थात् (मैं तू हो जाऊँ) इस पद का उच्चारण कर पाता है कि उसी समय तू उसे निज सायुज्य पद प्रदान कर देती है, जिस पद की ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी अपने मुकुटों के प्रकाश से आरती उतारा करते हैं। (अर्थात्) प्रणाम करते रहते हैं।

इस श्लोक में भक्ति की पराकाष्ठा दृष्टिगत हो रही है। यहाँ आचार्य ने उस स्थिति को दर्शाया है। जबकि मैं (जीव) तू (देवी अथवा ब्रह्म) में कोई भी भेद शेष न रह जाए। यह ही "अहं ब्रह्मास्मि" की स्थिति हो जाती है। जबकि उपास्य और उपासक के बीच कोई भी दूरी न रहे। प्रस्तुत श्लोक में वही भाव दिखाई पड़ रहा है जो कि *गीता* के इस श्लोक (अध्याय १८, श्लोक ५५) में –

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
– पृष्ठ २८७

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि –

परा-भक्ति के द्वारा मुझ परमात्मा को मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा ही तत्त्व से जान लेता है तथा भक्ति से मुझको जानकर (वह) तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

अर्थात् जब उपासक उपास्य को अपनी भक्ति के द्वारा अत्यन्त समीप से जान लेता है तब उसकी वह स्थिति "अहं ब्रह्मास्मि" की स्थिति हो जाती है।

इन्द्रादि देवताओं के द्वारा की गई देवी भगवती (कात्यायनी) की इस स्तुति में भी भक्ति-तत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है –

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥
– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ११, श्लोक ३

अपि च –

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः॥
– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ११, श्लोक ५

अर्थात् – हे देवी! तुम अनन्त बल-सम्पन्न वैष्णवी शक्ति हो। इस विश्व की कारणभूता परा-माया हो। देवी! तुम्हीं ने इस समस्त जगत् को मोहित कर रखा है। तुम्हीं प्रसन्न होने पर पृथ्वी पर मोक्ष की प्राप्ति कराती हो –

अपि च –

सर्वभूता यदा देवी स्वर्गमुक्ति प्रदायिनी।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः॥
सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥
– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ११, श्लोक ७, ८

अर्थात् – हे देवी! जब तुम सर्वस्वरूपा देवी स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करने वाली हो, तब इसी रूप में तुम्हारी स्तुति हो गई। तुम्हारी स्तुति हेतु इससे अच्छी उक्तियाँ और क्या हो सकती हैं? और भी – बुद्धिरूप से सब लोगों के हृदय में विराजमान रहने वाली तथा स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करने वाली नारायणी देवी। तुम्हें नमस्कार है।

इसके अतिरिक्त *दुर्गासप्तशती* का पंचम अध्याय तो पूर्णतः भक्ति रस से ओत-प्रोत है। साथ ही इस अध्याय में देवताओं के द्वारा देवी महामाया की अत्यन्त आर्त्त-भाव के साथ स्तुति की गई है। यहाँ देवताओं ने एकमात्र देवी को ही समस्त दुःखविनाशिनी के रूप में स्वीकार किया है। जैसाकि प्रस्तुत श्लोकों के द्वारा स्पष्ट (प्रकट) हो रहा है –

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमो नमः॥

अपि च -

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः॥

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमो नमः॥
— श्लोक ३२-३४, ७७-८०

अर्थात् — (हे देवी!) जो देवी समस्त प्राणियों में शक्तिरूप में स्थित है उनको नमस्कार है। नमस्कार है। उनको बारम्बार नमस्कार है। और भी — जो जीवों के इन्द्रिय वर्ग की अधिष्ठात्री देवी एवं सब प्राणियों में सदा व्याप्त रहने वाली है, उन व्याप्त देवी को बारम्बार नमस्कार है।

दुर्गासप्तशती में भी वेदान्त अद्वैतवाद के दर्शन होते हैं। यह अद्वैतवाद अनेकों स्थान पर दृष्टिगत होता है। जैसे इसका एक तो उदाहरण चितिरूपेण ही है। अर्थात् जो देवी चैतन्य रूप से इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित है, उनको बारम्बार नमस्कार है, उनको नमस्कार है, उनको बारम्बार नमस्कार है।

उभय ग्रन्थों में अद्वैतवाद स्पष्टतः परिलक्षित होता है। दोनों ही ग्रन्थों में शक्ति को ही सर्वस्व माना गया है। साथ ही चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महेश हो, सभी की शक्ति रूप में देवी ही सर्वत्र विराजमान रहती है। *दुर्गासप्तशती* के (प्रथम अध्याय के) इन श्लोकों के द्वारा अद्वैतवाद की स्थापना हो रही है —

परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।
यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके॥

तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा।
यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्॥

सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।
विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च॥
— श्लोक ८२-८४

अर्थात् — पर और अपर — सबसे परे रहने वाली परमेश्वरी तुम्हीं हो। सर्वस्वरूपे देवी! कहीं भी सत्-असत् रूप जो कुछ वस्तुएँ हैं और उन

सबकी जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो। ऐसी अवस्था में तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है? जो इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान् को भी जब तुमने निद्रा के अधीन कर दिया है, तब तुम्हारी स्तुति करने में कौन समर्थ है? मुझको भगवान् शंकर को तथा भगवान् विष्णु को भी तुमने ही शरीर धारण कराया है, अतः तुम्हारी स्तुति करने की शक्ति किसमें है?

यहाँ *दुर्गासप्तशती* के उपर्युक्त श्लोकों में अद्वैतवाद की झलक स्पष्ट दिखाई दे रही है। *सौन्दर्यलहरी* में भी इसी अद्वैतवाद की झलक दिखाई देती है। जिसका एक उदाहरण निम्नवत् है।

मनस्त्वं व्योमत्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्वपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥
— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ३५, पृष्ठ ३४९

अर्थात् — हे शिवयुवती! (तू मन है तू वायु है) अर्थात् सारा अव्यक्त जगत् पंच-तत्त्वों का बना हुआ है यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहंकार शिव की प्रधान अर्द्धांगिनी भगवती जगदम्बा (पार्वती) के ही रूप हैं।

अतः उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर ये स्पष्ट हो रहा है कि आचार्य शंकर का शक्ति उपासना में प्रमुख स्थान है। साथ की *ब्रह्मसूत्र* के *शांकरभाष्य* में भी यही स्पष्ट हो रहा है —

न हि तया बिना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति।
शक्ति-रहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः॥
— *ब्रह्मसूत्र*, १४३, पर शांकरभाष्य

अर्थात् — उसके बिना परमेश्वर सृष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि वह (ईश्वर भी) शक्ति के बिना क्रियाशील नहीं हो सकते।

अपि च -

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद्विचित्रपरिणाम् उपपद्यते॥

अर्थात् — शक्ति की विभिन्नता के कारण ही ब्रह्मा की सृष्टि में भी विभिन्नता दिखाई देती है।

इसके अतिरिक्त *दुर्गासप्तशती* में अन्यान्य स्थानों पर भी अद्वैतवाद की झलक मिलती है जैसे – दशवें अध्याय में असुर शुम्भ देवी को ललकारते हुए कहता है – कि तुम तो इन्द्राणी, आदि के बल के सहारे लड़ रही हो। इस पर देवी भगवती के शरीर में ये सभी (ब्रह्माणी, इन्द्राणी, रुद्राणी, वैष्णवी आदि) देवियाँ समा जाती हैं। अकेले एकमात्र महासरस्वती की मूर्ति (स्वरूप) ही शेष रह जाता है, उसी अवसर पर देवी कहती हैं –

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥

– दशमोऽध्याय, श्लोक ५, पृष्ठ १५४

अर्थात् – इस जगत् में मैं अकेली हूँ, मेरे सिवा दूसरा कौन है। देख, ये मेरी ही विभूतियाँ हैं जोकि मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं। यहाँ देवी के उपर्युक्त कथन से अद्वैतवाद की स्थापना हो रही है।

भारतीय धर्म में एवं धर्मग्रन्थों में दो प्रकार की भक्ति के दर्शन होते हैं। एक तो सगुण भक्ति और दूसरी है निर्गुण भक्ति। सगुण भक्ति के अन्तर्गत ही भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की स्तुति-उपासना मनुष्यों द्वारा की जाती है। इसी सगुण भक्ति के अन्तर्गत मूर्ति-पूजा भी आती है। इसी के अन्तर्गत शैव उपासना, तथा शाक्त उपासना, आदि भी आती है। हिन्दू धर्म में शाक्त उपासना के अनेकानेक प्रकार दृष्टिगत होते हैं। भिन्न-भिन्न रीतियों के माध्यम से देवी (शक्ति) की उपासना की जाती है। शाक्त परम्परा में भी भक्ति (उपासना) के भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं। शाक्त उपासना प्रायः मातृ-रूप में दृष्टिगत होती है। प्रायः जितने भी महान् शाक्त उपासक दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने माँ के रूप में ही शक्ति की उपासना की है। शाक्त उपासकों की श्रेणी में आदिगुरु शंकराचार्य, श्री रामकृष्ण परमहंस, निम्बार्काचार्य, आदि शाक्त उपासकों ने मातृ-रूप की ही स्तुति की है। इसी के साथ ही *मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती* में भी ब्रह्मा तथा राजा सुरथ एवं इन्द्रादि देवताओं के द्वारा देवी-भगवती (महामाया) की स्तुति मातृ-रूप में ही की गई है।

दोनों ही ग्रन्थों *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* में देवी की मातृ-स्वरूप की ही स्तुति की गई है। *दुर्गासप्तशती* के अन्तर्गत प्रथम अध्याय (श्लोक ७५) में ब्रह्माजी के द्वारा की गई स्तुति का वर्णन आता है। ब्रह्मा की स्तुति में स्पष्टतः यह दिखाई दे रहा है कि उन्होंने जननी के रूप में देवी की स्तुति की है।

त्वमेव सन्ध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा॥

यहाँ ब्रह्माजी विष्णु-शक्ति देवी महामाया की स्तुति में कहते हैं कि – देवी! तुम्हीं

सन्ध्या, सावित्री तथा परम जननी हो। यहाँ "परम जननी" शब्द से यह स्पष्ट हो रहा है कि ब्रह्मा की स्तुति देवी के मातृ-स्वरूप को ध्यान में रखकर ही की गई है। उसके साथ ही ब्रह्मा ने देवी की स्तुति में यह भी कहा है –

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।

– *दुर्गासप्तशती*, प्रथमोऽध्याय, श्लोक ७३, पृष्ठ ७०

अर्थात् – हे देवी! तुम्हीं जीवन प्रदान करने वाली सुधा (अमृत) हो तुम्हीं नित्य अक्षर प्रणव में (अकार, उकार, मकार) इन तीनों ही मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो।

अपि च –

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च॥
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्।

– *दुर्गासप्तशती*, प्रथमोऽध्याय, श्लोक ८४ पृष्ठ ७२

यहाँ भी ब्रह्मा की यह स्तुति देवी के मातृरूप को ही ध्यान में रखकर ही की गई है। यहाँ भी ब्रह्माजी कहते हैं –

हे जगत् माता तूने मुझ (ब्रह्मा) को, विष्णु और रुद्र को शरीर ग्रहण कराया है। अतः तुम्हारी स्तुति करने में कौन समर्थ हो सकता है।

शाक्त पुराणों में मातृ-भाव अवलम्बन करके परा-शक्ति भगवती की आराधना के द्वारा होने वाली विशेष फल-प्राप्ति को पुनः-पुनः कहा गया है। जैसाकि प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट हो रहा है –

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
मातुः परतरं किंचिदधिकं भुवनत्रये॥

– नीलकण्ठद्धकृत देवीभागवत की टीका से उद्धृत

अर्थात् – वह परा-शक्ति सभी देव-दानवों के द्वारा आराधनीया है। त्रिभुवन में क्या माता से बढ़कर भी कोई पूजनीय है?

अपि च –

धिग्-धिग्-धिग् धिक् च तज्जन्म यो न पूजयते शिवाम्।
जननीं सर्वजगतः करुणारससागराम्॥

– तदेव

अर्थात् – जो सारे जगत् की जननी है, करुणा-रस के समुद्र के समान हैं, उन मंगलमयी जननी की जो पूजा नहीं करता, उसके जन्म को सौ बार धिक्कार है।

अतः यहाँ उपर्युक्त श्लोक के आधार पर स्पष्ट हो रहा है कि वह विष्णु-शक्ति (*दुर्गासप्तशती* के अनुसार) या शिव-शक्ति देवी भगवती (*सौन्दर्यलहरी* के अनुसार) ही इस सम्पूर्ण सृष्टि की जननी है। प्राणिमात्र की उत्पत्ति का कारण ही वह परा-शक्ति है। साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट हो रहा है कि भले ही उभय ग्रन्थों में देवी की स्वतन्त्र स्तुति की गई है, परन्तु जहाँ भी, जिस भी देवता की, शक्ति की स्तुति होती है वहाँ देवी महामाया ही परोक्ष रूप से उन देवता की शक्ति रूप में विद्यमान रहती है। वह देवी महामाया कभी श्रीकृष्ण की शक्ति श्रीराधा के रूप में, तो कभी शिव-शक्ति के रूप में कभी विष्णु की शक्ति के रूप में तो कभी श्रीराम की शक्ति सीता के रूप में दिखाई देती है। अतः भिन्न-भिन्न शाक्त ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि यत्र-तत्र-सर्वत्र जो कुछ भी स्थित है (होता है) उन सबके पीछे एकमात्र कारण वह परम् शक्ति ही है वही शक्ति सर्वत्र कार्यकारिणी रूप में परिलक्षित होती है। यही भाव *महाकाल-संहिता* में प्रस्तुत महाकाली के स्तवन से भी स्पष्ट हो रहा है –

अचिन्त्यापि साकारशक्तिस्वरूपा
प्रतिव्याक्त्यधिष्ठानसत्वैकमूर्तिः।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा॥

अर्थात् – हे देवी! तुम अचिन्तनीय होते हुए भी साकार मूर्ति स्वरूपा हो। प्रत्येक प्राणी में सत्त्व-गुण रूप में विशेष भाव से विराजमान रहती हो तथा गुणातीत हो। केवल तत्त्व-ज्ञान से ही तुम जानी जाती हो, तुम्हीं परब्रह्म रूप से प्रसिद्ध हो। तुम्हारा वर्णन करने की शक्ति भला किसमें हो सकती है?

यही भाव आचार्य शंकर की *सौन्दर्यलहरी* (श्लोक ३५) से भी निकल रहा है –

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥
– पृष्ठ ३४९

अर्थात् – हे देवी भगवती! तू मन है, तू वायु है और वायु जिसका सारथी, है वह अग्नि भी तू ही है। तू जल है, और तू भूमि है, तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं आता है अर्थात् सारा विश्व तेरी ही परिणति है।

आचार्य शंकर की *सौन्दर्यलहरी* द्वितीय भाग (श्लोक ७५) में भी मातृ-रूप स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। जिसका उदाहरण देवी की स्तुतिपरक यह श्लोक है –

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥
– पृष्ठ १९७

भक्ति ग्रन्थों में साधन को आधार मानकर भक्ति के दो प्रधान भेद किए गए हैं। प्रथम साधन-रूप भक्ति या वैधी भक्ति और दूसरा साध्य-रूप भक्ति या प्रेमा-भक्ति। वैधी भक्ति के अन्तर्गत आराध्य की प्रसन्नता के लिए और उसकी कृपा प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के विधान किए जाते हैं इनमें से नौ विधान प्रमुख हैं जिनके आधार पर नवधा भक्ति का विवेचन शास्त्रों एवं पुराणों में प्राप्त होता है। *श्रीमद्भागवत* (७.५.२३) में नवधा भक्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है –

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

अर्थात् – भगवान् विष्णु के नाम, रूप, गुण और प्रभाव, आदि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण, भगवान् की चरण-सेवा, पूजन, वन्दन, भगवान् के प्रति दास-भाव, सखा-भाव और अपने को समर्पित कर देना – यह नौ प्रकार की भक्ति है।

उपास्य सत्ता कोई भी हो, उपर्युक्त नौ प्रकार के भक्ति-साधन सभी के लिए उपयुक्त हैं। ये साधन इतने व्यापक एवं स्वाभाविक हैं कि भक्ति की चाहे जो कोटि हो, कहीं न कहीं इनका महत्त्व लक्षित होता रहता है। *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में भक्ति के ये सभी भेद प्राप्त होते हैं जिसकी संक्षिप्त निदर्शना यहाँ प्रस्तुत है।

श्रवण

आराध्य अथवा उपास्य सत्ता के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला-तत्त्व और रहस्य की अमृतमयी कथाओं पर श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन

अमृतमयी कथाओं का श्रवण करके प्रेम में मुग्ध हो जाना श्रवण-भक्ति का स्वरूप है। श्रवण-भक्ति की प्राप्ति के लिए श्रद्धा, और प्रेमपूर्वक महापुरुषों को साष्टांग प्रणाम, उनकी सेवा और उनसे नित्य निष्कपट भाव से प्रश्न करना उनके बताए हुए मार्ग के अनुसार आचरण करने के लिए तत्परता से चेष्टा करना आदि प्रमुख साधन बतलाए गए हैं। –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

– *श्रीमद्भगवद्गीता* ४.३४।

दुर्गासप्तशती में श्रवण-भक्ति का प्रतिपादन विशेष रूप से किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य का मेधा ऋषि के प्रश्नोत्तर रूप में रचित है। मेधा ऋषि के आश्रम में पहुँचकर राजा सुरथ और समाधि वैश्य महर्षि से प्रश्न करते हैं कि हम सबमें मोह क्यों व्याप्त है? वह कौन सा तत्त्व है जो हमारे ज्ञानवान् होने पर भी हमसे अविवेकियों जैसा व्यवहार कराता है? –

तत्किमेतन्महाभाग यन्मोहो ज्ञानिनोरपि

– *दुर्गासप्तशती*, १.४४ पृष्ठ ६६

राजा सुरथ के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मेधा ऋषि कहते हैं कि –

महा-माया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।
तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्॥

– *दुर्गासप्तशती*, १.५५, ५६, पृष्ठ ६७

अर्थात् – जगदीश्वर भगवान् विष्णु की योग-निद्रा रूपी जो भगवती महामाया हैं उन्हीं से यह जगत् मोहित हो रहा है, वे भगवती महामाया ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है। वे ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि करती है तथा वे ही प्रसन्न होने पर मनुष्यों को मुक्ति के लिए वरदान देती हैं।

ऋषि के इस उत्तर से सुरथ और समाधि दोनों के मन में देवी के रहस्य और उनकी लीलाओं को सुनने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती है और वे ऋषि से देवी के विषय में प्रश्न करते हैं। इस प्रसंग में श्रवण-भक्ति के आरम्भिक चरण के लक्षण स्पष्ट देखे जा सकते हैं जिसमें भक्त के मन में उपास्य की

महत्ता के विषय में किसी विज्ञ व्यक्ति से जिज्ञासा की जाती है। श्रवण-भक्ति के आरम्भिक लक्षण के रूप में राजा सुरथ का प्रश्न द्रष्टव्य है –

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्॥
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज।
यत्प्रभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर॥

– *दुर्गासप्तशती*, १.६०-६२, पृष्ठ ६८

अर्थात् – भगवन्! जिन्हें आप महामाया कहते हैं वो देवी कौन है? उनका आविर्भाव कैसे हुआ तथा उनके चरित्र कौन-कौन से हैं? हे महर्षि! उन देवी का जैसा प्रभाव हो, जैसा स्वरूप हो और जिस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ हो वह सब मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ।

सम्पूर्ण *दुर्गासप्तशती* श्रवण-भक्ति का ही आख्यान है। मेधा ऋषि जैसे-जैसे देवी की कथा सुनाते जाते हैं वैसे-वैसे राजा सुरथ के मन में देवी की लीलाओं के श्रवण की अभिलाषा भी बढ़ती जाती है। श्रवण भक्ति का यह दूसरा चरण है। श्रवण-भक्ति करने वाला भक्त कभी भी अपने आराध्य के गुण श्रवण से तृप्त नहीं होते हैं। और उनकी यह श्रवणेच्छा निरन्तर बढ़ती ही जाती है। ऐसे ही भक्तों को उनके आराध्य की कृपा प्राप्त होती है –

जिनके श्रवन समुद्र समाना कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे तिन्ह के हिय तुम्ह कँह गृह रूरे॥

– *रामचरितमानस*, २.१३६

सौन्दर्यलहरी में अधिकांशतः देवी की स्तुति की गई है जिनमें देवी की महत्ता का गान किया गया है। इसमें श्रवण-भक्ति का सिद्धान्त न बताते हुए उसे व्यवहार में ही व्यक्त किया गया है। इन स्तुतिपरक श्लोकों में देवी के स्वरूप, गुण, लीला, आदि का गान किया गया है। जिनका श्रवण मोक्ष प्रदान करने वाला है।

कीर्तन

उपास्य के नाम पर रूप, गुण, प्रमाण, चरित्र तत्त्व और रहस्य का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते-करते शरीर में रोमांच, कण्ठावरोध, अश्रुपात, हृदय की प्रफुल्लता, मुग्धता, आदि का होना कीर्तन-भक्ति का स्वरूप है। *श्रीमद्भगवद्गीता* (९.३०-३१) में कीर्तन के महत्त्व को बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

अर्थात् — यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है। क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है (उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है) इसीलिए वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परमशक्ति को प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवत और *रामायण* आदि सभी भक्ति के ग्रन्थों में भगवान् के नाम और गुणों के कीर्तन से सब पापों का नाश एवं भगवत् प्राप्ति बताई गई है। *श्रीमद्भागवत* (१२.१२.४७) में कहा गया है कि —

संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्को ऽभ्रमिवातिवातः॥

— पृष्ठ १४७८

अर्थात् — जिस तरह सूर्य अन्धकार को, प्रचण्ड वायु बादल को छिन्न-भिन्न कर देता है। उसी प्रकार कीर्तन करने पर विख्यात प्रभाव वाले अनन्त भगवान् मनुष्यों के हृदय में प्रवेश करके उनके सारे पापों को विध्वंस कर डालते हैं।

दुर्गासप्तशती में कीर्तन का महत्त्व बताते हुए देवी ने स्वयं कहा है कि "जो एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन स्तुतियों से मेरा स्तवन करेगा उसकी सारी बाधा मैं निश्चय ही दूर करूँगी।" (*दुर्गासप्तशती,* १२.२) देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देते समय देवी कहती हैं —

रक्षां करोति भूतेभ्यो जन्मनां कीर्तनं मम।
युद्धेषु चरितं यन्मे दुष्टदैत्यनिबर्हणम्॥

— *दुर्गासप्तशती* १२.२३

अर्थात् — मेरे प्रादुर्भाव का कीर्तन समस्त भूतों से रक्षा करता है तथा मेरे युद्ध-विषयक चरित्र का कीर्तन दुष्ट दैत्यों का संहार करने वाला है।

सिद्धान्त रूप में *दुर्गासप्तशती* में उपर्युक्त कथन प्राप्त होते हैं, व्यवहार में भी इसमें ऋषि-मुनियों एवं अन्यान्य देवताओं को देवी का निरन्तर कीर्तन और उनकी स्तुति करते हुए दिखाया गया है। प्रथम अध्याय में की गई ब्रह्मा द्वारा स्तुति, द्वितीय, चतुर्थ, पंचम तथा एकादश अध्याय में देवताओं द्वारा की गई स्तुति, कीर्तन, भक्ति उत्कृष्ट प्रसंगों के रूप में द्रष्टव्य हैं जिनमें देवी की महिमा, शक्ति, दया, ममता, आदि का गुण-गान करते हुए उनकी कृपा-प्राप्ति की कामना की गई है।

दुर्गासप्तशती की ही भाँति *सौन्दर्यलहरी* में भी देवी के कीर्तन द्वारा उनकी कृपा-प्राप्ति की कामना की गई है। *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक विशेष आलंकारिक होने के कारण भावों को सीधे-सीधे प्रकट न करके उनके अर्थ की व्यंजना करते हैं। उदाहरणार्थ श्लोक ८ द्रष्टव्य है, जिसमें व्यंग्य के रूप में देवी के भजन की महत्ता बताई गई है —

सुधासिन्धोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाकारे मञ्चे परमशिवपर्यङ्कनिलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम्॥

— सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८, पृष्ठ ९८

अर्थात् — वे व्यक्ति धन्य हैं जो निरन्तर देवी का भजन करते रहते हैं क्योंकि ऐसे विरले भक्तों को ही देवी की कृपा प्राप्त होती है।

सौन्दर्यलहरी के अधिकांश श्लोकों में देवी के गुणों और सौन्दर्य का कीर्तन किया गया है। इस प्रकार यह स्तुतिपरक कृति कवि की अपनी कीर्तन-भक्ति का श्रेष्ठ उदाहरण है। कीर्तन-भक्ति के महत्त्व को संकेतित करने वाले एक श्लोक में कहा गया है — ब्रह्मा देवी के अभयदान देने वाले हाथों की समर्पण बुद्धि से अपने चारों मुखों से स्तुति किया करते हैं —

मृणालीमृद्वीनां तव भुजलतानां चतसृणां
चतुर्भिः सौन्दर्यं सरसिजभवः स्तौति वदनैः।
नखेभ्यः संत्रस्यन्प्रथममथनादन्धकरिपो-
श्चतुर्णां शीर्षाणां सममभयहस्तार्पणधिया॥

— *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ७०, पृष्ठ १७०

श्लोक में निहित गूढ़ार्थ यह माना जा सकता है कि जो समर्पण भाव से देवी की स्तुति करता है उसे देवी अभयदान देती है।

इस प्रकार *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में कीर्तन-भक्ति का पर्याप्त निरूपण हुआ है। दोनों ही ग्रन्थों में यह निरूपण सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों रूपों में प्राप्त होता है।

स्मरण

आराध्य के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्त्व, रहस्य आदि की जिन कथाओं का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया गया हो उसका मनन करना, स्मरण-भक्ति का स्वरूप है। स्मरण-भक्ति के उपायों को बताते हुए कहा गया है कि एकान्त एवं पवित्र स्थान में सुखपूर्वक स्थिर, सरल आसन से बैठकर इन्द्रियों को विषयों से रहित करके, कामना और संकल्प को त्याग कर, प्रशान्त और वैराग्ययुक्त चित्त से अथवा कोई भी क्रिया करते समय शुद्ध और सरल भाव से भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना और भगवान् की लीलाओं का स्मरण करके मुग्ध होने से स्मरण-भक्ति पुष्ट होती है।

स्मरण-भक्ति से सारे पाप, विघ्न, अवगुण और दुःखों का अत्यन्ताभाव हो जाता है। स्मरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि –

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः

– *गीता,* अध्याय ७ श्लोक १४

अर्थात् – हे अर्जुन! तू सब समय में निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा मेरा स्मरण करता है, उसे मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

स्मरण-भक्ति के महत्त्व को *दुर्गासप्तशती* में विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। *दुर्गासप्तशती* के द्वादश अध्याय में देवी का स्वयं कथन है कि –

स्मरन्ममैतच्चरितं नरो मुच्येत सङ्कटात्।
मम प्रभावात्सिंहाद्या दस्यवो वैरिणस्तथा ॥
दूरादेव पलायन्ते स्मरतश्चरितं मम ॥

– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय १२, श्लोक २९, पृष्ठ १७६

अर्थात् – विषम-से-विषम परिस्थिति में जो मेरे इस चरित्र का स्मरण करता है, वह संकट से मुक्त हो जाता है। मेरे प्रभाव से सिंह आदि हिंसक जन्तु नष्ट हो जाते हैं, लुटेरे और शत्रु भी मेरे चरित्र का स्मरण करने वाले पुरुष से दूर भाग जाते हैं।

दुर्गासप्तशती में देवी को अतिशय करुणापूर्ण और भक्तों पर सदा दयालु रहने वाली बताया गया है। उनकी स्तुति करते हुए देवता कहते हैं –

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।

दारिद्रयदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता ॥

– *दुर्गासप्तशती,* चतुर्थ १७, पृष्ठ १०२

अर्थात् – हे माँ दुर्गे! आप स्मरण करने पर सभी प्राणियों का भय हर लेती हैं और स्वस्थ पुरुषों द्वारा चिन्तन करने पर उन्हें परम कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करती हैं। दुःख, दरिद्रता और भय को हरने वाली देवी आपके अतिरिक्त दूसरा कौन है जिसका चित्त सबका उपकार करने के लिए सदा ही दयार्द्र रहता है।

दुर्गासप्तशती में प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में दिए गए "ध्यान" के रूप में देवी के विभिन्न रूपों एवं उनकी शक्ति का स्मरण करने का विधान किया गया है। इस प्रकार जहाँ एक ओर स्मरण-भक्ति का सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया गया है वहीं दूसरी ओर उसे व्यवहार में भी अपनाया गया है।

आचार्य शंकर कृत *सौन्दर्यलहरी* में देवी के अनिन्द्य सौन्दर्यशाली स्वरूप को निरन्तर स्मरण करते रहने योग्य मानकर अनेक प्रकार से उसका वर्णन किया गया है। देवी का यह लोकोत्तर सौन्दर्य भक्तों के मन को आकृष्ट करके उसे अभिभूत कर लेने में सक्षम है। देवी के अंग-प्रत्यंगों का ध्यान समस्त सांसारिक ऐश्वर्य प्रदान करने के साथ-साथ मोक्ष का भी प्रदाता है। एक श्लोक में "स्मरण" की महिमा बताते हुए स्पष्ट कहा गया है कि जो मनुष्य देवी के सुन्दर स्वरूप का ध्यान करता है, वह उच्च कोटि के काव्यों की रचना करने लगता है। उसकी सुन्दर कविता वाग्देवी के मुख-कमल के आमोदपूर्ण माधुर्य से युक्त होती है –

सवित्रीभिर्वाचां शशिमणिशिलाभङ्गरुचिभि-
र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति यः।

स कर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गिरुचिर्भि-
वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः ॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १७, पृष्ठ १९७

इस प्रकार सांसारिक भोगों को प्राप्त करने की कामना रखने वाले व्यक्ति के लिए भी देवी का ध्यान किस प्रकार फल-प्रदायी है, इसे *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक १८ में देखा जा सकता है –

तनुच्छायाभिस्ते तरुणतरणिश्रीसरणिभि-
र्दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः ।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिणशालीननयनाः
सहोर्वश्या वश्याः कति कति न गीर्वाणगणिकाः ॥
– पृष्ठ २०४

पादसेवनम्

आराध्य के दिव्य मंगलमय स्वरूप के धातु आदि की मूर्ति, चित्रपट अथवा मानस-मूर्ति के मनोहर चरणों का श्रद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करते-करते भागवत् प्रेम में तन्मय हो जाना ही पादसेवन कहलाता है। बार-बार अतृप्त नयनों से आराध्य के चरणारविन्द का दर्शन करना अपने हाथों से उनके चरणों का पूजन एवं सेवन करना, आराध्य की चरण पादुकाओं का पूजन और मन से चिन्तन, आराध्य की चरण-रज को मन से मस्तक पर धारण करना, हृदय में लगाना, उनके चरणों से स्पर्श किए हुए शय्या-आसन, आदि को तीर्थ के समान पवित्र समझकर उनका समादर करना, विभिन्न तीर्थ-स्थानों में जाकर, वहाँ की धूलि को आराध्य की चरण-धूलि मानकर मस्तक पर धारण करना आदि सभी पादसेवन-भक्ति के ही विभिन्न प्रकार हैं।

दुर्गासप्तशती में विभिन्न स्थलों पर देवताओं और ऋषि-मुनियों द्वारा देवी की चरण-सेवा करने और परिणामस्वरूप अभीप्शित वरदान प्राप्त करने का वर्णन प्राप्त होता है। राक्षसों से पीड़ित देवता देवी की प्रार्थना करते हैं और स्वयं को उनके चरणों में समर्पित कर देते हैं। फलतः देवी उनके शत्रु राक्षसों का संहार करती है।

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्तिहारिणि ।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥
– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय ११ श्लोक ३५, पृष्ठ १६७

सौन्दर्यलहरी (श्लोक २५) में आचार्य शंकर ने देवी की चरण-सेवा मात्र से सम्पूर्ण देवताओं की पूजा हो जाना स्वीकार किया है। मनुष्य तो मनुष्य, ब्रह्मा विष्णु और शंकर जैसे देवता भी देवी के चरण-स्पर्श से पवित्र हुई मणियों को अपने मस्तक पर धारण करने के लिए लालायित रहते हैं।

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता ।
तथा हि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिताह्येते शश्वन्मुकुलितकरोत्तंसमकुटाः ॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक २५, पृष्ठ २५०

देवी के चरणों का ध्यान करने से हृदय की समस्त दुर्वृत्तियों का शमन हो जाता है और विमल-ज्ञान का उद्भव होता है। देवी के चरणों का स्पर्श प्राप्त करके जड़ व्यक्ति भी वाग्विभूति से सम्पन्न हो जाता है। *सौन्दर्यलहरी* में वेदों के सम्पूर्ण ज्ञान को देवी के चरणों के नीचे बताया गया है। कवि अभिलाषा करता है कि देवी के जो चरण श्रुतियों की मूर्धा पर शिखरवत् रखे हैं वे उसके सिर को भी स्पर्श कर देते तो यह देवी की परम-कृपा होती। –

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूडामणिरुचिः ॥
– श्लोक, ८४, पृष्ठ २४६

प्रकारान्तर से यहाँ यह कहा गया है कि जिसे देवी का चरण-स्पर्श प्राप्त हो जाए वह वेदों के समस्त ज्ञान का अधिकारी हो जाएगा। देवी के ऐसे चरण-स्पर्श की स्पृहा भगवान् शंकर भी रखते हैं फिर सामान्य जन की बात ही क्या? –

नमोवाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयो-
स्तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालभकवते ।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकङ्केलितरवे ॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ८५, पृष्ठ २५२

सौन्दर्यलहरी में कवि ने भगवान् शंकर को भी देवी की चरण-सेवा करने की इच्छा रखते हुए दिखाया गया है। जिसमें व्यंजित भाव यह है कि जब देवी की

चरण-सेवा के लिए शंकर जैसे देवता भी अवसर ढूँढते रहते हैं तो सामान्य भक्तों के लिए तो उससे बढ़कर भक्ति का और कोई साधन हो ही नहीं सकता। इसी भाव को व्यक्त करते हुए आचार्य शंकर ने देवी के चरणोदक को पान करने की उत्कट अभिलाषा जताई है। जिसमें जन्म के गूँगे को भी कविता शक्ति प्रदान करने की क्षमता है –

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
कदा धत्ते वाणीमुखकमलताम्बूलरसताम्॥

– श्लोक ९८, पृष्ठ ३४२

अर्चन

अर्चन के महत्त्व को बताते हुए *श्रीविष्णु-रहस्य* में कहा गया है कि –

श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥

अर्थात – जो लोग इस संसार में श्रीविष्णु भगवान् की अर्चना करते हैं, वे भगवान् के अविनाशी आनन्दस्वरूप परम पद को प्राप्त करते हैं।

भगवान् के भक्तों से सुने हुए शास्त्रों में पढ़े हुए, धातु आदि से बनी मूर्ति या चित्रपट के रूप में देखे हुए अपने मन को अच्छा लगने वाले भगवान् के किसी भी स्वरूप का बाह्य सामग्रियों से, मानसिक सामग्रियों से अथवा सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा को स्थित समझकर सबका आदर-सत्कार करते हुए यथायोग्य नानाविध उपचारों से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनका पूजन करना और उनके तत्त्व-रहस्य तथा प्रभाव को समझ-समझकर प्रेम में मुग्ध होना अर्चन-भक्ति है।

पत्र, पुष्प, चन्दन आदि सात्त्विक पवित्र और न्यायोपार्जित द्रव्यों से आराध्य की प्रतिमा पर श्रद्धापूर्वक पूजन करना, भगवान् की प्रीति प्राप्त करने के लिए शास्त्रोक्ति यज्ञादि करना, सबको भगवान् का स्वरूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा करना तथा सत्कार, मान-पूजा, आदि से सन्तुष्ट करना आदि बाह्य पूजा के प्रकार हैं। शास्त्रों में वर्णन किए हुए भगवान् के किसी भी अलौकिक रूप लावण्ययुक्त परम तेजोमण्डित स्वरूप का मन के द्वारा चिन्तन करके आह्लादपूर्वक मन में उसका आह्वान, स्थापन और नानाविध मानसिक

सामग्रियों के द्वारा अत्यन्त श्रद्धा और प्रेम के साथ पूजन करना मानस पूजा है।

नवधा भक्ति के अन्तर्गत अर्चन का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। *श्रीमद्भागवत* (१०.८६.६६) में कहा गया है –

स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्॥

अर्थात् – भगवान् के चरणों पर अर्चन-पूजन करना जीवों के स्वर्ग और मोक्ष का एवं मर्त्यलोक एवं पाताललोक में रहने वाली समस्त सम्पत्तियों का और सम्पूर्ण सिद्धियों का भी मूल है।

दुर्गासप्तशती में देवी के अर्चन-पूजन का विशेष माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए देवी के अर्चन की विस्तृत विधि बताई गई है। पुष्प, अर्घ्य, धूप, दीप, गन्ध, आदि उत्तम सामग्रियों द्वारा पूजन करने से, ब्राह्मणों को भोजन कराने से, होम करने से, प्रतिदिन अभिषेक करने से, नाना प्रकार के अन्य भोगों का अर्पण करने से तथा दान देने आदि से एक वर्ष तक जो देवी की आराधना करता है उस पर देवी विशेष प्रसन्न होती है –

सर्वं ममैतन्माहात्म्यं मम सन्निधिकारकम्।
पशुपुष्पार्घ्यधूपैश्च गन्धदीपैस्तथोत्तमैः॥

विप्राणां भोजनैर्होमैः प्रोक्षणीयैरहर्निशम्।
अन्यैश्च विविधैर्भोगैः प्रदानैर्वत्सरेण या॥

– *दुर्गासप्तशती*, श्लोक, १२.२०-२१, पृष्ठ १७५

दुर्गासप्तशती के अंगरूप में मान्य प्राधानिक, वैकृतिक और मूर्ति रहस्यों में देवी के अर्चन-पूजन का पर्याप्त विस्तृत विधान प्राप्त होता है। देवी के पूजन की अनिवार्यता बताते हुए "वैकृतिक रहस्य" में कहा गया है कि –

महालक्ष्मीर्महाकाली सैव प्रोक्ता सरस्वती।
ईश्वरी पुण्यपापानां सर्वलोकमहेश्वरी॥

महिषान्तकरी येन पूजिता स जगत्प्रभुः।
पूजयेज्जगतां धात्रीं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्॥

– *दुर्गासप्तशती*, वैकृतिकं रहस्य श्लोक २५-२६, पृष्ठ २०३

अर्थात् – वे देवी ही पुण्य-पापों की अधीश्वरी तथा सम्पूर्ण लोकों की माहेश्वरी हैं अतः जगत् को धारण करने वाली भक्तवत्सला भगवती चण्डिका की अवश्य-पूजा करनी चाहिए।

अर्घ्य आदि से, आभूषणों से, गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप तथा नाना प्रकार के भक्ष्य पदार्थों से युक्त नैवेद्यों से, रक्तसिंचित बलि से, माँस से, तथा मदिरा से भी देवी का पूजन होता है। प्रणाम, आचमन के योग्य जल, सुगन्धित चन्दन, कपूर तथा ताम्बूल, आदि सामग्रियों को भक्ति-भाव से निवेदन करके देवी की पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार जो मनुष्य प्रतिदिन भक्तिपूर्वक परमेश्वरी का पूजन करता है वह मनोवांछित भोगों को भोगकर अन्त में देवी का सायुज्य प्राप्त करता है।

नवधा भक्ति के अन्तर्गत स्पष्टतः इस बात का उल्लेख किया गया है कि आराध्य स्वरूप का अर्चन नाना प्रकार से किया जा सकता है। जिसमें कि बाह्य सामग्री पत्र, पुष्प, आदि के माध्यम से और मानसिक पूजन के द्वारा भी आराध्य की अर्चना की जा सकती है। मानसिक पूजन में आराध्य का मन के द्वारा चिन्तन, ध्यान करके ही भक्त द्वारा स्तुति की जाती है। *सौन्दर्यलहरी* में आचार्य शंकर द्वारा देवी की इसी प्रकार से स्तुति की गई है।

सौन्दर्यलहरी में आचार्य शंकर ने देवी के अर्चन का स्पष्ट उल्लेख न करके विभिन्न लाक्षणिक रूपों में अर्चन की महत्ता प्रकट की है। अर्चन के अन्तर्गत आराध्य की आरती करना, उसे अर्घ्य, पाद्य और नैवेद्य अर्पित करना, आदि महत्त्वपूर्ण विधान माने गए हैं। *सौन्दर्यलहरी* के अन्तिम श्लोकों में देवी के अर्चन में, आरती उतारना, अर्घ्य प्रदान करना और जल से सत्कार करने का उल्लेख आलंकारिक रूप में हुआ है। यद्यपि इसमें यह सारे विधान तुलनीय रूप में प्रस्तुत किए गए हैं, तो भी इनसे अर्चन की विधि का संकेत प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ श्लोक १०० द्रष्टव्य है –

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम्॥
– पृष्ठ ३५९

अर्थात् – हे जननी! तेरी प्रदान की हुई वाक्शक्ति से की गई इस स्तुति के शब्द इस प्रकार हैं जैसे दीपक की ज्वालाओं से सूर्य की आरती उतारना अथवा चन्द्रकान्त मणि में टपकते हुए जल-कणों से चन्द्रमा को अर्घ्य प्रदान करना अथवा समुद्र का सत्कार उसी के जल से करना।

वन्दन

भगवान् के शास्त्रवर्णित स्वरूप, भगवान् के नाम, भगवान् की धातु की मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्ति को शरीर अथवा मन से श्रद्धासहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना या *समस्त* चराचर भूतों को परमात्मा का स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर या मन से प्रणाम करना और ऐसा करते हुए भगवत्प्रेम में मुग्ध होना ही वन्दन-भक्ति है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.४१) में योगीश्वर कवि कहते हैं –

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
– *श्रीमद्भागवत्*, पृष्ठ १२७५

अर्थात् – आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशाएँ और वृक्ष, लता, आदि एवं नदियाँ, समुद्र और सम्पूर्ण भूत प्राणी भगवान् के शरीर हैं। अतः भगवान् का अनन्य भक्त यावन्मात्र जगत् को भगवद्-भाव से प्रणाम करे।

भगवान् में अनन्य प्रेम रखकर भगवान् को प्राप्त करना इस भक्ति का उद्देश्य है। भगवान् के प्रेमी भक्तों का संग और सेवन करके उनके द्वारा भगवान् की वन्दन-भक्ति का रहस्य, प्रभाव और तत्त्व समझने से इस वन्दन-भक्ति की प्राप्ति सम्भव होती है –

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥
– *श्रीमद्भागवत्*, १२.१२.४६, पृष्ठ १४७८

आर्थात् – पतित, स्खलित, आर्त्त छींकता हुआ अथवा किसी प्रकार से परवश हुआ पुरुष भी यदि ऊँचे स्वर से "हरये नमः" इस प्रकार बोलता है तो वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।[४]

दुर्गासप्तशती में देवी की वन्दना अनेकशः की गई है। *दुर्गासप्तशती* के चतुर्थ अध्याय में देवता लोग देवी की वन्दना करते हुए इनकी महिमा का बखान करते हैं और अनेक प्रकार के उपचारों से उनका पूजन करके उन्हें प्रणाम करते हैं। पंचम अध्याय में देवता पुनः देवी की वन्दना करते हैं और उनकी अपरिमित शक्ति की प्रशंसा करते हैं। देवता कहते हैं –

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम्॥
— अध्याय ५, श्लोक ९

अर्थात् — देवी को नमस्कार है, महादेवी शिवा को सर्वदा नमस्कार है। प्रकृति एवं भद्रा को प्रणाम है। हम लोग नियमपूर्वक जगदम्बा को नमस्कार करते हैं।

इसी प्रकार की वन्दना और प्रणाम *दुर्गासप्तशती* में प्रायः सभी अध्यायों में प्राप्त होते हैं। जिनमें देवी की भक्ति करुणा, ममता आदि गुणों के प्रति श्रद्धा और विश्वास का भाव व्यक्त किया गया है।

सौन्दर्यलहरी को तो वन्दना-प्रधान ग्रन्थ ही माना जा सकता है। इसका प्रत्येक श्लोक देवी के प्रति ग्रन्थकार के प्रणतभाव के उद्‌गार के रूप में देखा जा सकता है। कहीं कवि देवी के सामने प्रणत होकर उनके चरणों में अपनी श्रद्धा निवेदित करता है तो कहीं उनके अलौकिक सौन्दर्य का बखान करता हुआ उनकी कृपा प्राप्ति की कामना करता है। निम्नलिखित श्लोक (८५) में कवि का देवी के प्रति प्रणत भाव दर्शनीय है —

नमोवाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयोः
तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालभकवते।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकङ्केलितरवे॥
— पृष्ठ २५२

अर्थात् — हम तेरे इन दोनों चरणों को प्रणाम कहते हैं जो नयनों को रमणीय है, जिन पर लाक्षा की तीव्र कान्ति चमक रही है और जिनके अभिहनन की स्पृहा से पशुपति तेरे प्रमोदवन के अशोक वृक्ष से अनन्य असूया रखते हैं।

दैन्य या दास्य

आराध्य के गुण, तत्त्व, रहस्य और प्रभाव को जानकर श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना दैन्य-भाव की भक्ति है। मन्दिरों में भगवान् के विग्रहों की सेवा करना, मन्दिरों की सफाई करना, मन से प्रभु के स्वरूप का ध्यान करके उनकी सेवा करना सम्पूर्ण चराचर को प्रभु का स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्ति और यथायोग्य सेवा करना धर्मशास्त्रों को भगवान् की आज्ञा मानकर उनके अनुसार आचरण करना और जो कर्म

भगवान् की रुचि प्रसन्नता और इच्छा के अनुकूल हो उन्हीं कर्मों को करना यह सभी दास्य-भक्ति के प्रकार हैं। दैन्य-भाव की भक्ति में भक्त अपने आराध य को संसार का एकमात्र स्वामी और स्वयं को सर्वतोभावेन उनका सेवक मानता है। आराध्य की इच्छा को भी अपनी इच्छा और आराध्य की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता "दास्य-भक्ति" की सर्वप्रमुख विशेषता है।

दुर्गासप्तशती में "दास्य-भाव" की भक्ति के बड़े सुन्दर सूत्र दिए गए हैं। भगवती आदि-शक्ति नित्यस्वरूपा है। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का रूप है तथा उन्होंने समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है — "नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम" वे देवी ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत् की सृष्टि करती है तथा वे ही प्रसन्न होने पर मनुष्यों को मुक्ति के लिए वरदान देती है —

तया विसृज्यते विश्वं जगदेच्चराचरम्॥
सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।
— प्रथमोऽध्यायः, श्लोक ५६-५७

दुर्गासप्तशती के पंचम अध्याय में एकमात्र देवी को ही समस्त प्राणियों का आधार बताया गया है। वे ही समस्त प्राणियों में व्याप्त चेतना हैं और वे ही समस्त प्राणियों में बुद्धि-रूप हैं। वे ही समस्त प्राणियों में शान्ति, शक्ति, क्षुधा, तृष्णा, श्रद्धा, आदि गुण भी हैं। शुम्भ नामक राक्षस से युद्ध करते समय विभिन्न शक्तियों को अपनी विभूति बताते हुए देवी कहती है —

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
— *दुर्गासप्तशती*, दशमोऽध्यायः, श्लोक ५

देवी का यह कथन दास्य-भाव की भक्ति करने वाले भक्तों के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रकृति की समस्त शक्तियों में देवी ही विशिष्ट रूपों में व्याप्त है। जो लोग भक्तिपूर्वक देवी के सामने मस्तक झुकाते हैं वे सम्पूर्ण विश्व को आश्रय देने वाले होते हैं। *दुर्गासप्तशती* के त्रयोदश अध्याय में राजा सुरथ और समाधि वैश्य को देवी की आराधना करते दिखाया गया है। वे दोनों एकाग्र भाव से "देवी-सूक्त" का जप करते हुए देवी को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अपने शरीर के रक्त से प्रोक्षित बलि देते हुए संयमपूर्वक देवी की आराधना में लगे रहे और उनका दर्शन करके अभीष्ट वर की प्राप्ति की। जो भक्त देवी के आश्रित हो जाता है देवी उसके समस्त दुःखों को दूर कर देती है। उसे अपने उद्धार के लिए देवी से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती है, वे स्वयं परात्पर ब्रह्म की माया है और मोक्ष की कारण-रूपा है। अतः उनके भक्त को मुक्ति बिना किसी प्रयास के ही प्राप्त हो जाती है —

सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥
— अध्यायः एकादशः, ८

सौन्दर्यलहरी में "दैन्य-भक्ति" का स्वरूप परोक्ष भाव में विद्यमान है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने देव की महत्ता के प्रति अपने लघुत्व को सीधे-सीधे न कहकर "व्याज" शैली में प्रकट किया है। देवी की शक्ति के सामने ब्रह्मा, विष्णु और शिव जैसे भगवत् कोटि के देवता भी नतमस्तक रहते हैं और विभिन्न प्रकार से उनकी सेवा में लगे रहते हैं —

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः
शिवः स्वच्छच्छायाघटितकपटप्रच्छदपटः।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरी शृङ्गारो रस इव दृशां दोग्धि कुतुकम्॥
— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ९२, पृष्ठ ३००

ऐसी अपरिमित शक्ति वाली देवी के सामने स्वयं को खड़ा कर पाने में भी भक्त असमर्थ है। उस देवी की स्तुति भी सामान्य व्यक्ति द्वारा कैसे की जा सकती है जिसके चरणों का स्पर्श प्राप्त कर लेने मात्र से ही "वेद" समस्त ज्ञान के आगार हो गए हैं और जिनके चरणों के प्रक्षालन से मिश्रित जलराशि गंगा के रूप में भगवान् शंकर के जटाजूट में विद्यमान है।

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूडामणिरुचिः॥
— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ८४, पृष्ठ २४६

ऐसी अलौकिक शक्ति-सम्पन्ना, सृष्टि की कारण-रूपा और अहेतुकी कृपा-दृष्टि रखने वाली भगवती के प्रति अपनी दीनता निवेदित करते हुए सौन्दर्यलहरीकार कहता है —

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
कदा धत्ते वाणी मुखकमलताम्बूलरसताम्॥
— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ९८, पृष्ठ ३४२

अर्थात् — हे माँ! बताओ, वह समय कब आएगा? जब मैं एक विद्यार्थी, तेरे चरणों का धुला हुआ जल (चरणोदक), जो लाक्षारस के रंग से लाल हो रहा है, पान करूँगा जिसमें सरस्वती के मुख-कमल से निकले हुए पान की पीक के सदृश, जन्म के गूँगे को भी कविता-शक्ति प्रदान करने की क्षमता है।

देवी की सम्यक्रूपेण स्तुति कर पाने में अपने को सर्वथा असमर्थ मानता हुआ कवि कहता है कि — मेरे द्वारा स्तुति में कहे गए शब्दों से देवी की महिमा को लक्षित कर पाना वैसा ही है जैसे दीपक की ज्वालाओं से सूर्य की आरती उतारना अथवा अंजलि मात्र जल से समुद्र का सत्कार करना। कवि के हृदय का दैन्य-भाव *सौन्दर्यलहरी* की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है —

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासूतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम्॥
— श्लोक १००, पृष्ठ ३५४

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही भक्ति-प्रधान ग्रन्थों में दैन्य-भक्ति के स्वरूप का विशद् एवं मार्मिक निदर्शन किया गया है। दैन्य-भक्ति से ओत-प्रोत श्लोकों में जो मार्मिकता भरी हुई है वह किसी भी भक्त हृदय को प्रभावित करने में पूर्णतः समर्थ है।

सख्य–भाव

भगवान् के प्रभाव, तत्त्व, रहस्य और महिमा को समझकर परम विश्वासपूर्वक मित्र-भाव से उनकी रुचि के अनुसार बन जाना, उसमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप और लीला पर मुग्ध होकर नित्य-निरन्तर प्रसन्न रहना सख्य-भक्ति है।

अपने परमावश्यक काम को छोड़कर प्यारे प्रेमी के काम को आदरपूर्वक करना, प्यारे प्रेमी के काम के सामने अपने काम को तुच्छ समझकर उससे लापरवाह हो जाना, प्रेमी के लिए महान् परिश्रम करने पर भी उसे अल्प ही समझना, प्यारा जिस बात से प्रसन्न होता हो, उसी बात को लक्ष्य में रखकर हर समय उसी के लिए प्राणपर्यन्त चेष्टा करना, वह जो कुछ भी करे उसी में सदा सन्तुष्ट रहना, अपनी कोई भी वस्तु किसी भी प्रकार से प्रेमी के काम आ जाए तो परम प्रसन्न होना, अपने शरीर पर और अपनी

वस्तु पर जैसी अपनी आत्मीयता और अधिकार है वैसा ही अपने प्यारे प्रेमी समझे और इसी प्रकार उसकी वस्तु और शरीर पर अपना अधिकार और आत्मीयता माने, अपने धन, जीवन और देहादि प्यारे प्रेमी के काम में लग सके तो उनको सफल समझना उसके साथ रहने की निरन्तर इच्छा रखना, उसके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्श से प्रेम में निमग्न हो जाना, उसके नाम, रूप, गुण और चरित्रों को सुनकर, कहकर, पढ़कर और याद करके अत्यन्त प्रसन्न होना, किसी के द्वारा मित्र का सन्देश पाकर परम प्रसन्न होना और उसके वियोग में व्याकुल होना तथा प्रतिक्षण उससे मिलने की आशा और प्रतीक्षा करते रहना आदि सखा-भाव के प्रकार हैं।

प्यारे प्रेमी को परम सुख हो, उसमें अपना सख्य-प्रेम पूर्णरूपेण बढ़ जाए और उससे अपना कभी वियोग न हो, इसी उद्देश्य से भक्तों द्वारा सख्य-भक्ति की जाती है।

दुर्गासप्तशती और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में देवी के महनीय चरित्र का गान ही मूल प्रतिपाद्य के रूप में व्यक्त हुआ है। अन्तर मात्र इतना है कि *दुर्गासप्तशती* में यह प्रतिपादन कथा-शैली में हुआ है जबकि *सौन्दर्यलहरी* में स्तुति-शैली अपनाई गई है दोनों ग्रन्थों के प्रतिपाद्य का उद्देश्य भी एक जैसा ही देखा जा सकता है। *दुर्गासप्तशती* में कथावाचक "मेधा ऋषि" राजा सुरथ को देवी का आख्यान सुनाने के बाद उन्हें प्रणत भाव से देवी की शरण में जाने का परामर्श देते हैं। इस सम्बन्ध में ऋषि का कथन द्रष्टव्य है –

एतत्ते कथितं भूप देवीमाहात्म्यमुत्तमम्।
एवंप्रभावा सा देवी ययेदं धार्यते जगत्॥
विद्या तथैव क्रियते भगवद्विष्णुमायया।
तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्ये विवेकिनः॥
मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे।
तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्॥
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

– अध्याय १३, श्लोक २-५

ऋषि के इस उपदेश को सुनकर राजा सुरथ तत्काल तपस्या करने चले जाते हैं। विभिन्न उपचारों से देवी की आराधना करते हुए लगातार तीन वर्ष तपस्या करने के अनन्तर उन्हें देवी के दर्शन होते हैं और अभीष्ट वर की प्राप्ति होती है।

सौन्दर्यलहरी (श्लोक ६८) में कृतिकार ने अनेकानेक स्तुतिपरक श्लोकों में देवी की महिमा का गुणगान करने के अनन्तर अन्त में देवी से यही कामना करता है कि उसे देवी का चरणोदक प्राप्त हो और उसकी स्तुति देवी के चरणों में समर्पित हो जाए –

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
कदा धत्ते वाणीमुखकमलताम्बूलरसताम्॥

– पृष्ठ ३४२

उपर्युक्त दोनों ही प्रसंगों में भक्त का दैन्य-भाव स्पष्ट लक्षित हो रहा है। सेवक और सेव्य की भावना पर आधारित दैन्य-भक्ति के प्रतिपादन में सख्य-भाव की भक्ति का समावेश संगतिपूर्ण नहीं हो पाता है। यही कारण है कि दोनों ही ग्रन्थों में सख्य-भाव की भक्ति का अभाव प्राप्त होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि *सौन्दर्यलहरी* के कतिपय शृंगारिक श्लोकों में ग्रन्थकार सख्य-भाव का आश्रय लेता हुआ प्रतीत होता है किन्तु देवी के प्रति आत्यन्तिक पूज्य-भाव की अभिव्यक्ति उसके सख्य-भाव का परिहार कर देती है।

आत्मनिवेदन

आराध्य (परमात्मा) के तत्त्व, रहस्य, प्रभाव और महिमा को समझकर ममता और अहंकार रहित होकर तन-मन-धन से अपने आप को और सम्पूर्ण कर्मों को श्रद्धा और परम प्रेमपूर्वक आराध्य को समर्पण कर देना "आत्मनिवेदन-भक्ति" है। *श्रीमद्भगवद्गीता* (अध्याय ७, श्लोक १४) में भगवान् श्रीकृष्ण ने इस आत्मनिवेदन-रूपा "शरण-भक्ति" का महत्त्व बताते हुए इसके परम फल की बड़ी प्रशंसा की है –

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्जुन को उपदेश देते हुये वे कहते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

– *गीता*, १८/६२, पृष्ठ २९०

अर्थात् – हे भारत! तू सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही शरण में जा, उस परमात्मा की कृपा से ही तू परम शान्ति को तथा सनातन परमधाम को प्राप्त होगा।

शास्त्रों में आत्मनिवेदन-भक्ति के कई प्रकार बताए गए हैं। हानि-लाभ, जय-पराजय, यश-अपयश, मान-अपमान, सुख-दुःख, आदि की प्राप्ति में उन्हें भगवान् का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर प्रसन्न रहना, तन-धन, स्त्री-पुत्र, आदि सभी में ममता और अहंकार का अभाव हो जाना और भगवान् की इच्छानुकूल ही कार्य करना, भगवान् के रहस्य और प्रभाव को जानने के लिए उनके नाम, रूप, गुण, लीला के श्रवण-मनन, कथन, अध्ययन और चिन्तन आदि में श्रद्धा भक्तिपूर्वक तन-मन आदि को लगा देना, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी पर एकमात्र भगवान् का ही अधिकार समझना भगवान् के भरोसे सदा निर्भय, निश्चिन्त और प्रसन्न रहना आदि सभी इस आत्मनिवेदन-भक्ति के प्रकार हैं।

भगवान् के शरणागत प्रेमी भक्तों का और उनके द्वारा भगवान् के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, तत्त्व, महिमा, आदि का श्रवण और मनन करने से यह भक्ति प्राप्त होती है।

दुर्गासप्तशती में आत्मनिवेदन के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। आत्मनिवेदन-भक्ति के सैद्धान्तिक प्रतिपादन में कहा गया है कि जो व्यक्ति भगवती परमेश्वरी की शरण में जाता है वह निश्चित रूप से अपनी सारी मनोकामनाओं को पूर्ण कर लेता है।

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्॥
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

– अध्याय १३, श्लोक ४-५

अर्थात् – महाराज! तुम उन्हीं परमेश्वरी की शरण में जाओ। आराधना करने पर वे ही मनुष्यों को भोग, स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करती है।

महिषासुर से त्रस्त सारे देवता प्रपन्न भाव से विष्णु की शरण में जाते हैं और उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं –

एतद्वः कथितं सर्वममरारिविचेष्टितम्।
शरणं वः प्रपन्नाः स्मो वधस्तस्य विचिन्त्यताम्॥

– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय २.८

महिषासुर के मारे जाने के उपरान्त सारे देवता भगवती की शरण में जाते हैं और आत्मनिवेदनपूर्वक उनकी स्तुति करते हैं।

आराध्य की सामर्थ्य के प्रति अडिग विश्वास भक्त के अन्दर आत्मनिवेदन के भाव को और भी पुष्ट करता है। उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसका आराध्य उसकी रक्षा करने में सर्वथा समर्थ है और अपने भक्तों के प्रति अकारण दयालु है। यह विश्वास भक्त को अपने आराध्य के आश्रय में पूर्ण निश्चिन्तता प्रदान करता है। *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ४४, श्लोक १७ में देवी की स्तुति करते हुए देवताओं के मुख से यह विश्वास निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ देखा जा सकता है –

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय ४, श्लोक १७

सौन्दर्यलहरी में देवी की महत्ता के सामने कवि द्वारा अपनी लघुता का बार-बार आख्यान करना उसके आत्मनिवेदन के रूप में देखा जा सकता है। फिर भी कथन रूप में इसके अन्तिम चार श्लोकों में आत्मनिवेदन का स्वरूप स्पष्ट हुआ है। इनमें कवि स्वयं को देवी के सामने क्षुद्र-पात्र के रूप में प्रस्तुत करता है और देवी द्वारा कृपापूर्वक अपनाए जाने की अभिलाषा व्यक्त करता है। अपनी वाणी को देवी का ही प्रसाद मानते हुए वह उनकी स्तुति करता है और अपनी अल्पबुद्धि के कारण उत्कृष्ट भाव न भर पाने के कारण दुःखी भी दिखाई पड़ता है, फिर भी भगवती की महानता पर विश्वास रखते हुए वह विनम्र भाव से स्वयं को देवी की शरण में आया हुआ दिखाता है। उसे पूर्ण विश्वास है कि देवी उसे अपनी शरण में लेकर उस पर कृपा अवश्य करेंगी। उसका यह भाव उसके आत्मनिवेदन को निदर्शित करने वाला है। *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक १०३ को आत्मनिवेदन की पुष्टि हेतु देखा जा सकता है –

निधे नित्यस्मेरे निरवधिगुणे नीतिनिपुणे
निराघाटज्ञाने नियमपरचित्तैकनिलये।
नियत्यानिर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे
निरातङ्के नित्ये निगमय ममापि स्तुतिमिमाम्॥

– श्लोक १०३, पृष्ठ ३७६

निष्कर्षतः *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही आद्योपान्त भक्ति रस से आप्लावित ग्रन्थ हैं। भक्त कवियों के हृदयों की भाव लहरियाँ दोनों ही ग्रन्थों में नर्तन करती हुई देखी जा सकती हैं। दोनों ही कृतियों के कृतिकार देवी की महिमा से अभिभूत हैं और देवी को ही सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता, नियामक एवं नियन्त्रक मानते हैं। यद्यपि दोनों ग्रन्थों की रचना-शैली में पर्याप्त भिन्नता है (*दुर्गासप्तशती* प्रबन्ध काव्य है जबकि *सौन्दर्यलहरी* को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है) तथापि दोनों ग्रन्थकारों ने देवी की महत्ता और उनकी भक्ति को अपने ग्रन्थों का प्रतिपाद्य बनाया है। अपने वर्ण्य विषयों के प्रतिपादन में दोनों ग्रन्थकारों ने प्रतिपाद्य भक्ति का सांगोंपाग निदर्शन प्रस्तुत किया है। शास्त्रों में भक्ति के जितने भी स्वरूप वर्णित किए हैं प्रायः वे सबके सब इन दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। इतना अवश्य है कि प्रबन्ध काव्य होने के नाते *दुर्गासप्तशती* में जहाँ भक्ति के सिद्धान्तों का विवेचन प्राप्त होता है, वहीं *सौन्दर्यलहरी* में भक्ति के तत्त्वों का व्यावहारिक प्रयोग अधिक दिखाई देता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि *दुर्गासप्तशती* में भक्ति के विभिन्न स्वरूपों के लक्षण भी वर्णित हुए हैं (यद्यपि यह वर्णन सोद्देश्य न होकर प्रासंगिक ही है) और विभिन्न पात्रों को उन लक्षणों पर आधारित भक्ति करते हुए दिखाया गया है। *सौन्दर्यलहरी* में भक्ति के किसी भेद का लक्षण न देकर भक्त कवि उनके अनुसार अपना भाव प्रदर्शन करने में निमग्न दिखाई पड़ता है। इस एक अन्तर के होते हुए भी दोनों ग्रन्थ अपने-अपने विषय प्रतिपादन में किसी से कम नहीं कहे जा सकते। यदि एक में विषय-क्षेत्र का फैलाव अधिक है तो दूसरे में गहराई अधिक है। एक की प्रबन्ध-योजना भक्त हृदय को प्रभावित करने वाली है तो दूसरे की लालित्यपूर्ण वर्णन-शैली मन को बाँध लेने वाली है। "अस्तु" भक्ति के विभिन्न भेदों-उपभेदों की दृष्टि से दोनों ही ग्रन्थ भक्ति साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

उपर्युक्त रूपों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि माँ भगवती के प्रकृति रूप को माँ की ममतामयी धारणा में प्रवर्तित किया गया है। देवी की मातारूप धारणा का अभिप्राय मानव को स्थान देना है। प्रकृति की शक्ति मानव में समाई हुई है। यह शक्ति की सर्वव्यापकता है अतः यहाँ विश्व-प्रेम की धारणा व्यक्त हुई है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की यह समरसता लक्ष्य करने योग्य है।

भक्ति तत्त्वों की सामान्य विवेचना के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य शंकर *सौन्दर्यलहरी* में ध्यान एवं निदिध्यासन पर बल देते हैं। वे सौन्दर्य के साथ ध्यान की प्रक्रिया भी करते हैं। *दुर्गासप्तशती* में भी ध्यान पर बल है। अध्यायों के प्रारम्भ में ध्यानार्थ रूप प्रस्तुत किया गया है।

ध्यान कितना महत्त्वपूर्ण है इसे निम्नांकित श्लोक में देखा जा सकता है –

पूजा कोटि समं स्तोत्रं, स्तोत्र कोटि समं जपः।
जपः कोटि समं ध्यानं। ध्यानं कोटि समं जपः॥

ध्यान योग भी प्रक्रिया के लक्षण दोनों ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। समग्रतः भक्ति के उपादानों से ध्यान-क्रिया सम्पन्न होती है। अतः उभय ग्रन्थों में ध्यान-क्रिया, योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

ध्यान की प्रक्रिया ही प्रेय और श्रेय को जोड़ती है। ध्यान भाव को परिष्कृत कर देता है तथा भाव की परिष्कृति ही श्रेय तक पहुँचाती है। इस प्रकार नवधा भक्ति के प्रक्रम में ध्यान की जो अवस्था प्राप्त होती है, वह नैसर्गिक है।

चतुर्थ खण्ड

उभय ग्रन्थों का काव्यशास्त्रीय
एवं
सौन्दर्यशास्त्रीय तुलनात्मक विवेचन

सप्तम परिच्छेद

काव्यशास्त्रीय समीक्षा
रस, गुण-रीति, अलंकारादि अनुशीलन

उभय ग्रन्थ *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक काव्यात्मक सौन्दर्य लिए हुए हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य के विशेष तत्त्व रस, अलंकार, गुण-रीति, इत्यादि तत्त्व काव्यात्मक समीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उभय ग्रन्थों में रस तत्त्व की प्रधानता है। यहाँ इन्हीं काव्यशास्त्रीय तत्त्वों को दृष्टि में रखकर उभय ग्रन्थों की समीक्षा की जा रही है। काव्य तत्त्वों में रस का प्रमुख स्थान माना गया है। अतः समीक्षा प्रथमतः रसों से ही प्रारम्भ है।

रस संस्कृत वाङ्मय के अत्यन्त प्राचीन शब्दों में से है। इसका प्रयोग सर्वप्रथम वेदों में मिला है, साथ ही साहित्य के विकास के साथ-साथ रस शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन होता गया। इस शब्द की व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ "आस्वाद" है। इसके अतिरिक्त भी इसके अनेक अर्थ हैं। *विश्वकोष* के अनुसार रस शब्द के अर्थ निम्न हैं –

रसो गन्धे रसे, स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये, देहधात्वम्बुपारदे ॥

– ***भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त,*** **पृष्ठ १९३**

अर्थात् – गन्ध, स्वाद, विष, राग, शृंगारादि, द्रव, वीर्य, देहधातु, अम्बु एवं पारद इन सबके अर्थ को बताने वाला रस है।

साहित्य में रस "साध्य" रूप है, जिसके साधन के लिए कई सहायक घटकों की आवश्यकता पड़ती है। रस की सिद्धि में सहायक उन घटकों को रसांग या रस के तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। रस सिद्धान्त के ज्ञात प्राचीनतम आचार्य भरत मुनि ने *नाट्यशास्त्र* में रस के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूत्र दिया है –

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

अर्थात् – विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

आचार्य भरत के इस रस-सूत्र की उनके परवर्ती आचार्यों ने विस्तारपूर्वक

व्याख्या की है। स्वयं आचार्य भरत ने रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार विविध व्यंजनों एवं औषधियों के संयोग से (लोक-जीवन में) रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार स्थायी भाव, विभाव, आदि के समागम से (साहित्य में) रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार (गुड़) आदि मिष्ठान्न द्रवों से विविध स्वाद मिश्रित षड्रस प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नाना भावों से उपगत होकर स्थायी भाव रस के रूप लेते हैं। जिस प्रकार नाना व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न का भोजन करने वाले रसों का आस्वादन करते हैं और सहृदय जन हर्ष आदि प्राप्त करते हैं उसी प्रकार विविध भावों के अभिनय से व्यंजित वाचिक, कायिक, सात्विक चेष्टाओं से उपलब्ध स्थायी भावों का सौमनस्य युक्त प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्षादि प्राप्त करते हैं।

आचार्य भरत के उपर्युक्त रस-सूत्र एवं उसकी व्याख्या से यह स्पष्ट है कि साहित्य में रस आस्वाद न होकर आस्वाद्य है। रस-सूत्र के व्याख्याताओं ने इस आस्वाद्य विशेष की निष्पत्ति को अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इन आचार्यों में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी आचार्य अभिनवगुप्त की व्याख्या को परवर्ती आचार्यों द्वारा विशेष मान्यता प्राप्त हुई है। परवर्ती संस्कृताचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ, भानुदत्त, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने रस की निष्पत्ति को लेकर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं –

आचार्य मम्मट ने अभिनवगुप्त की रस सम्बन्धी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए कहा है कि –

> लोक में रति आदि स्थायी भावों को, जो कारण-कार्य और सहकारी कारण कहलाते हैं, नाट्य और काव्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भाव कहते हैं। उन्हीं व्यापारों से व्यक्त स्थायी भाव को रस कहा गया है।

रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए परवर्ती आचार्यों ने भी प्रायः आचार्य मम्मट का ही अनुसरण किया है। आचार्य विश्वनाथ का मत है कि – "विभाव अनुभाव और संचारी भावों से व्यक्त होने वाला स्थायी भाव रस कहलाता है।" स्पष्ट है कि आचार्य विश्वनाथ द्वारा निरूपित यह लक्षण प्रकारान्तर से मम्मट के मत का ही पोषण है। इसी प्रकार रसतरंगिणीकार भानुदत्त, आचार्य जयदेव, धनंजय आदि ने भी रस का यही स्वरूप स्वीकार किया है।

साहित्य-शास्त्र में रसों की संख्या के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद लक्षित होता है। आचार्य भरत मुनि ने नाटक में रसों की संख्या आठ स्वीकार की है। ये रस हैं – शृंगार, वीर, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। अन्यत्र उन्होंने शान्त भाव को भी स्वीकृति दी है, किन्तु शान्त रस को नाटक की प्रकृति के अनुकूल न मानते हुए उसे नाट्य रसों के अन्तर्गत नहीं रखा है। नाटक के विषय में तो आचार्य भरत की यह मान्यता औचित्यपूर्ण है, किन्तु नाटक से इतर काव्य-विधाओं में शान्त भाव का भी पर्याप्त महत्त्व लक्षित होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए परवर्ती आचार्यों ने काव्य में रसों की संख्या नौ स्वीकार की है।

मध्यकाल में रूपगोस्वामी ने शृंगार के अन्तर्गत देव-विषयक रति से पुष्ट होने वाले शृंगार के भेद को भक्ति रस के रूप में स्वतन्त्र मान्यता देने का सफल प्रयास किया और अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* नामक ग्रन्थ में भक्ति रस की बड़ी व्यापक प्रतिष्ठा की। इस प्रकार भक्ति को एक स्वतन्त्र रस के रूप में परिगणित करने पर रसों की संख्या दस हो गई। कालान्तर में वात्सल्य को भी रस के रूप में माना जाने लगा। जिससे वर्तमान में रसों की संख्या ग्यारह मान्य है। इन रसों का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

शृंगार रस

शृंगार रस का स्थायी भाव "रति" है। उत्तम कोटि के तरुण स्त्री-पुरुष उसके विभाव होते हैं। नेत्र चातुरी, भ्रूचालन, कटाक्ष, ललित मधुर अङ्ग विलास तथा वाक्यादि इसके अनुभाव होते हैं। आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा इन तीनों को छोड़कर शेष तीस व्यभिचारि भाव इसमें संचरण कर सकते हैं। सामान्य अर्थ में, जहाँ पर नायक-नायिका की प्रीति का वर्णन हो वहाँ शृंगार रस की सत्ता मान्य है। परम्परा से शृंगार रस के दो भेद माने जाते हैं – (१) संयोग शृंगार एवं (२) वियोग या विप्रलम्भ शृंगार।

***संयोग शृंगार* –** जब नायक और नायिका परस्पर रति भाव से मिलते हैं तो संयोग शृंगार की स्थिति बनती है। संयोग शृंगार में विभाव के रूप में परस्पर नायक-नायिका आलम्बन होते हैं, ऋतु, चन्द्रिका (चाँदनी), पुष्प, उद्यान, पत्र आदि उद्दीपन विभाव के रूप में होते हैं। स्तम्भ, स्वेद, स्वर-भङ्ग, कम्प, आदि अनुभाव होते हैं।

***विप्रलम्भ शृंगार* –** जब हृदय में अनुराग भाव अत्यन्त प्रबल और प्रिय-समागम का अभाव रहता है तो वियोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार की स्थिति बनती

है। परम्परानुसार विप्रलम्भ शृंगार के चार रूप माने जाते हैं – (१) पूर्वराग; (२) मान; (३) प्रवास; और (४) विरह।

नायक-नायिका के मिलन अथवा समागम के पूर्व उनके हृदय में उत्पन्न राग को पूर्वानुराग कहते हैं। ईर्ष्या अथवा प्रियापराध जनित प्रणयकोप आदि के कारण मिलन के अभाव को मान वियोग कहा जाता है। प्रिय और प्रेयसी के अलग-अलग स्थानों में होने पर प्रवास वियोग की स्थिति होती है। जब नायक-नायिका अथवा दोनों में से कोई एक चिरकालीन वियोग को सहते-सहते निराश होकर मृत्यु की इच्छा करने लगता है तब करुण वियोग अथवा विरह की स्थिति मानी जाती है।

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आश्रय की दस दशाएँ स्वीकार की गई हैं। ये दशाएँ हैं – (१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) गुणकथन, (४) स्मृति, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (६) जड़ता, और (१०) मरण।

हास्य रस

हास्य रस का स्थायी भाव "हास" है। विकृत वेश, विकृत अलंकार, धृष्टता, चंचलता, जादू, असत् प्रलाप, विकृतांग, दर्शन, आदि विभाव हैं। ओष्ठ, नासा, कपोल आदि का स्पन्दन, दृष्टि का विकास, संकोच, स्वेद, मुखरासि अनुभाव हैं। अवहित्था, आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न प्रबोध, असूया, आदि संचारी भाव हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में हास्य रस के कई भेदोपभेद किए गए हैं। इनमें से तीन भेद विशेष रूप से वर्णित हुए हैं।

आलम्बन की दृष्टि से हास्य के दो प्रकार हैं – (१) ***आत्मस्थ* हास्य** – जिसमें व्यक्ति स्वयं ही अपने पर हँसता है, और (२) ***परस्थ हास्य*** – जिसमें दूसरे की विकृतियों को आलम्बन बनाया जाता है।

अनुभाव की दृष्टि से हास्य के छः उपभेद हैं – स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, और अतिहसित। इन भेदों में से क्रम से दो-दो भेद क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों में पाए जाते हैं। कभी-कभी अंग दर्शन, वेश दर्शन और वाक्य श्रवण मात्र से ही हास्य की अनुभूति होती है। ये भेद विभाव पर आधारित होते हैं।

वीर रस

वीर रस की प्रकृति उत्तम पुरुष होता है और "उत्साह" स्थायी भाव है। असम्मोह, अध्यवसाय, न्याय, विनय, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव, आदि

विभावों से उसकी उत्पत्ति होती है। स्थिरता, धैर्य, शौर्य, त्याग विलक्षणता आदि अनुभावों से उसका अभिनय होता है। धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, उग्रता, स्मृति, रोमांच, आदि सहकारी भाव हैं। दानवीर, धर्मवीर, और युद्धवीर ये तीन वीर रस के भेद हैं।

रौद्र रस

मान भंग, शत्रु की चेष्टा अपकार एवं गुरुजनों की निन्दा आदि के कारण रौद्र रस उत्पन्न होता है। आचार्य भरत के अनुसार रौद्र रस संग्रामहेतुक क्रोध रूप स्थायी भाव वाला रस है जो कि राक्षस, दानव एवं मनुष्यों के आश्रित होता है।

> **अथ रौद्रो नाम क्रोधास्थायिभावात्मको रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रकृति संग्रामहेतुकः।**
>
> – *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त,* पृष्ठ ३४४

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। इसका वर्ण लाल एवं देवता रुद्र है। इस रस के आलम्बन हैं शत्रु अथवा अपकार करने वाले व्यक्ति। उद्दीपन हैं शत्रुकृत अपराध मत्सर, इत्यादि। अनुभावों के अन्तर्गत आँखों की लालिमा, त्यौरी का चढ़ना, ओठों का चबाना, कम्पन होना, मुख का लाल होना इत्यादि है। **व्यभिचारी भाव** – अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, जड़ता आदि हैं।

आचार्य भरत ने रौद्र रस की उत्पत्ति पर कहा है कि यह रस आघर्षण अर्थात् स्त्रियों का तिरस्कार करना, अधिज्ञेय अर्थात् देश, कुल, जाति, विद्या, कर्म, आदि की निन्दा, अनृत अर्थात् झूठी बात कहना उपघात अर्थात् घर के मूल्यों का पीड़न वाक्यपुरुष अभिद्रोह एवं मात्सर्य आदि के कारण उत्पन्न होता है। आचार्य भरत ने रौद्र रस के प्रकरण में बताया है –

> **इति रौद्ररसो दृष्टो रौद्रवागङ्गचेष्टितः।**
> **शस्त्रप्रहारभूयिष्ठ उग्रकर्मक्रियात्मकः॥**
>
> – *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त,* पृष्ठ ३९५

अर्थात् – भयंकर कायिक एवं वाचिक क्रियाओं से युक्त अत्यधिक मात्रा में शस्त्र प्रहार से युक्त एवं भयंकर कार्यों के अनुष्ठानों से पूर्ण रौद्र रस होता है।

भयानक रस

भयंकर दृश्य को देखने अथवा बलवान् व्यक्तियों के अपराध करने से भयानक

रस की उत्पत्ति होती है। आचार्य भरत के अनुसार भयानक रस का स्थायी भाव "भय" होता है। इसकी उत्पत्ति विकृत ध्वनि, सत्त्व दर्शन अर्थात् भूत, प्रेत आदि के देखने से एवं भयंकर जीव-जन्तु शृगाल, उलूक, आदि के कारण भी भयानक रस की उत्पत्ति होती है। दूसरों के भय आदि के कारण अथवा शून्य स्थान आदि में अथवा वन इत्यादि में जाने के कारण भी भयानक रस की उत्पत्ति होती है। भयानक जीव-जन्तु अथवा भय से युक्त कथाओं के श्रवण आदि से भी भयानक रस की निष्पत्ति होती है। इनके संचारी भाव – स्तम्भ, स्वेद, गद्गद् होना, रोमांच, वेपथु, स्वरभेद, वैवर्ण्य, शंका, मोह, दैत्य चपलता, इत्यादि हैं।

इनके अनुभाव हैं – हाथ-पैर का काँपना, नेत्रों की चंचलता, रोमांच, मुख वैवर्ण्य, स्वरभेद आदि। इनके देवता काल हैं एवं वर्ण्य कृष्ण हैं। उदाहरणार्थ –

श्येनम्बरतलादुपागतं, शुष्यदाननबिलो विलोकयन्।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः, स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः॥

– *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त,* पृष्ठ ३९८

प्रस्तुत श्लोक में भय से आक्रान्त लवा (पक्षी) का वर्णन है। लवा ने आकाश में ज्योंहि झपटते हुए बाज को देखा त्योंहि उसका मुख सूख गया उसका शरीर काँप उठा, आँखें आकुल हो गई एवं वह हिल भी न सका।

यहाँ बाज आलम्बन, उसका जोर से झपटना उद्दीपन, मुख का सूखना, इत्यादि अनुभाव एवं दीनता संचारी भाव है। लवा का भयभीत होना भय है जोकि भयानक रस का स्थायी भाव है।

वीभत्स रस

घृणित वस्तुओं को देखकर अथवा सुनकर जो रस उत्पन्न होता है वही वीभत्स रस है। उसका स्थायी भाव "जुगुप्सा" है एवं वर्ण नील है। आलम्बन घृणित पदार्थ जैसे दुर्गन्धयुक्त माँस, रक्तादि।

उद्दीपन – माँस आदि का सड़कर कीड़ा पड़ जाना।

अनुभाव – मुँह फेरना, थूकना, आँख, नाक बन्द कर लेना, इत्यादि।

संचारी भाव – मोह, आवेग, व्याधि, जड़ता, चिन्ता, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, इत्यादि है।

वीभत्स रस की उत्पत्ति के लिए आवश्यक नहीं है कि शव, रक्त, माँस या सड़े-गले पदार्थों का ही वर्णन किया जाए, अपितु ऐसी अवस्थाओं में भी वीभत्स रस की प्राप्ति होती है जैसे किसी वस्तु के प्रति मन में अरुचि अधिक अथवा घृणा का भाव हो। अतः संस्कृताचार्यों ने भी यह स्वीकार किया कि अप्रिय वस्तु को देखकर अनिष्ट के सम्बन्ध में सुनने अथवा देखने की स्थिति में भी वीभत्स रस की उत्पत्ति होती है। किसी के दुष्टतापूर्ण कार्य, किसी की शारीरिक, मानसिक कुरूपता आदि में भी वीभत्स रस प्रतीत हो सकता है।

आचार्य भरत ने वीभत्स रस के दो भेद माने हैं। प्रथम क्षोभज या शुद्ध तथा दूसरा उद्वेगी अर्थात् अशुद्ध। रुधिर, माँस, इत्यादि देखकर उत्पन्न होने वाले अशुद्ध वीभत्स है जबकि काम-वासना, इत्यादि के प्रति वैराग्य के कारण उत्पन्न घृणा शुद्ध वीभत्स है।

वीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्याद् द्वितीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः॥
अपि च -
वैराग्याज्जधनस्तनादिषु घृणा शुद्धोऽनुभावैर्वृतो॥

– *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त,* पृष्ठ ३९९

अद्भुत रस

आश्चर्यजनक वस्तुओं को देखने से अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है। लोकोत्तर वस्तु अथवा घटना के द्वारा भी अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है। आचार्य भरतमुनि के अनुसार अद्भुत रस की उत्पत्ति द्वित्यजनों के दर्शन, अभिलषित मनोरथ की प्राप्ति, उपवन एवं देवमन्दिरों में जाने, सभा, विमान, माया, इन्द्रजाल आदि की सम्भावना, आदि विभावों के कारण होती है।–

दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षादानन्दजः स्मृतः॥

– *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त,* पृष्ठ ४०

स्थायी भाव – अद्भुत रस का स्थायी भाव "विस्मय" या आश्चर्य है।

आलम्बन – अलौकिक या आश्चर्यजनक वस्तु।

उद्दीपन – आश्चर्यजनक वस्तु की विवेचना।

अनुभाव – स्तब्ध, स्वेद, रोमांच, गद्गद् होना संभ्रम, आदि।

संचारी भाव – वितर्क, आवेग, स्मृति, हर्ष, मति, आदि। इसके देवता गन्धर्व एवं रंगपति हैं।

आचार्य भरत के अनुसार अद्‌भुत रस के दो भेद हैं –

प्रथम दिव्य – दैविक चमत्कार से उत्पन्न।

द्वितीय आनन्दज – अर्थात् अभीष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न आनन्द।

शान्त रस

शान्त रस मोक्ष प्रवर्तक है। इसका स्थायी भाव "सम" है। तत्त्व ज्ञान, वैराग्य, हृदय शुद्धि, आदि विभाव हैं। यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, सर्व-प्राणि-दया, आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ, रोमांच, आदि सहकारी भाव हैं। शान्त रस सभी रसों की आधारभूत प्रकृति है। शमदशा ही मन की सहज अवस्था है। जिसमें कारण उपस्थित होने पर अन्य विकार रूप भाव प्रवृत्त होते हैं और कारण न रहने पर उसी में पुनः विलीन हो जाते हैं। –

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

– *नाट्यशास्त्र*, अध्याय ६, पृष्ठ १०४

आचार्य अभिनव ने *नाट्यशास्त्र* में शान्त रस का विवेचन प्राचीन हस्तलेखों से प्रमाणित बताया है और कहा है कि रसास्वाद मात्र शान्तप्रायः होता है, केवल "शम" के अतिरिक्त वासना से उपहित होने और इसी वासना की मुख्य चर्वणा हो जाने से अन्य रसों के नाम हैं। उन्होंने सिद्धान्त शास्त्र का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया है कि अन्य शास्त्रों में भरतमुनि से पहले ही नवरसों की व्यवस्था रही है –

अष्टानामिह देवानां शृंगारादीन् प्रदर्शयेत्।
मध्ये च देवदेवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत्॥

– *अभिनवभारती*, पृष्ठ ३३४

भक्ति रस

भक्ति रस को सर्वप्रथम रसत्व प्रदान करने का श्रेय "रूपगोस्वामी" को है। इन्होंने अपने *भक्तिरसामृतसिन्धु* एवं *उज्जवलनीलमणि* ग्रन्थों में भक्ति को स्वतन्त्र रूप से रस का स्थान देकर शास्त्रीय दृष्टिकोण से इसका मूल्यांकन

किया है। इनके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी पश्चात् में भक्ति को रस का स्थान दिया है। **आचार्य दण्डी के *प्रेयोलंकार* ग्रन्थ में भी भक्ति रस के संकेत मिलते हैं।**

भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः

– *भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त*, पृष्ठ ४०९

उपर्युक्त रूप से आचार्य दण्डी ने भी भक्ति रस की स्थापना की है। मधुसूदन सरस्वती ने भी भक्ति रस को स्वीकार कर इसकी शास्त्रीय विवेचना *शाण्डिल्यभक्ति-सूत्र* एवं *नारदभक्ति-सूत्र* नामक अपने ग्रन्थ में की है। *शाण्डिल्य-सूत्र* के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है – **"सा परानुरक्तिरीश्वरे"**। इसके अतिरिक्त *श्रीमद्‌भगवद्‌गीता* में भी भक्ति तत्त्व का शास्त्रीय स्तर पर विश्लेषण किया गया है। अतः भारतीय साहित्य में "भक्ति-तत्त्व" युक्त "भक्ति काव्य" की रचना प्रचुर मात्रा में हुई है। भक्ति रस का स्थायी भाव अनुराग है। अनुराग अर्थात् प्रेम-भाव या भक्ति-भाव।

दुर्गासप्तशती और सौन्दर्यलहरी में विभिन्न रसों का परिपाक

दुर्गासप्तशती और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थ देवी के गुणानुवाद के कीर्तन से युक्त हैं किन्तु *दुर्गासप्तशती* जहाँ प्रबन्ध रचना है वहीं *सौन्दर्यलहरी* स्तुतिपरक मुक्तकों का संकलन है। दोनों के स्वरूप में यह भेद उनके प्रतिपाद्यों में निहित रस योजना में भी दिखाई पड़ता है। *दुर्गासप्तशती* में जहाँ प्रबन्ध काव्य के लक्षणानुकूल सभी रसों की सम्यक् प्रतिष्ठा हुई है वहीं *सौन्दर्यलहरी* में शृंगार और भक्ति रसों को ही विशेष स्थान मिल पाया है। अन्य रस या तो आ ही नहीं पाए हैं या अत्यन्त उपेक्षित रूप में आए हैं। दोनों ग्रन्थों में व्यंजित रसों का परिपाक निम्नवत् देखा जा सकता है।

शृंगार रस

सामान्यता नायक-नायिका के प्रेम व्यापार की व्यंजना में शृंगार रस की अभिव्यक्ति मानी जाती है। इस व्यापार के अन्तर्गत नायक-नायिका के पारस्परिक हास-विलास एवं अन्य साहचर्य जन्य केलि-कलाप तो आते ही हैं, उनका सौन्दर्य वर्णन एवं उनके शृंगार प्रसाधन भी शृंगार रस की निष्पत्ति के कारण बनते हैं। *दुर्गासप्तशती* में आद्योपान्त देवी में पूज्य-भाव रखकर सारे वर्णन किए गए हैं। अतः जहाँ-जहाँ उनके शृंगार-प्रसाधनों एवं सौन्दर्य का वर्णन हुआ है वहाँ से वर्णन शृंगारिक होते हुए भी सांसारिक नहीं बन पाए

हैं। अतः ऐसे प्रसंगों को सात्विक श्रृंगार के अन्तर्गत रखकर उनका विवेचन करना उपयुक्त होगा। काव्याचार्यों ने नायिकाओं के सौन्दर्य वर्णन के अन्तर्गत तीन विशिष्ट तत्त्वों का उल्लेख किया है। ये तत्त्व हैं – शोभा, कान्ति और दीप्ति। नायिका का रूप और रूपजन्य प्रतिष्ठा "शोभा" नायिका के शरीर की विमल झलक "कान्ति" तथा उसके शरीर से आभाषित प्रकाश "दीप्ति" कहलाते हैं। *दुर्गासप्तशती* में देवी के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उनके इन गुणों का निदर्शन अनेकशः हुआ है। *दुर्गासप्तशती* के द्वितीय अध्याय के "ध्यान" में वर्णित देवी की शोभा अवलोकनीय है।

ॐ अक्षस्रक्परशुं गदेषुकुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुराभाजनम्।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्॥

– *दुर्गासप्तशती*, पृष्ठ ४५

अर्थात् – कमल के आसन पर बैठी हुई प्रसन्न मुख वाली महिषासुरमर्दिनी भगवती महालक्ष्मी का मैं भजन करता हूँ, जो अपने हाथों में अक्षमाला, फरसा, गदा, बाण, वज्र, पद्म, धनुष, कुण्डिका, दण्ड, शक्ति, खड्ग, ढाल, शंख, घण्टा, मधुपात्र, शूल, पाश और चक्र धारण किए हुए हैं।

इसी प्रकार तृतीय अध्याय में ध्यान में देवी के दिव्य शरीर की कान्ति उदयकाल के सहस्रों सूर्यों के समान बताई गई है –

उद्यद्भानुसह कान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां . . .

– तदेव, पृष्ठ ८८

चतुर्थ अध्याय में उनके श्री-अंगों की आभा काले मेघ के समान श्याम बताई गई है, उनके मस्तक पर आबद्ध चन्द्रमा की रेखा शोभा पाती है तथा देवता एवं सिद्धि की कामना रखने वाले पुरुष सदैव उनकी सेवा में लगे रहते हैं –

ॐ कालाभ्राभां कटाक्षैररिकुलभयदां मौलिबद्धेन्दुरेखां
शङ्खं चक्रं कृपाणं त्रिशिखमपि करैरुद्वहन्तीं त्रिनेत्राम्।
सिंहस्कन्धाधिरूढां त्रिभुवनमखिलं तेजसा पूरयन्तीं
ध्यायेद् दुर्गां जयाख्यां त्रिदशपरिवृतां सेवितां सिद्धिकामैः॥

– *दुर्गासप्तशती*, चतुर्थोऽध्यायः "ध्यान", पृष्ठ ९७

इसी प्रकार *सौन्दर्यलहरी* में भी कई श्लोकों में देवी की "शोभा", "कान्ति" और "दीप्ति" का वर्णन हुआ है। *सौन्दर्यलहरी* का श्लोक २६ द्रष्टव्य है जिसमें व्यंग्य रूप में देवी की शोभा का वर्णन हुआ है –

किरीटं वैरिञ्चं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमकुटम्।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं।
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोभिर्विजयते॥

उपर्युक्त श्लोक में व्यंग्य यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र नित्य प्रति देवी के सामने सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं। महत्ता का यह भाव "शोभा" नामक सौन्दर्य तत्त्व का अंग है। एक अन्य श्लोक में देवी के अंगों की कान्ति शरद् पूर्णिमा की चाँदनी के समान शुभ्रवर्णा और देवी को दोनों हाथों से भक्तों को अभयदान देने की मुद्रा धारण किए हुए तथा स्फटिक मणियों की माला और पुस्तक से सज्जित बताया गया है –

शरज्ज्योत्स्नाशुद्धां शशियुतजटाजूटमकुटां
वरत्रासत्राणस्फटिक घटिकापुस्तक कराम्।
सकृन्न त्वा नत्वा कथमिव सतां सन्निदधते
मधुक्षीरद्राक्षामधुरिमधुरीणाः फणितयः॥

– ***सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १५, पृष्ठ १८५**

इस श्लोक में "शोभा" "कान्ति" और "दीप्ति" तीनों सौन्दर्य तत्त्वों का एक साथ समावेश हुआ है।

श्रृंगार रस वर्णन के अन्तर्गत आलम्बन के सौन्दर्य का निरूपण करते हुए उसके अंग-प्रत्यंगों के विस्तृत एवं बहुविध वर्णन की परम्परा पाई जाती है। इस परम्परा का निर्वाह *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों में हुआ है। *दुर्गासप्तशती* में अलग-अलग प्रसंगों में देवी के अंग-प्रत्यंगों की शोभा का वर्णन प्राप्त होता है। इस दृष्टि से *सौन्दर्यलहरी* में प्राप्त होने वाले वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। *सौन्दर्यलहरी* में "नख-शिख" परम्परा के आधार पर देवी के सौन्दर्य का निदर्शन करते हुए क्रमशः उनके मुकुट, केश समूह, सिन्दूर युक्त माँग, मुख, ललाट, भृकुटि, नेत्र, कटाक्ष, निमेष, स्मित कनपटी, कपोल, श्रवण, नाक, दाँत, मुस्कान, जिह्वा, चिबुक, ग्रीवा, हाथ, स्तन, नाभि, रोमावलि, कटि, नितम्ब, जाँघ, चरण, चरणनख, आदि का विभिन्न उपमानों की योजना करते हुए मनोहारी चित्रण किया गया है। ये सभी वर्णन प्रथम दृष्ट्या

पूर्णशृंगारिक हैं जिन्हें कवि ने आलम्बन की अलौकिक महत्ता से युक्त करते हुए सात्त्विक स्वरूप प्रदान किया है। उदाहरणार्थ – निम्नलिखित श्लोक में देवी की घुँघराली अलकों से घिरे हुए मुख का वर्णन द्रष्टव्य है। जिस पर छाया रहने वाला हास शिवजी को आनन्द प्रदान करने वाला है –

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभसश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पङ्केरुहरुचिम्।
दरस्मेरे यस्मिन् दशनरुचिकिञ्जल्करुचिरे
सुगन्धौ माद्यन्ति स्मरदहनचक्षुर्मधुलिहः॥

– *सौन्दर्यलहरी* (द्वितीय भाग), श्लोक ४५, पृष्ठ २०

सौन्दर्यलहरी में देवी के विभिन्न अंगों के सौन्दर्य निरूपण के माध्यम से उनकी महिमा का बखान किया गया है। श्रद्धा और महनीय दृष्टि से युक्त होने के कारण यह वर्णन विशुद्ध शृंगारिक होते हुए भी ऐन्द्रिक नहीं बन पाया। *सप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों में प्राप्त होने वाले सौन्दर्य वर्णन में यही मूलभूत अन्तर है कि *दुर्गासप्तशती* में जहाँ देवी के सौन्दर्य का अत्यन्त शिष्ट एवं मर्यादित वर्णन किया गया है। वहीं *सौन्दर्यलहरी* में ऐन्द्रिक वर्णन को ही श्रद्धा और भक्ति के संस्पर्श से सात्त्विक बना दिया गया है। दोनों वर्णन शैलियों के अन्तर को निम्नलिखित उदाहरणों के माध्यम से समझा जा सकता है। *दुर्गासप्तशती* में देवी के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उन्हें भगवान् भैरव (शंकर) के अंक में निवास करने वाली कहा गया है किन्तु वर्णन को जिस प्रकार मर्यादित रखा गया है यह निम्नलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है –

ॐ नागाधीश्वरविष्टरां फणिफणोत्तंसोरुरत्नावली-
भास्वद्देहलतां दिवाकरनिभां नेत्रत्रयोद्भासिताम्।
मालाकुम्भकपालनीरजकरां चन्द्रार्धचूडां परां
सर्वज्ञेश्वरभैरवाङ्कनिलयां पद्मावतीं चिन्तये॥

– *दुर्गासप्तशती*, षष्ठोऽध्यायः ध्यान मन्त्र, पृष्ठ १२३

इसके विपरीत *सौन्दर्यलहरी* में देवी के सौन्दर्य का सांसारिक दृष्टि से वर्णन करके उसे किस प्रकार अलौकिकता दी गई है यह श्लोक ८१ में द्रष्टव्य है –

गुरुत्वं विस्तारं क्षितिधरपतिः पार्वति निजात्
नितम्बादाच्छिद्य त्वयि हरणरूपेण निदधे।

अतस्ते विस्तीर्णो गुरुरयमशेषां वसुमतीं
नितम्बप्राग्भारः स्थगयति लघुत्वं नयति च॥

– पृष्ठ २३०

इस प्रकार स्पष्ट है कि *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थों में शृंगार के विभिन्न तत्त्वों का उत्कृष्ट वर्णन प्राप्त होता है। *दुर्गासप्तशती* में जहाँ प्रसंगानुसार शृंगार वर्णित हुआ है वहीं *सौन्दर्यलहरी* में अधिकांश श्लोक शृंगार रस से युक्त हैं। इस कारण के पीछे दोनों ग्रन्थों के रचना-विधान की भिन्नता को भी स्वीकार किया जा सकता है।

वीर रस

पीछे "वीर रस" की निष्पत्ति की विशद् विवेचना हो चुकी है। यह रस युद्धादि के प्रसंगों में विशेष रूप से वर्णित हुआ है। *दुर्गासप्तशती* में राक्षसों के साथ देवी के युद्ध में वीर रस की सुन्दर योजना प्राप्त होती है। *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में जब ब्रह्मा के स्तुति करने पर भगवान् विष्णु की योग-निद्रा रूप महामाया भगवान् विष्णु को मुक्त कर देती है तो भगवान् विष्णु उठकर मधु-कैटभ के साथ पाँच-हजार वर्षों तक युद्ध करते हैं। उस प्रसंग में "वीर रस" की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है –

उत्तस्थौ च जगन्नाथस्तया मुक्तो जनार्दनः।
अपि च –
समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरिः॥
पञ्चवर्षसहस्राणि बाहुप्रहरणो विभुः।

– श्लोक ९१, ९३, ९४

प्रस्तुत श्लोक में वीर रस स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं। महामाया ने मधु-कैटभ को मोह में डाल रखा था, इसीलिए वे भगवान् विष्णु से कहने लगे – "हम तुम्हारी वीरता से सन्तुष्ट हैं। तुम हम लोगों से कोई वर माँगो।"

श्रीभगवानुवाच –
भवेतामद्य मे तुष्टौ मम वध्यावुभावपि।
किमन्येन वरेणात्र एतावद्धि वृतं मम॥

– *दुर्गासप्तशती*, प्रथमोऽध्यायः, श्लोक ९८

इसी प्रकार *दुर्गासप्तशती* के तृतीय अध्याय में भी वीर रस के अनेकों उदाहरण

परिलक्षित हो रहे हैं। जिस समय महिषासुर व देवी भगवती का युद्ध हो रहा है, उस समय देवी में अपार उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा है।

सोऽपि शक्तिं मुमोचाथ देव्यास्ताम्बिका द्रुतम्।
हुंकाराभिहतां भूमौ पातयामास निष्प्रभाम्॥

— श्लोक १२

इस प्रकार देवी ने उत्साह में भरकर दैत्य सेना का संहार करना प्रारम्भ किया। देवी ने दैत्यों से कभी बाहु-युद्ध, कभी गदा-युद्ध किया, कुछ को देवी ने उत्साह और क्रोध में भरकर अपनी हुंकार मात्र से नष्ट कर दिया। इसी प्रकार तृतीय अध्याय में महिषासुर के बाहुबल का वर्णन है जिसमें कि "वीर रस" की अधिक मात्रा में निष्पत्ति हुई है। जिस समय महिषासुर अपने वीर सेनापतियों का देवी द्वारा वध हुआ देखता है उस समय वह अत्यन्त क्रोध में भरकर दहाड़ता है एवं भैंसे का रूप धारण कर देवी के गणों को त्रास देना आरम्भ कर देता है। वीर रस से ओत-प्रोत इस प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः॥

— *दुर्गासप्तशती*, तृतीयोऽध्यायः, श्लोक ३८

सौन्दर्यलहरी मूलतः भक्ति प्रधान रचना जिसमें भक्ति रस के प्रमुख सहायक रस के रूप में शृंगार का प्रयोग हुआ है। इसमें वीर रस का कोई प्रतिपाद्य प्रसंग नहीं आया है। फिर भी देवी की महिमा और उनके सौन्दर्य का वर्णन करते समय कतिपय श्लोक ऐसे मिलते हैं जिनमें वीर रस की झलक दिखाई पड़ती है। यथा —

भ्रुवौ भुग्ने किञ्चिद् भुवनभयभङ्गव्यसनिनि
त्वदीये नेत्राभ्यां मधुकररुचिभ्यां धृतगुणम्।
धनुर्मन्ये सव्येतरकरगृहीतं रतिपतेः
प्रकोष्ठे मुष्टौ च स्थगयति निगूढान्तरमुमे॥

— *सौन्दर्यलहरी*, द्वितीय भाग, श्लोक ४७, पृष्ठ ३२

उपर्युक्त श्लोक में यद्यपि मूल भाव शृंगार का है किन्तु वर्णन की शैली वीर रस के अनुकूल है। अतः यहाँ वीर रस की उपस्थिति रसाभास के रूप में दर्शनीय है। साथ ही जहाँ पराक्रम, शक्ति, प्रताप, विनय, इत्यादि विभाव होते हैं वहाँ वीर रस की व्युत्पत्ति समझी जाती है। *सौन्दर्यलहरी* में आचार्य ने शक्ति को ही देवी भगवती माना है। उसी के आधार पर आचार्य ने "सारा

विश्व शक्ति का परिणाम है" इसकी पुष्टि की है। यहाँ आचार्य ने देवी की शक्ति एवं वीरता का वर्णन अलग-अलग उद्धरणों से न करके बल्कि कुछ एक श्लोकों के ही आधार पर कर दिया है। आचार्य ने अपने ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में ही देवी को सर्वशक्तिशालिनी बता दिया है —

शिवः शक्त्या युभो यदि भवति शभः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १, पृष्ठ १

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने सीधे शिव को ही यह कहा है कि यदि शिव शक्ति से ही युक्त होकर सृष्टि करने में समर्थ होता है, यदि ऐसा न हो तो वह शिव स्पन्दित होने योग्य भी नहीं था। अतः हरि, ब्रह्मा, आदि देवताओं के द्वारा वन्दनीय देवी की स्तुति करने में कौन समर्थ हो सकता है? अर्थात् देवी की वीरता, पराक्रम एवं शक्ति का कोई भी विकल्प नहीं है। आचार्य ने समस्त विश्व को ही शक्ति का परिणाम बताया है। अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड देवी की शक्ति से ही संचालित होता है। सृष्टि की उत्पत्ति, संचालन एवं प्रलय तीनों ही देवी की शक्ति से ही होता है। इसी प्रकार निम्न श्लोक भी दृष्टिगत है —

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥

— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ३५, पृष्ठ ३४९

अर्थात् — हे भगवती! तू मन है, तू वायु है और वायु जिसका सारथी है — वह अग्नि भी तू है, तू जल है और तू भूमि है। तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं है। अर्थात् सारा विश्व तेरा ही परिणाम है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थों में कहीं अधिकांश कहीं यत्र-तत्र ही वीर रस के तत्त्व परिलक्षित होते हैं। *सप्तशती* में जहाँ "वीर रस" का वर्णन अंगीरस के रूप में हुआ है। वहीं *सौन्दर्यलहरी* में वीर रस की स्थिति रसाभास के रूप में ही दृष्टिगत हो रही है।

रौद्र रस

पूर्व में "रौद्र रस" की व्युत्पत्ति का वर्णन किया जा चुका है। इस रस की झलक प्रायः प्रत्यक्ष युद्धादि के स्थलों पर ही प्राप्त होती है। *दुर्गासप्तशती* में यह रस प्रायः अधिकांशतः परिलक्षित होता है। *दुर्गासप्तशती* के "प्रथम अध्याय" में जब मधु-कैटभ अत्यन्त क्रोध से युक्त होकर ब्रह्माजी को खा जाने को तत्पर थे, उसी समय योग-निद्रा से मुक्त हुए विष्णुजी जाग उठे व अत्यन्त क्रोध में भरकर उन महादैत्यों से युद्ध में तत्पर हो गए। अतः इस प्रसंग में प्रत्यक्षरूपेण रौद्र रस के दर्शन हो रहे हैं –

क्रोधरक्तेक्षणावत्तुं ब्रह्माणं जनितोद्यमौ।
समुत्थाय ततस्ताभ्यां युयुधे भगवान् हरिः॥

– *दुर्गासप्तशती*, प्रथम अध्याय, श्लोक ९३

इसी प्रकार *दुर्गासप्तशती* के "तृतीय अध्याय" में जब महिषासुर और देवी दुर्गा के मध्य युद्ध होता है तो वहाँ भी "रौद्र रस" के दर्शन होते हैं। जब महिषासुर अपनी सम्पूर्ण सेना व महान् दैत्य सेनापतियों का वध हुआ देखता है तभी वह अत्यन्त क्रोध से युक्त होकर "देवी" की ओर झपटता है, देवी महादैत्य को अपनी ओर आता हुआ देखकर अत्यन्त क्रोध में भरकर असुर से युद्ध आरम्भ कर देती है। साथ ही देवी क्रोध के साथ बार-बार मधुपान करके, आँखों को लाल करके उसकी (महिष की) शक्तियों को छिन्न-भिन्न करने लगती है। इस प्रकार क्रोध में भरी हुई देवी कुछ ही क्षणों में दैत्य से घमासान युद्ध कर उसका वध कर देती है।

इसके अतिरिक्त देवी द्वारा चण्ड-मुण्ड-वध में भी "रौद्र रस" की निष्पत्ति चरम सीमा में दिखाई देती है। जब "चण्ड-मुण्ड" देवी से युद्ध करने पहुँचते हैं तभी देवी का रूप अत्यन्त रौद्र हो जाता है। अर्थात् देवी अत्यन्त क्रोध से युक्त टेढ़ी भौहों वाली हो जाती है, उस समय उनका पूरा स्वरूप ही बदल जाता है। उनका मुख काला हो जाता है, वे नर-मुण्डों की माला, इत्यादि से युक्त होती है। साथ ही देवी अपने सभी स्वरूप में शत्रु सेना का तहस-नहस करना प्रारम्भ कर देती है।

इसके अतिरिक्त *सौन्दर्यलहरी* मूलतः "भक्ति रस" एवं भक्ति रस मिश्रित शृंगार रस प्रधान रचना है जिसमें कि अन्यान्य रसों का या तो अभाव है या फिर यत्र-तत्र रसाभास के रूप में परिलक्षित हो रहे हैं। वस्तुतः इसके प्रतिपाद्य विषय में प्रस्तुत रस "रौद्र रस" का मूलतः कोई भी प्रसंग नहीं है,

जबकि जहाँ देवी के सौन्दर्य की चर्चा हो रही है वहाँ जब देवी भगवती को आश्रय बनाकर कामदेव पूर्णतः भगवान् शंकर के विरुद्ध अड़े हुए हैं (अर्थात् कामदेव पूर्णरूपेण शिव की तपस्या भंग करने का निश्चय कर चुके हैं) वहाँ देवी के सौन्दर्य में रौद्र रस की झलक मात्र दिखाई देती है। इससे सम्बन्धित प्रस्तुत श्लोक निम्नवत् है –

स्फुरद्गण्डाभोगप्रतिफलितताटङ्कयुगलं
चतुश्चक्रं मन्ये तव मुखमिदं मन्मथरथम्।
यमारुह्य (यमाश्रित्य) द्रुह्यत्यवनिरथमर्केन्दुचरणं
महावीरो मारः प्रमथपतये सज्जितवते॥

– *सौन्दर्यलहरी*, ५९, पृष्ठ १०६

अर्थात् – तेरे चमकते हुए कपोलों पर प्रतिबिम्बित दोनों कर्णफूल युक्त तेरा मुख मुझे चार पहियों वाला कामदेव का रथ जँचता है जिस पर चढ़कर अथवा जिसका आश्रय लेकर महावीर कामदेव, सूर्य और चन्द्रमा दो पहियों वाले पृथिवी रूपी रथ पर युद्धार्थ सुसज्जित शंकर के विरुद्ध अड़ा है।

यहाँ उपर्युक्त श्लोक में "रौद्र रस" रसाभास के रूप में दिखाई दे रहा है। उसी प्रकार एक अन्य श्लोक में भी "रौद्र रस" का आभास हो रहा है –

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभीसरसि कृतसङ्गो मनसिजः।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ७६, पृष्ठ २०४

अर्थात् – हे अचलतनये! हर (शिव) के क्रोध की ज्वालाओं से लिपटे हुए शरीर से कामदेव ने गहरे सरोवर सदृश तेरी नाभि में जब गोता लगाया, उससे लता-सदृश उठने वाले धुएँ की जो रेखा बनी, हे जननी! उसे जनसाधारण तेरी नाभि को ऊपर उठने वाली रोमावली समझते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में भी "रौद्र रस" की प्रतीति "रसाभास" रूप से ही हो रही है। इस प्रकार उभय ग्रन्थों में तुलनात्मक दृष्टि से जहाँ *दुर्गासप्तशती* में "रौद्र रस" प्रचुर रूप में विद्यमान है वहीं *सौन्दर्यलहरी* में "रौद्र रस" की प्रतीति रसाभास रूप में ही हो रही है।

भयानक रस

"भयानक रस" का परिचय पूर्व में दिया जा चुका है। *दुर्गासप्तशती* में "भयानक रस" प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होता है। *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में जब भगवान् विष्णु योग-निद्रा का आश्रय ले सो रहे थे उसी समय दो भयंकर दैत्य मधु-कैटभ उत्पन्न हुए जोकि भगवान् विष्णु के नाभिकमल में विराजमान ब्रह्माजी का वध करने को तैयार हो गए, यह देख ब्रह्माजी को भय हुआ तभी उन्होंने भगवान् विष्णु को जगाते हुए योग-निद्रा का स्तवन करना प्रारम्भ किया –

स नाभिकमले विष्णोः स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः॥
दृष्ट्वा तावसुरौ चोग्रौ प्रसुप्तं च जनार्दनम्।
तुष्टाव योगनिद्रां तामेकाग्रहृदयस्थितः॥

– श्लोक ६८, ६९

यद्यपि यहाँ भय की पराकाष्ठा नहीं है, फिर भी यहाँ भयानक रस की झलक स्पष्टतः देखी जा सकती है। यहाँ दैन्य भाव परिलक्षित हो रहा है जोकि "भयानक रस" का संचारी भाव है। इसी प्रकार द्वितीय अध्याय में जब देवी महिषासुर की सेना के साथ युद्ध करती है तो वह युद्ध देखकर देवताओं को भय उत्पन्न होता है क्योंकि देवी जब क्रोध में आकर दैत्यों की सेना के साथ युद्ध करती है और दैत्य सेना को तहस-नहस कर रही होती है तभी दैत्यों के मस्तक कटने के बाद भी केवल धड़ रूप में ही दैत्य उठ-उठकर देवी से युद्ध हेतु तत्पर हो जाते हैं। अतः यहाँ भी भयानक रस परिलक्षित हो रहा है।

कबन्धाश्छिन्नशिरसः खड्गशक्त्यृष्टिपाणयः।
तिष्ठ तिष्ठेति भाषन्तो देवीमन्ये महासुराः॥

– श्लोक ६४

दुर्गासप्तशती के तृतीय अध्याय "महिषासुर-वध" में भी पर्याप्त "भयानक रस" दृष्टिगत हो रहा है। जब महिषासुर देवी के साथ युद्ध करने हेतु तत्पर होता है तब देवी भी अत्यन्त क्रोध में भरकर पाश फेंककर उस दैत्य को बाँध लेती है उसी समय महिषासुर भैंसे का रूप त्यागकर सिंह रूप में प्रकट हो जाता है –

सा क्षिप्त्वा तस्य वै पाशं तं बबन्ध महासुरम्।
तत्याज माहिषं रूपं सोऽपि बद्धो महामृधे॥

ततः सिंहोऽभवत्सद्यो यावत्तस्याम्बिका शिरः।
छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत॥

– श्लोक २९, ३०

यह दृश्य (स्थिति) देखकर समस्त देवताओं में भय व्याप्त हो जाता है। कुछ ही क्षणों में देवी उससे भयंकर युद्ध कर उसे परास्त कर देती है। *दुर्गासप्तशती* के षष्ठम अध्याय में "चण्ड-मुण्ड" और "शुम्भ-निशुम्भ" के साथ देवी के युद्ध का वर्णन आता है। इस प्रसंग में भी "भयानक रस" प्राप्त होता है। निम्न श्लोक में "भयानक रस" के लक्षण स्पष्टरूपेण दिखाई दे रहे हैं –

ततो धुतसटः कोपात्कृत्वा नादं सुभैरवम्।
पपातासुरसेनायां सिंहो देव्याः स्ववाहनः

– अध्याय ६, श्लोक १५

इसी प्रकार जब "चण्ड-मुण्ड" युद्ध हेतु देवी के समीप गए उस समय देवी का मुख अत्यन्त क्रोध से युक्त होने के कारण काला पड़ गया, देवी की भौंहे टेढ़ी हो गई। शीघ्र ही वहाँ विकरालमुखी "काली" प्रकट हो गई, जो कि नरमुण्डों की माला तथा चीते के चर्म का वस्त्र धारण किए थी, उनके शरीर का माँस सूख गया था, उनकी जीभ लपलपा रही थी जिस कारण से देवी अत्यन्त डरावनी प्रतीत हो रही थी। देवी का यह रूप देख दैत्यों में भय व्याप्त हो गया –

विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा॥

– अध्याय ७, श्लोक ७

दुर्गासप्तशती के अष्टम अध्याय में भी देवी के अत्यन्त भयानक स्वरूप के दर्शन होते हैं। "चण्ड-मुण्ड" के वध के पश्चात् जब "रक्तबीज" देवी से युद्ध करने आता है उस समय रक्तबीज का स्वरूप भी अत्यन्त विकराल एवं चमत्कारी होता है। युद्ध के समय रक्तबीज के रक्त की कोई भी बूँद पृथ्वी पर गिरती है तो उस रक्त की बूँद से पुनः एक बलशाली रक्तबीज की उत्पत्ति हो जाती है। यह देख तुरन्त ही देवी के शरीर से एक अत्यन्त भयानक परम उग्र चण्डिका-शक्ति प्रकट होती है जिनका रूप अत्यन्त डरावना होता है वो देवी सैकड़ों गीदड़ियों की भाँति आवाज करने वाली थी –

ततो देवीशरीरात्तु विनिष्क्रान्तातिभीषणा।
चण्डिकाशक्तिरत्युग्रा शिवाशतनिनादिनी॥

– श्लोक २३

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त भी *दुर्गासप्तशती* में प्रायः अनेकानेक स्थानों पर देवी के भिन्न-भिन्न भयानक रूपों के दर्शन होते हैं।

इसके उपरान्त *सौन्दर्यलहरी* में "भयानक रस" की निष्पत्ति मूल रूप में न होकर इसकी झलक मात्र मिलती है। "आचार्य शंकर" ने जिस प्रकार से देवी का वर्णन किया है उस वर्णन में देवी के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के दर्शन होते हैं। देवी के इन्हीं रूपों में प्रायः समस्त रसों की झलक स्पष्टरूपेण दिखाई देती है। *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक ५१ में प्रायः नौ रसों की झलक मिल रही है –

शिवे शृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गङ्गायां गिरिशचरिते विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुहसौभाग्यजननी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिस्सकरुणा॥

– *सौन्दर्यलहरी*, द्वितीयभाग, ५१, पृष्ठ ५५

अर्थात् – शिव के प्रति तेरी दृष्टि शृंगारार्द्र है, इतर जनों के प्रति कुत्सित, उपेक्षायुक्त, गंगा पर सरोष, शिवजी के चरित्रों पर विस्मय प्रकट करने वाली, शिवजी के सर्पों से भीत, कमलों की शोभा को पराजित करने वाली, सखियों के प्रति मुस्कान लिए हुए है, और हे जननी! मेरे ऊपर तेरी करुणायुक्त दया-दृष्टि है।

यहाँ देवी की दृष्टि में नौ रसों का भाव स्पष्टरूपेण दिखाई दे रहा है जो कि क्रमशः इस प्रकार है – शृंगार, वीभत्स, रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीर, हास्य, करुण और शान्त। यद्यपि अन्तिम शान्त रस का नाम नहीं आया है। अर्थात् भगवती की दृष्टि नवधा रसपूर्ण है।[1]

इसके अतिरिक्त *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक ५३ में "भयानक रस" का रसाभास हो रहा है –

विभक्तत्रैवर्ण्यं व्यतिकरितलीलाञ्जनतया
विभाति त्वन्नेत्रत्रितयमिदमीशानदयिते।
पुनः स्रष्टुं देवान्द्रुहिणहरिरुद्रानुपरतान्
रजः सत्त्वं बिभ्रत्तम इति गुणानां त्रियमिव॥

– पृष्ठ ७१

१. स्वामी विष्णुतीर्थकृत *सौन्दर्यलहरी की टीका* से, पृ. १८३।

अर्थात् – हे ईशान की दयिते! ये तेरे तीनों नेत्र तीन रंग का अंजन लगाने से मानो पृथक्-पृथक् तीन रंग के चमक रहे हैं और महाप्रलय के अन्त में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को जो महाप्रलय में उपरत हो गए थे फिर पैदा करने के लिए रज, सत्त्व और तम तीनों गुणों को धारण किए हुए से प्रतीत होते हैं।

यहाँ जो महाप्रलय की बात कही गई है वही भयानक रस की उत्पत्ति का कारण बनी है। आगे के एक अन्य श्लोक में यह भी कहा गया है कि – देवताओं ने अपनी आँखों की झपकियों को बन्द कर दिया है क्योंकि उन्हें भय है कि ऐसा न हो कि उनके पलक झपकते ही देवी की भी पलक झपके और प्रलय आ जाए। क्योंकि सन्तों का ऐसा मानना है कि देवी भगवती के निमेष (नेत्र बन्द करने) से जगत् का प्रलय और उन्मेष (नेत्र खोलने से) से जगत् की सृष्टि होती है –

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शङ्के परिहृतनिमेषास्तव दृशः॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ५५, पृष्ठ ८३

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो रहा है कि जहाँ *दुर्गासप्तशती* में "भयानक रस" की स्थिति स्पष्ट रूप में है वहीं *सौन्दर्यलहरी* में "भयानक रस" रसाभास के रूप में ही परिलक्षित हो रहा है।

वीभत्स रस

दुर्गासप्तशती में "वीभत्स रस" अनेक स्थानों पर परिलक्षित होता है। द्वितीय अध्याय में जब देवताओं के तेज द्वारा देवी का प्रादुर्भाव होता है और देवी महिषासुर को युद्ध हेतु ललकारती है तभी देवी और महिषासुर के मध्य घमासान युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। देवी का वाहन सिंह भी क्रोधित हो असुर सेना का विनाश करने लगता है, उस समय धरती पर असुरों के रक्त की नदियाँ बहने लगती हैं। साथ ही हाथी, घोड़ों तथा असुरों के शवों से पृथ्वी व्याप्त हो जाती है। इस युद्ध-वर्णन में "वीभत्स रस" की प्रतीति हो रही है –

पातितै रथनागाश्वैरसुरैश्च वसुन्धरा।
अगम्या साभवत्तत्र यत्राभूत्स महारणः॥

शोणितौघा महानद्यः सद्यस्तत्र प्रसुस्रुवुः।
मध्ये चासुरसैन्यस्य वारणासुरवाजिनाम्॥
– श्लोक ६५, ६६

सप्तम अध्याय में "चण्ड-मुण्ड" और देवी के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। "चण्ड-मुण्ड" देवी को ललकारते हैं तभी देवी भी अत्यन्त क्रोध में आ जाती है। क्रोध के कारण देवी का मुख काला पड़ जाता है, भौहें टेढ़ी हो जाती हैं, उसी समय देवी के शरीर से विकरालमुखी "काली" प्रकट होती है, साथ ही नरमुण्डों की माला से विभूषित है, उनके शरीर का माँस सूख गया है, केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र शेष था। देवी का यह रूप देखकर दैत्यों को अत्यन्त भय हुआ। उन देवी का मुख अत्यन्त विकराल था; उनकी जीभ लपलपा रही थी, आँखें अन्दर को धँसी हुई थीं। वे देवी बड़े-बड़े दैत्यों का वध करती हुई, अत्यन्त वेग से दैत्यों की सेना में कूद पड़ी और दैत्यों को मार-मारकर उनका भक्षण करने लगी। यहाँ "वीभत्स रस" की प्रतीति हो रही है –

सा वेगेनाभिपतिता घातयन्ती महासुरान्।
सैन्ये तत्र सुरारीणामभक्षयत तद्बलम्॥
– श्लोक ९

इसके अतिरिक्त और भी कोई स्थानों पर "वीभत्स रस" दृष्टिगत होता है। रक्तबीज के साथ युद्ध में जब देवी ने रक्तबीज पर शूल का प्रहार किया उस समय उसकी जो भी रक्त की बूँद पृथ्वी पर गिरी उस प्रत्येक रक्त की बूँद से अनेकों रक्तबीज के समान ही दैत्य उत्पन्न हो गए। ऐसा देख देवी काली ने अपने मुख को और भी बड़ा करके उसके रक्त को अपने मुख में ले लिया जिससे मुख में राक्षस के उत्पन्न होने पर देवी ने उन दैत्यों का मुख में ही भक्षण कर लिया। यहाँ वीभत्स रस की प्रतीति हो रही है।

इसके विपरीत *सौन्दर्यलहरी* में देवी की महिमा का गान करने में ऐसा कोई प्रसंग नहीं उठाया गया है जहाँ "वीभत्स रस" की निष्पत्ति हो। कवि ने सर्वत्र देवी के सौम्य सुन्दर एवं शालीनतायुक्त अलौकिक व्यक्तित्व का ही भक्ति भाव से आपूरित होकर चित्रण किया है। अतः इसमें वीभत्स रस के लिए अवकाश नहीं मिल सका है।

अद्भुत रस

दुर्गासप्तशती के अनेकों श्लोक "अद्भुत रस" से युक्त हैं। द्वितीय अध्याय में जब महादैत्य से पराजित होकर समस्त इन्द्रादि देवता भगवान् विष्णु की शरण में जाते हैं, तभी समस्त देवों की शक्तियाँ निकलकर एकत्रित होकर

एक दिव्य प्रकाश-पुंज का रूप लेती हैं। कुछ ही क्षणों में वह प्रकाश-पुंज एक अलौकिक नारी के रूप में परिणत हो गया। उस तेज की, उस अलौकिक रूप की कोई तुलना नहीं थी –

यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्।
याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा॥
– श्लोक १४

अपि च -

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥
– श्लोक १३

देवी के अलौकिक रूप-वर्णन में "अद्भुत रस" की निष्पत्ति हो रही है। इसके अतिरिक्त *दुर्गासप्तशती* के पंचम अध्याय में जब देवी पार्वती के शरीर कोश से उत्पन्न हुई देवी "कौशिकी" को "शुम्भ-निशुम्भ" के दूत "चण्ड-मुण्ड" देखते हैं तो वे देवी के उस अलौकिक रूप-लावण्य को देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं। तदनन्तर वे अपने स्वामी "शुम्भ-निशुम्भ" के समीप जाकर देवी के अनुपम रूप-सौन्दर्य का विस्मय के साथ वर्णन करते हैं। अतः यहाँ भी "अद्भुत रस" की प्रतीति हो रही है –

ताभ्यां शुम्भाय चाख्याता अतीव सुमनोहरा।
काप्यास्ते स्त्री महाराज भासयन्ती हिमाचलम्॥

अपि च -

स्त्रीरत्नमतिचार्वङ्गी द्योतयन्ती दिशस्त्विषा।
सा तु तिष्ठति दैत्येन्द्र तां भवान् द्रष्टुमर्हति॥
– श्लोक ९०-९२

अष्टम अध्याय में भी जिस समय रक्तबीज और देवी के मध्य युद्ध आरम्भ होता है वहाँ भी अद्भुत रस की प्रतीति होती है। जब देवता रक्तबीज की रक्त-बूँदों से अनेकों उत्पन्न हुए रक्तबीज जैसे ही महादैत्यों को देखते हैं, उस समय देवताओं को बहुत ही आश्चर्य होता है तथा भय भी उत्पन्न होता है। अतः यहाँ भी भय-मिश्रित "अद्भुत रस" की प्रतीति होती है।

तस्याहतस्य बहुधा शक्तिशूलादिभिर्भुवि।
पपात यो वै रक्तौघस्तेनासञ्छतशोऽसुराः॥
– श्लोक ५१

इसके उपरान्त *सौन्दर्यलहरी* में "अद्‌भुत रस" स्पष्ट रूप में परिलक्षित नहीं हो रहा है अपितु देवी की भाव-भंगिमाओं में ही अद्‌भुत रस की प्रतीति हुई है। आचार्य के एक स्तुतिपरक श्लोक में इस रस का आभास हो रहा है –

शिवे शृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गङ्गायां गिरिशचरिते विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुहसौभाग्यजननी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिस्सकरुणा॥

– श्लोक ५१, पृष्ठ ५५

अर्थात् – शिव के प्रति मेरी दृष्टि शृंगारार्द्र है, इतर जनों के प्रति कुत्सित उपेक्षायुक्त, गंगा पर सरोष, शिवजी के चरित्रों पर विस्मय प्रकट करने वाली, शिवजी के सर्पों से भयभीत, कमलों की शोभा को पराजित करने वाली, सखियों के प्रति मुस्कान लिए हुए है, और हे जननी। मेरे ऊपर तेरी करुणायुक्त दया-दृष्टि है।

यहाँ कवि ने देवी का इस प्रकार से वर्णन किया है कि देवी की दृष्टि एक ही समय में अलग-अलग लोगों के लिए अलग-अलग भावों को रखने वाली है। जो कि अत्यन्त ही आश्चर्य का विषय है। अतः यहाँ "अद्‌भुत रस" की प्रतीति हो रही है।

भक्ति रस

उभय ग्रन्थ वास्तव में भक्ति रस से ओतप्रोत हैं। अध्ययन मात्र से ही स्पष्ट होता है कि इन ग्रन्थों की रचना भक्ति (रस) से प्रेरित होकर ही हुई है। *दुर्गासप्तशती* के तो प्रायः प्रत्येक अध्याय में भक्ति का समावेश है।

दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय में जब राजा सुरथ अपने राज्यादि से वंचित एवं वैश्य समाधि दोनों ही मोह-माया में फँसे हुए अत्यन्त विचलित होकर महर्षि मेधा की शरण में जाते हैं तब महर्षि उन पर कृपा कर उन्हें माया के बन्धन से छूटने हेतु भगवती दुर्गा की शरण में जाने को कहते हैं। साथ ही महर्षि मेधा उन्हें देवी भगवती के नित्य स्वरूप से भी परिचित कराते हैं। भक्ति-भाव से युक्त महर्षि मेधा देवी के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं –

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥

– श्लोक ६४

उपर्युक्त श्लोक में महर्षि मेधा की देवी के प्रति भक्ति-भावना का प्राकट्य हो रहा है। यहाँ ऋषि भक्ति से युक्त होकर देवी की महिमा का वर्णन करते हैं। ऋषि देवी की महानता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि – वास्तव में वे देवी ही नित्यस्वरूपा हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का रूप है तथा देवी ने ही समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है। देवी का प्राकट्य अनेकानेक प्रकार से होता है। यद्यपि ये देवी नित्य, अजन्मा है, तथापि जब देवताओं का कार्य सिद्ध करने हेतु वे प्रकट होती हैं, उस समय वे देवी लोक में उत्पन्न हुई कहलाती हैं।

इसी प्रकार ब्रह्माजी भी देवी भगवती की भक्ति-भावना से तथा रक्षार्थ स्तुति करते हैं। जब ब्रह्माजी के वध के लिए मधु-कैटभ तत्पर होते हैं तभी ब्रह्माजी देवी की स्तुति कर भगवान् विष्णु को योग-निद्रा से मुक्त करने की प्रार्थना करते हुए कहते हैं –

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।

– अध्याय १, श्लोक ७३, ७४

अर्थात् – हे देवी तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा, तुम्हीं वषट्कार हो। समस्त स्वरादि भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार इन तीन मात्राओं के रूप में तुम्हीं स्थित हो तथा इन तीन मात्राओं के अतिरिक्त जो बिन्दु रूपा नित्य अर्धमात्रा है वह भी तुम्हीं हो।

वस्तुतः जहाँ भक्ति अपनी पराकाष्ठा पर होती है वहीं भक्ति रस का संचार होता है। भक्त अपने आराध्य देवी अथवा देवता को ही सर्वस्व मानता है। ब्रह्माजी शरणागति की स्थिति में आकर देवी की अत्यन्त करुण भाव से स्तुति करते हुए कहते हैं –

यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः।

– प्रथम अध्याय, श्लोक ८३-८४

अर्थात् – जो इस जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान् विष्णु को भी जब तुमने निद्रा के अधीन कर दिया है। तब तुम्हारी स्तुति करने में कौन समर्थ हो सकता है? इत्यादि प्रकार से भक्ति-भावना से युक्त होकर भगवान् ब्रह्मा ने देवी की स्तुति की।

सौन्दर्यलहरी में भी हमें भक्ति रस के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। *सौन्दर्यलहरी* आचार्य शंकर की देवी भगवती के प्रति भक्ति-परक स्तुति ही है। इसका प्रमाण *सौन्दर्यलहरी* के प्रथम श्लोक में ही प्राप्त हा जाता है –

शिवः शक्त्या युभो यदि भवति शभः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥
– श्लोक १, पृष्ठ १

अर्थात् – यदि शिव-शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान् होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने को भी योग्य नहीं था, इसीलिए तुझ हरि-हर और ब्रह्मा आदि की भी आराध्या देवी को प्रणाम करने अथवा स्तुति करने की सामर्थ्य किसी भी पुण्यहीन मनुष्य में कैसे हो सकती है?

उपर्युक्त श्लोक आचार्य शंकर की भक्ति-भावना से ओतप्रोत है। आचार्य ने देवी भगवती को ही सर्वसामर्थ्यवती मान लिया है। अतः कहते हैं कि शिव भी भगवती से विलग होकर शक्तिहीन हो जाएंगे।

आचार्य के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में भक्ति के कई स्वरूप हमारे समक्ष आते हैं। आचार्य ने कहीं तो देवी भगवती की स्तुति माँ के रूप में की है तो कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि सख्य-भाव से स्तुति की जा रही है। जबकि आचार्य देवी की सौन्दर्य-वर्णन-परक स्तुति करते हैं वहाँ तो हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि एक भक्त माँ के रूप में भी सर्वशक्तिशालिनी देवी की स्तुति कर सकता है। परन्तु जब आचार्य देवी भगवती एवं भगवान् शिव की संयोग की स्थिति का वर्णन करते हैं वहाँ सख्य-भाव के दर्शन होते हैं। यद्यपि आचार्य शंकर ने श्लोक १०० में देवी को माँ शब्द से ही सम्बोधित कर देवी की स्तुति की है –

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
कदा धत्ते वाणीमुखकमलताम्बूलरसताम्॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ९८, पृष्ठ ३४२

अर्थात् – हे माँ! बताओ, वह समय कब आएगा? जब मैं, एक विद्यार्थी, तेरे चरणों का धुला हुआ जल, जो लाक्षारस के रंग से लाल हो रहा है, पान करूँगा जिसमें सरस्वती के मुखकमल से निकले हुए पान की पीक सदृश, जन्म के गूँगे को भी कविता-शक्ति प्रदान करने की क्षमता है।

आचार्य शंकर के उपर्युक्त स्तुतिपरक श्लोक में वात्सल्य की कामना की गई है।

इसके अतिरिक्त *सौन्दर्यलहरी* में सख्य-भाव युक्त भी अनेकों श्लोक दृष्टिगत होते हैं। आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद की स्थापना की है। अतः आचार्य ने साधकों की सरलता हेतु ही ब्रह्म शक्ति को देवी भगवती का रूप देकर ब्रह्म की शक्ति की ही उपासना की है। अनेकानेक विद्वानों ने इसी परम शक्ति को "चिति-शक्ति" के नाम से भी सम्बोधित किया है। सामान्यतः आचार्य ने देवी की सौन्दर्य-वर्णन-मिश्रित स्तुति की है। परन्तु जब आचार्य की स्तुति को हम दार्शनिक दृष्टिकोण से देखते हैं उस समय वह सामान्य सौन्दर्य-वर्णन नहीं अपितु समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन हमें उन्हीं श्लोकों में होता है। आचार्य का प्रस्तुत ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही प्रकार के भक्तों के लिए है। एक वे जो भक्ति-मार्ग में विश्वास करते हैं। दूसरे वे जिनका विश्वास "योग-मार्ग" में है। *सौन्दर्यलहरी* में दोनों ही समाहित हैं। सामान्य (दर्शन-योग से परे) भक्तों हेतु सरल भक्ति है जबकि पूर्वार्द्ध "आनन्दलहरी" में गूढ़-योग (दर्शन) का समावेश है।

यद्यपि *सौन्दर्यलहरी* में जो आचार्य शंकर के सौन्दर्य-वर्णन-परक श्लोक हैं वे भी गूढ़ योग से युक्त हैं। जबकि सामान्य साधक की दृष्टि से वे मात्र भक्ति-परक श्लोक ही हैं, जिनमें कि देवी भगवती के सौन्दर्य का वर्णन आचार्य शंकर ने किया है।

देवी के सौन्दर्य का वर्णन एवं भगवती और शिव के संयोग की स्थिति का वर्णन आचार्य शंकर ने भगवान् शिव के साथ सख्य-भाव (से युक्त होकर) स्थापित करके किया है। जिसके उदाहरणपरक श्लोक निम्नवत् हैं –

कराग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया।
करग्राह्यं शम्भोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथंकारं ब्रूमस्तव चुबुकमौपम्यरहितम्॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ६७, पृष्ठ १५१

अर्थात् – हे गिरिसुते। उपमारहित तेरी चिबुक का वर्णन हम कैसे करें जिसे हिमालय (तेरे पिता) ने वात्सल्य प्रेम से अपनी अँगुलियों से स्पर्श किया है, गिरीश ने अधरपान करने की आकुलता से बार-बार उठाया है और जो उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो वह शम्भु के हाथ में मुख देखने के लिए उठाए हुए दर्पण का दस्ता हो।

यही भाव इस श्लोक के द्वारा भी व्यक्त हो रहा है –

भुजाश्लेषान्नित्यं पुरदमयितुः कण्टकवती
तव ग्रीवा धत्ते मुखकमलनालश्रियमियम्।
स्वतः श्वेता कालागरुबहुलजम्बालमलिना
मृणालीलालित्यं वहति यदधो हारलतिका॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ६८, पृष्ठ १५६

यहाँ आचार्य ने भगवती की ग्रीवा के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है कि देवी की ग्रीवा शिव की भुजाओं के निरन्तर स्पर्श आदि के कारण खुरदुरी हो गई है, जिससे देवी की ग्रीवा अत्यन्त पतली मृणाली सदृश सुन्दर हो गई है।

उपर्युक्त श्लोकों में आचार्य शंकर ने भगवान् शिव के प्रति भक्ति-युक्त सख्य-भाव से प्रेरित होकर उनकी संयोग की स्थिति का वर्णन किया है। इस प्रकार उभय ग्रन्थों में भक्ति रस के दर्शन होते हैं।

उभय ग्रन्थों में गुण विवेचन

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में यद्यपि भट्टोद्भट प्रभृति आचार्य गुण और अलंकारों में कोई भेद नहीं मानते हैं किन्तु वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, आदि आचार्यों ने गुण एवं अलंकारों में स्पष्ट भेद स्वीकार किया है। आचार्य वामन गुणों के सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि –

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः॥

ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः। ते च ओजः प्रसादादयः। न यमकोपमादयः। कैवल्येन तेषामकाव्यशोभाकरत्वात्। ओजः प्रसादादीनान्तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वमिति।

– वामन कृत काव्यालङ्कारसूत्र ३.१.१ एवं उसकी वृत्ति, *काव्यप्रकाश*, पृ. ३७८ से उद्धृत।

अर्थात् – काव्यशोभा के करने वाले उत्पादक धर्म गुण कहलाते हैं। शब्द अथवा अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं, वे गुण कहलाते हैं और वे गुण ओज-प्रसादादि ही होते हैं। यमक आदि शब्दालंकार और उपमा आदि अर्थालंकार उस काव्य शोभा के उत्पादक न होने से गुण नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि ओज-प्रसादादि गुणों के अभाव में केवल यमक अथवा उपमा आदि अलंकार काव्य की शोभाधायक नहीं हो सकते हैं और ओज-प्रसादादि गुण यमक, उपमा, आदि के बिना भी काव्य के शोभाधायक हो सकते हैं। इसीलिए वे ही गुण कहे जा सकते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन ने भी गुण और अलंकारों में भेद स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उनका मत निम्नलिखित है –

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा विज्ञयाः कटकादिवत्॥

– ध्वन्यालोक, कारिका २.६, पृष्ठ २१६

अर्थात् – काव्य के आत्मभूत रसादिरूपध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण होते हैं और अलंकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ के धर्म होते हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य ने गुणों को रसाश्रित तथा अलंकारों को शब्द तथा अर्थ के आश्रित धर्म मानकर उनके भेद का उपपादन किया है। आचार्य मम्मट ने काव्य-गुण के सम्बन्ध में आचार्य वामन और आचार्य वर्धन दोनों के मतों का समन्वय प्रस्तुत करते हुए "गुण" के लक्षण इस प्रकार दिए हैं –

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

– *काव्यप्रकाश*, कारिका ८.६६, पृष्ठ ३८०

अर्थात् – आत्मा के शौर्यादि धर्मों के समान काव्य के आत्मभूत प्रधान रस के जो अपरिहार्य और उत्कर्ष विधायक धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं।

स्पष्ट है कि गुण काव्य के वे तत्त्व हैं जो काव्य की शोभा को उत्कर्ष प्रदान करते हैं और काव्य में स्वाभाविकरूपेण विद्यमान रहते हैं। आचार्य वामन ने गुणों को काव्य में विद्यमान नित्य गुण के रूप में मान्यता दी है जबकि अलंकारों को वे अनित्य गुण स्वीकार करते हैं।

काव्य गुणों की संख्या के सम्बन्ध में भी आचार्यों में मत-वैभिन्य की स्थिति लक्षित होती है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने काव्य के उत्कर्ष विधायक तत्त्व के रूप में दस गुणों – श्लेष, समता, समाधि, प्रसाद, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति का उल्लेख किया है –

श्लेषः प्रसादः समता समता समाधिर्माधुर्यमोजः पद सौकुमार्यम्।
अर्थस्वचव्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥
— *नाट्यशास्त्र,* १६१७, पृष्ठ २६५

यद्यपि महाराज भोज ने *सरस्वती कण्ठाभरण* में गुणों की संख्या चौबीस (२४) बताई है परन्तु दण्डी, वामन आदि आचार्यों ने भरत द्वारा निरूपित पूर्वोक्त दस गुणों को ही काव्य-गुण स्वीकार किया है –

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदात्वमोजः कान्तिः समाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राण दशगुणाः स्मृताः।
— दण्डीकृत *काव्यादर्श,* १४१, पृष्ठ ३७

आचार्य मम्मट ने काव्य के मात्र तीन ही गुण माने हैं – माधुर्य, ओज और प्रसाद –

माधुर्य्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।
— *काव्यप्रकाश,* कारिका ८.६८, पृष्ठ ३८८

गुणों की संख्या के सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है –

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश॥
— *काव्यप्रकाश,* कारिका ८.७२, पृष्ठ ३९०

अर्थात् – आचार्यों द्वारा कहे गए दस गुणों में से कुछ तो माधुर्यादि गुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं, कुछ निर्दोष होने के कारण स्वीकृत हैं और अन्य दूषित होने के कारण गणनीय नहीं हैं।

आचार्य जयदेव ने उपर्युक्त दस गुणों में से आठ गुणों – श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य और उदारता को ही काव्य गुण स्वीकार किया है। उनके अनुसार "कान्ति" और "अर्थव्यक्ति" गुण क्रमशः श्रृंगार रस और प्रसाद गुण में अन्तर्भावित हो जाते हैं –

श्रृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः।
अमी दशगुणाः काव्ये पुंसिशौर्योदयो यथा॥
— जयदेवकृत *चन्द्रालोक,* ४.१०, पृष्ठ ६९

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य गुणों के सम्बन्ध में काव्याचार्यों में पर्याप्त मतभेद रहा है। काव्य गुणों की संख्या तीन से चौबीस तक मानी जाती

रही है, किन्तु इनकी सर्वमान्य संख्या दस ही है जिन्हें आचार्य मम्मट ने तीन ही गुणों के अन्तर्गत समाहित माना है। यहाँ पर इन दस गुणों का क्रमिक विवेचन तथा *दुर्गासप्तशती* तथा *सौन्दर्यलहरी* ग्रन्थों में इनकी स्थिति का निदर्शन प्रस्तुत है।

माधुर्य गुण

आचार्य मम्मट ने इस गुण की व्याख्या करते हुए कहा है कि – जो चित्त को प्रसन्न और श्रृंगार रस में विभोर कर दे वह माधुर्य-गुण होता है।

आह्लादकत्वं माधुर्य्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्॥
— *काव्यप्रकाश,* कारिका ८.६८, पृष्ठ ३८८

इस गुण के अन्तर्गत "ट" वर्ग रहित स्पर्श वर्णों, ह्रस्व स्वरों के बीच "र तथा न" का प्रयोग, समास का अभाव और मधुर शब्द-रचना का विधान आता है।[2] माधुर्य गुण सामान्यताया संयोग श्रृंगार में रहता है परन्तु करुण, विप्रलम्भ श्रृंगार तथा शान्त रस में भी इसकी उपस्थिति उत्तरोत्तर चमत्कारजनक होती है –

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।
— *काव्यप्रकाश,* कारिका ८.६८ पृष्ठ ३८९

दुर्गासप्तशती में माधुर्य गुण की उपस्थिति प्रायः स्तुतिपरक प्रसंगों में प्राप्त होती है –

विश्वेश्वरि त्वं परिपासि विश्वं
विश्वात्मिका धारयसीति विश्वम्।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति
विश्वाश्रया ये त्वयि भक्तिनम्राः॥
— अध्याय ११ श्लोक ३३

देवी के सौन्दर्य निरूपण के प्रसंगों में भी माधुर्य गुण प्राप्त होता है यथा –

ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र-
बिम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम्।
अत्यद्भुतं प्रहृतमात्तरुषा तथापि
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण॥
— अध्याय ४, श्लोक १२

---

२. मम्मटकृत *काव्यप्रकाश,* पृ. ४४३।

सौन्दर्यलहरी में देवी के सौन्दर्य का लालित्यपूर्ण वर्णन होने के कारण माधुर्य गुण की प्रधानता है। इसका प्रायः प्रत्येक छन्द माधुर्य रस से परिपूर्ण है। इन छन्दों में माधुर्य का भाव इतना पुष्ट है कि कहीं-कहीं तो "ट" वर्ग का प्रयोग होने पर भी छन्द माधुर्य में न्यूनता नहीं आने पाई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है –

कलङ्कः कस्तूरी रजनिकरबिम्बं जलमयं
कलाभिः कर्पूरैर्मरकतकरण्डं निबिडितम्।
अतस्त्वद्भोगेन प्रतिदिनमिदं रिक्तकुहरं
विधिर्भूयो भूयो निबिडयति नूनं तव कृते ॥

– श्लोक ९४, पृष्ठ ३१२

सौन्दर्यलहरी के छन्दों में नासिक्य वर्णों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) की आवृत्तियों से छन्दों की लयात्मकता और भी माधुर्यपूर्ण हो गई है। इस दृष्टि से *सौन्दर्यलहरी* के छन्द *दुर्गासप्तशती* के छन्दों की अपेक्षा अधिक रमणीय हैं।

ओज गुण

जिस काव्य के श्रवण करने से चित्त का विस्तार एवं मन में तेज उत्पन्न होता है वह ओज गुण प्रधान होता है। आचार्य मम्मट ने वीर रस में रहने वाले चित्त के विस्तार के हेतुभूत "दीप्ति" को "ओज" कहा है। ओज गुण सामान्यतया वीर रस में रहता है परन्तु वीभत्स और रौद्र रसों में भी इसकी उपस्थिति चमत्कारपूर्ण होती है। "ओज गुण" की विधि-सिद्धि को निरूपित करते हुए *काव्यप्रकाश* में कहा गया है कि वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके बाद के अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का रेफ के साथ किसी भी वर्ण का दो तुल्य वर्णों का, ट वर्ग शकार तथा षकार का प्रयोग, दीर्घ समास और विकट रचना "ओज गुण" के व्यंजक होते हैं।

दुर्गासप्तशती में युद्ध का बहुलांश में वर्णन होने के कारण इसमें "ओज गुण" की प्रधानता है। युद्ध के प्रसंगों में वीर, रौद्र, वीभत्स, आदि रसों के प्रसंगों में "ओज गुण" अपनी पूर्ण उत्कृष्टता के साथ दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

भ्रुकुटीकुटिलात्तस्या ललाटफलकाद्द्रुतम्।
काली करालवदना विनिष्क्रान्तासिपाशिनी ॥

विचित्रखट्वाङ्गधरा नरमालाविभूषणा।
द्वीपिचर्मपरीधाना शुष्कमांसातिभैरवा ॥

– अध्याय ७, श्लोक ६, ७

सौन्दर्यलहरी में "ओज गुण" का रस स्थिति के अनुसार अभाव लक्षित होता है फिर भी जहाँ कहीं कवि ने दीर्घ सामासिक शब्दावली में देवी के औदात्य का वर्णन किया है वहाँ ओज गुण की अनुभूति होती है। यथा –

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनसः
स्खलन्तस्ते खेलं भवनकलहंसा न जहति।
अतस्तेषां शिक्षां सुभगमणिमञ्जीररणित-
च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते ॥

– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ९१, पृष्ठ २९०

ओज गुण की दृष्टि से *दुर्गासप्तशती*, *सौन्दर्यलहरी* की अपेक्षा अधिक समृद्ध है।

प्रसाद गुण

जिस शब्द, समास या रचना के द्वारा श्रवण मात्र से शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाए वहाँ प्रसाद गुण होता है –

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

– *काव्यप्रकाश*, ८.७६, पृष्ठ ३९४

प्रसाद गुण को समस्त रचनाओं का साधारण धर्म माना गया है। आचार्य जयदेव का मत है कि जिस गुण के कारण शब्द में निहित अर्थ स्वतः उद्भाषित हो जाता है उसे प्रसाद गुण कहा जाता है। प्रसाद गुण से युक्त पद-रचना में अर्थ उसी प्रकार स्पष्ट रूप से झलकता है, जैसे स्वच्छ और निर्मल जल में पड़ी हुई सीप दिखाई पड़ती है। –

यस्मादन्तः स्थितः सर्वं स्वयमर्थोऽवभासिते।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इतिस्मृतः ॥

– जयदेवकृत *चन्द्रालोक*, ४.३ पृष्ठ ६५

इस प्रकार प्रसाद गुण का सम्बन्ध काव्य के अर्थ-सारल्य से है। जहाँ सरल शब्दों और सरल भाव-योजना के विधान से काव्य का अर्थ सरलता से स्पष्ट हो जाता है, वहाँ प्रसाद गुण होता है।

दुर्गासप्तशती में प्रसाद गुण की स्थिति प्रायः वर्णनात्मक प्रसंगों में दिखाई देती है। जहाँ कवि किसी प्रसंग का कथात्मक वर्णन प्रस्तुत करता है वहाँ सरल और असामासिक शब्दावली का प्रयोग करता है जिससे अर्थ की प्रतीति बड़ी सहजता से हो जाती है। प्रमाणार्थ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

स्वारोचिषेऽन्तरे पूर्वं चैत्रवंशसमुद्भवः।
सुरथो नाम राजाभूत्समस्ते क्षितिमण्डले॥

ततो मृगयाव्याजेन हृतस्वाम्यः स भूपतिः।
एकाकी हयमारुह्य जगाम गहनं वनम्॥

– अध्याय १, श्लोक ४,९

सौन्दर्यलहरी में यद्यपि दीर्घ-सामासिक और श्लिष्ट पदों का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है जिससे छन्दों का अर्थ बहुत सहजता से नहीं प्रतीत हो पाता है। तथापि किसी-किसी छन्द में इतनी सरल और असामासिक पद-रचना प्राप्त होती है जिससे अर्थ की प्रतीति में तनिक भी कठिनाई नहीं होती है। ऐसे छन्दों में "प्रसाद गुण" की स्थिति सहज ही स्वीकार्य है। प्रसाद गुण की दृष्टि से *सौन्दर्यलहरी* का निम्न छन्द द्रष्टव्य है। –

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूडामणिरुचिः॥

– श्लोक ८४, पृष्ठ २४६

दोनों ही आलोच्य ग्रन्थों में ऐसे कई स्थल प्राप्य हैं जहाँ प्रसाद गुण की स्थिति प्राप्त होती है। दोनों ग्रन्थों में प्रसाद गुण से सम्बन्धित छन्दों की सरलता स्पृहणीय है।

उपर्युक्त तीन प्रमुख गुणों के अतिरिक्त जिन अन्य सात (७) गुणों का वर्णन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है उन सबका अन्तर्भाव इन्हीं तीनों गुंणों में हो जाता है। "कान्ति गुण" रस के अन्तर्गत माना जाता है, जिसका अन्तर्भाव माधुर्य गुण में हो जाता है। "समता गुण" विशिष्ट सामासिक पद-रचना में होता है जो ओज और शृंगार दोनों में हो सकता है। "अर्थव्यक्ति गुण" प्रसाद गुण का ही दूसरा रूप है जिसमें समास की न्यूनता और अर्थ की स्पष्ट प्रतीति को आवश्यक माना गया है। क्लिष्टत्व और ग्राम्यत्व से रहित कोमल-कान्त पदावली, सौकुमार्य गुण का लक्षण है, जो प्रकारान्तर से "माधुर्य-

गुण" में ही व्यक्त होती है। इसी प्रकार "श्लेष और समाधि" गुण अपनी उतार-चढ़ावपूर्ण पद योजना के कारण "ओज गुण" में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। ये सभी गुण दोनों आलोच्य ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, जिनके उदाहरणस्वरूप, माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को व्यक्त करने वाले छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अतः यहाँ इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

उभय ग्रन्थों में रीति विवेचन

रीति को ही काव्याचार्यों ने वृत्ति, मार्ग, संघटना तथा शैली नामों से भी अभिहित किया है। रीति, काव्य-रचना करने में विशिष्ट पद-रचना को कहते हैं –

विशिष्ट पदरचना रीतिः।

वृत्ति मार्ग आदि सभी रूपों में इनकी संख्या तीन ही स्वीकार की गई है –

१. गौणी रीति अथवा परुषावृत्ति।
२. वैदर्भी रीति अथवा उपनागरिक वृत्ति।
३. पांचाली रीति अथवा कोमला वृत्ति।

रीतियों का सम्बन्ध काव्य में पद-रचना और वर्ण-विन्यास से है। माधुर्य व्यंजक वर्णों से युक्त रीति को वैदर्भी कहते हैं। *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थों में इस रीति का प्रयोग हुआ है। पूर्व-विवेचित माधुर्य गुण के उदाहरणों को इस रीति के उदाहरणों के रूप में भी देखा जा सकता है।

ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त रीति, गौणी रीति कहलाती है। ओजपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में उस रीति का प्रयोग होता है उसे भी पूर्व-विवेचित ओज गुण के उदाहरणों में देखा जा सकता है।

पांचाली रीति में शेष सभी प्रकार की पद-योजना मान्य है। यह रीति प्रसाद गुण में विशेष रूप से लक्ष्य है किन्तु इसकी व्याप्ति अन्य सभी गुणों में भी प्राप्त होती है।

आलोच्य ग्रन्थों में प्रधानता की दृष्टि से *दुर्गासप्तशती* में ओजपूर्ण प्रसंगों की अधिकता के कारण गौणी रीति प्रधान है जबकि *सौन्दर्यलहरी* में माधुर्यपूर्ण प्रसंगों की अधिकता के कारण वैदर्भी रीति की प्रधानता है।

दुर्गासप्तशती और सौन्दर्यलहरी में विभिन्न अलंकारों का परिपाक

काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने वाले तत्त्व को अलंकार का नाम दिया गया है। अलंकार वे काव्य युक्तियाँ हैं जिनसे काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है। आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्म अलंकार कहे जाते हैं –

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते॥

– *काव्यादर्श*, २.१, पृष्ठ ७४

शब्द और अर्थ दोनों को काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। अतः अलंकार की व्याप्ति शब्द और अर्थ दोनों में होती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से अलंकार के कई अर्थ किए जा सकते हैं। यथा –

अलंकृतिः अलंकारः – इस व्युत्पत्ति के आधार पर अलंकार सौन्दर्य का पर्याय है, जिसे वामन ने "सौन्दर्यम् अलंकारः" कहकर स्वीकार किया है।

अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः – इस व्युत्पत्ति के आधार पर अलंकार प्रसाधन अथवा आभूषण का पर्याय बनता है। काव्य को सज्जित करने के लिए कथन रूप में जिन प्रसाधनों या आभूषणों का प्रयोग किया जाता है, वे अलंकार होते हैं।

अलंक्रियते यः सः अलंकारः – इस व्युत्पत्ति के आधार पर अलंकार्य तत्त्व (रसादि) को भी अलंकार कहा जा सकता है।

अलंकार वस्तुतः एक विशेष कथन-शैली है, जिनकी संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से अलंकार के कई भेद किए गए हैं। जिनमें से अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, निदर्शना, परिकराकुंर, अपह्नुति, विभावना, प्रतीक, काव्यार्थापति, अनन्वय आदि उल्लेखनीय अलंकार हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के आलोच्य ग्रन्थों, *दुर्गासप्तशती* एवं *सौन्दर्यलहरी* में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण अलंकारों की प्राप्ति होती है। इनमें प्राप्त कुछ विशिष्ट अलंकारों का विवेचन एवं निदर्शन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

अनुप्रास अलंकार

वर्णसाम्यमनुप्रासः अर्थात् वर्णों की समानता ही अनुप्रास अलंकार है। स्वरों का भेद होने पर भी व्यंजनों की समानता वर्णों की समानता है। रसादि के अनुकूल प्रकृष्ट सन्निवेश ही अनुप्रास कहलाता है। प्रयोग के अनुसार इसके

कई भेद बताए गए हैं। जिनमें से छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, आदि प्रमुख हैं।

दुर्गासप्तशती में अनुप्रास अलंकार का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। अनुप्रास-युक्त कुछ उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं –

लक्ष्मि लज्जे महाविद्ये श्रद्धे पुष्टिस्वधे ध्रुवे।
महारात्रि महाऽविद्ये नारायणि नमोऽस्तु ते॥

– अध्याय ११, श्लोक २२

उपर्युक्त श्लोक में ल, म और न वर्णों की एक-एक बार आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ छेकानुप्रास है। इसी प्रकार निम्नलिखित उदाहरणों में भी छेकानुप्रास द्रष्टव्य है।

त्रैलोक्यत्राणसहिते नारायणि नमोऽस्तु ते।

– अध्याय ११, श्लोक १८

चिक्षेप चामरः शूलं बाणैस्तदपि साच्छिनत्॥

– अध्याय ३, श्लोक १३

एक अथवा अधिक वर्णों की कई बार आवृत्ति वाले "वृत्यानुप्रास" के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते॥

– अध्याय ११, श्लोक २४

सौन्दर्यलहरी में तो आनुप्रासिक प्रयोगों की अतिशयता है। इसके अधिकांश छन्दों में "वृत्यानुप्रास" भी दर्शनीय है। कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं –

नखानामुद्योतैर्नवनलिनरागं विहसतां
कराणां ते कान्तिं कथय कथयामः कथमुमे।
कयाचिद्वा साम्यं भजतु कलया हन्त कमलं
यदि क्रीडल्लक्ष्मीचरणतललाक्षारसचणम्॥

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयःपारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥

– श्लोक ७१, ७५ पृष्ठ १७५, १९७

उपमा अलंकार

साधर्म्यमुपमा भेदे।
उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः
साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.८७ का प्रथम पाद एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ ४४३

अर्थात् — भेद होने पर साधर्म्य उपमा कहलाता है।

उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य-कारण आदि का नहीं, इसीलिए उनका ही समान धर्म से सम्बन्ध उपमा कहलाता है। भेद का ग्रहण अनन्वय से पृथक् करने के लिए है।

संस्कृत काव्याचार्यों ने उपमा अलंकार के कई भेदोपभेद बताए हैं किन्तु इन सबमें उपमेय की उपमान से समानता को ही इस अलंकार का मूल कारण दर्शित किया गया है।

दुर्गासप्तशती में देवी के सौन्दर्य-वर्णन में उनके पराक्रम तथा उनकी महिमा के वर्णन में, राक्षसों के अस्त्र-शस्त्रों के वर्णन, आदि में उपमा अलंकार का विशेष वर्णन दिखाई देता है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं —

चिक्षेप च ततस्तत्तु भद्रकाल्यां महासुरः।
जाज्वल्यमानं तेजोभी रविबिम्बमिवाम्बरात्॥

— अध्याय ३, श्लोक ९

उपर्युक्त श्लोक में भद्रकाली के ऊपर चलाए गए शूल की आभा सूर्य-मण्डल की आभा के समान वर्णित हुई है जिसे समानता-सूचक (वाचक) "इव" से प्रकट किया गया है।

दृष्टवा तु देवि कुपितं भ्रुकुटीकराल-
मुद्यच्छशाङ्कसदृशच्छवि यन्न सद्यः॥

— अध्याय ४, श्लोक १३

उपर्युक्त पंक्तियों में देवी के मुख की समानता उदित होते हुए चन्द्रमा से दिखाई गई है जिसे प्रकट करने के लिए "सदृश" शब्द को वाचक रूप में प्रयुक्त किया गया है।

सौन्दर्यलहरी में कवि ने अपने छन्दों में अनेक स्थानों पर "उपमा अलंकार" का प्रयोग किया है। इस अलंकार से युक्त छन्दों के उदाहरण निम्नवत् हैं —

अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकुतुपौ (कलशौ)
न सन्देहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः।
पिबन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसङ्गरसिकौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदनक्रौञ्चदलनौ॥

— श्लोक ७३, पृष्ठ १८५

उपर्युक्त छन्द में देवी को हिमाचल की पताका "सदृश" पुत्री कहकर सम्बोधित किया गया है। साथ ही देवी के स्तनों की उपमा अमृत-रस से भरे माणिक्य के बने कलशों से दी गई है। अतः उपरलिखित श्लोक में स्पष्टरूपेण उपमा अलंकार के दर्शन हो रहे हैं।

रूपक अलंकार

जो उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन है वह रूपक अलंकार है। अर्थात् जिन उपमान तथा उपमेय का भेद प्रकट है उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना ही रूपक है —

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः
अतिसाम्यादनपह्नुतभेदयोरभेदः।

— *काव्यप्रकाश*, कारिका १०.९१ का पूर्वार्ध एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ ४६३

रूपक अलंकार के कई भेदोपभेद भी बताए गए हैं जिनमें से कुछ मुख्य निम्नवत् हैं।

१. समस्तवस्तुविषयक रूपक।
२. एकदेशविवर्ति रूपक।
३. साङ्ग रूपक।
४. निरङ्ग रूपक, आदि हैं।

दुर्गासप्तशती के निम्नलिखित श्लोकों में रूपक अलंकार के दर्शन हो रहे हैं —

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम्॥

— अध्याय ५, श्लोक ९

अर्थात् — देवी को नमस्कार है, महादेवी शिवा को सर्वदा नमस्कार है। प्रकृति एवं भद्रा को प्रणाम है, हम लोग नियमपूर्वक जगदम्बा को नमस्कार करते हैं।

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधान-
मुद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्ता च सर्वजगतां परिमार्तिहन्त्री॥
– अध्याय ४, श्लोक १०

अर्थात् – आप शब्द स्वरूपा हैं, अत्यन्त निर्मल – *ऋग्वेद, यजुर्वेद* तथा उद्‌गीथ के मनोहर पदों के पाठ से युक्त *सामवेद* का भी आधार आप ही हैं। आप ही वेदत्रयी हैं अर्थात् तीनों वेद अर्थात् छः ऐश्वर्यों से युक्त हैं। इस विश्व की उत्पत्ति एवं पालन के लिए आप ही आजीविका के रूप में प्रकट हुई। आप ही सम्पूर्ण जगत् की घोर पीड़ा का विनाश करने वाली हैं।

उपर्युक्त श्लोक में उपमान और उपमेय में भेद नहीं स्पष्ट हो रहा है। अतः यहाँ पूर्णरूपेण "रूपक अलंकार" के दर्शन हो रहे हैं। इसके साथ ही एक अन्य श्लोक में भी रूपक अलंकार दृष्टिगत हो रहा है –

मृदङ्गांश्च तथैवान्ये तस्मिन् युद्धमहोत्सवे।
ततो देवी त्रिशूलेन गदया शक्तिवृष्टिभिः॥
– अध्याय २, श्लोक ५५

सौन्दर्यलहरी में कवि ने अपने छन्दों में प्रायः उपमा, रूपक, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है। "रूपक अलंकार" से युक्त कुछ छन्द निम्नवत् हैं –

भुजाश्लेषान्नित्यं पुरदमयितुः कण्टकवती
तव ग्रीवा धत्ते मुखकमलनालश्रियमियम्।
स्वतः श्वेता कालागुरुबहुलजम्बालमलिना।
मृणालीलालित्यं वहति यदधो हारलतिका॥
– श्लोक ६८, पृष्ठ १५६

अर्थात् – हे देवी! तेरी ग्रीवा, जो पुरारि की भुजा के नित्य स्पर्श से खुरदुरी हो रही है, तेरे मुख-कमल को धारण करती हुई कमलनाल जैसी सुन्दर लगती है, जो स्वतः तो गौरवर्ण है, परन्तु अधिक समय तक अगरु के गाढ़े लेप से कीचड़ में सनी हुई सी मलीन दिखती है और जिसके नीचे हार पहना हुआ है।

यहाँ आचार्य शंकर ने देवी के सौन्दर्य का वर्णन किया है जिसमें कि उपमान और उपमेय में भेद नहीं स्पष्ट हो रहा है। यहाँ "तेरी ग्रीवा तेरे मुख-कमल

को धारण करती हुई कमलनाल जैसी सुन्दर लगती है।" प्रस्तुत पंक्ति में स्पष्टतः रूपक अलंकार के दर्शन हो रहे हैं। इसी प्रकार एक अन्य छन्द भी प्रस्तुत है –

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभीसरसि कृतसङ्गो मनसिजः।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति॥
– *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ७६, पृष्ठ २०४

अर्थात् – हे अचलतनये! हर के क्रोध की ज्वालाओं से लिपटे हुए शरीर से कामदेव ने गहरे सरोवर सदृश तेरी नाभि में जब गोता लगाया, उससे लता सदृश उठने वाली धुएँ की जो रेखा बनी, हे जननी! उसे जनसाधारण तेरी नाभि के ऊपर उठने वाली रोमावलि समझते हैं।

यहाँ उपर्युक्त छन्द की नीचे की दो पंक्तियों में स्पष्ट रूप से रूपक अलंकार की निदर्शना हो रही है। "उससे लता सदृश उठने वाली धुएँ की जो रेखा बनी है, हे जननी! उसे जनसाधारण तेरी नाभि के ऊपर उठने वाली रोमावलि समझते हैं।" इन पंक्तियों में उपमान एवं उपमेय में स्पष्टरूपेण अभेद वर्णन दिखाई दे रहा है। अतः यहाँ अत्यन्त साम्य के कारण "रूपक अलंकार" की पुष्टि हो रही है।

उत्प्रेक्षा अलंकार

प्रकृति की सम के साथ सम्भावना ही उत्प्रेक्षा कहलाती है।

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्॥
– *काव्यप्रकाशः*, कारिका १०.९२ का पूर्वार्ध, पृष्ठ ४६०

उत्प्रेक्षा एवं उपमा अलंकार में परस्पर साम्य है। अतः दोनों में भेद जानने हेतु दो लक्षण निम्नवत् हैं –

१. **मन्ये शङ्केध्रुवंप्रायोनूनमित्येवमादयः।**
२. **उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः॥**

मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। जबकि इन शब्दों का प्रयोग उपमा अलंकार में नहीं होता है। अतः जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

"इव" शब्द ऐसा है जो कि उत्प्रेक्षा तथा उपमा दोनों का वाचक है परन्तु इसमें भेदक पहचान यह है कि उत्प्रेक्षा में "इव" शब्द का प्रयोग प्रायः क्रियापद के साथ होता है। "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः।" आदि के सदृश जब क्रियापद के साथ इसका प्रयोग हो तब उसको निश्चित रूप से उत्प्रेक्षा समझना चाहिए।

दुर्गासप्तशती में उत्प्रेक्षा अलंकार का समावेश निम्नलिखित श्लोक में हुआ है –

चचारासुरसैन्येषु वनेष्विव हुताशनः।
निःश्वासान् मुमुचे यांश्च युध्यमाना रणेऽम्बिका॥
– अध्याय २, श्लोक ५२

यहाँ प्रस्तुत श्लोक में देवी और असुरों के मध्य हो रहे युद्ध का वर्णन किया गया है –

देवी का वाहन सिंह भी क्रोध में भरकर गर्दन के बालों को हिलाता हुआ असुरों की सेना में इस प्रकार विचरने लगा, मानो वनों में दावानल फैल रहा हो।

यहाँ "वनेष्विव हुताशनः" वाक्य में स्पष्टरूपेण उत्प्रेक्षा अलंकार देखा जा सकता है। यहाँ "इव" शब्द का प्रयोग क्रियापद के साथ हुआ है।

आचार्य शंकर ने *सौन्दर्यलहरी* के अनेक छन्दों में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया जिनमें से कुछ पंक्तियाँ निम्नवत् हैं –

करग्राह्यं शम्भोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथंकारं ब्रूमस्तव चुबुकमौपम्यरहितम्॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ६७, पृष्ठ १५१

यहाँ उपर्युक्त छन्द में आचार्य शंकर ने देवी की चिबुक की सौन्दर्यपरक स्तुति की है। इस छन्द में देवी की चिबुक इस कारण से इतनी सुन्दर है क्योंकि पिता हिमाचल ने वात्सल्य से भरकर अपनी अँगुलियों से स्पर्श किया है, जबकि गिरीश ने (भगवान् शंकर ने) अधर-पान करने की व्याकुलता से बार-बार स्पर्श किया है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो वह शम्भु के हाथ में मुख देखने के लिए उठाए हुए दर्पण का दस्ता हो।

अतः यहाँ स्पष्ट रूप से उत्प्रेक्षा अलंकार के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इसी प्रकार एक अन्य छन्द भी द्रष्टव्य है –

गले रेखास्तिस्त्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे
विवाहव्यानद्धप्रगुणगुणसंख्याप्रतिभुवः।
विराजन्ते नानाविधमधुररागाकरभुवां
त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ६९, पृष्ठ १६१

अर्थात् – हे गति, गमक और गीत में निपुणे। तेरे गले में पड़ी हुई तीन रेखाएँ जो विवाह के समय बाँधी गई तीन सौभाग्य सूत्रों की लड़ियों से पड़ गई हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों वे नानाविध मधुर-राग-रागिनियों के तीनों ग्रामों पर गाने से उनके स्थिति नियम की सीमा के चिह्न हों।

उपर्युक्त छन्द की अन्तिम पंक्ति "त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते" में स्पष्ट रूप से उत्प्रेक्षा अलंकार के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। यहाँ "इव" शब्द का प्रयोग किया गया है जोकि उत्प्रेक्षा का लक्षण है।

उत्प्रेक्षा अलंकार से युक्त एक अन्य छन्द भी द्रष्टव्य है जोकि निम्नवत है –

यदेतत्कालिन्दीतनुतरतरङ्गाकृति शिवे
कृशेमध्ये किंचिज्जननि तव यद्भाति सुधियाम्।
विमर्दादन्योन्यं कुचकलशयोरन्तरगतं
तनुभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरिणीम्॥
– *सौन्दर्यलहरी,* श्लोक ७७, पृष्ठ २०९

प्रस्तुत छन्द में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है। इस छन्द की अन्तिम पंक्ति – "तनुभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरणीम" अर्थात् "आकाश तेरी नाभि के बिल में अथवा नाभि में सर्पिणी की तरह प्रवेश कर रहा है।" यहाँ "इव" शब्द का प्रयोग किया गया है। जोकि "उत्प्रेक्षा" का ही लक्षण है।

अतिशयोक्ति अलंकार

जहाँ पर उपमान के द्वारा "प्रकृत" अर्थात् उपमेय का प्रथम अनिर्देश करके उसके साथ कल्पित अभेद का निश्चय वर्णनीय का अन्य रूप से वर्णन "यदि" अर्थ वाले शब्दों का कथन करके असम्भव अर्थ की कल्पना और कार्य तथा कारण के पूर्वापर भाव का विपरीत होना वर्णित किया जाता है, वहाँ अतिशयोक्ति जानना चाहिए। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है –

निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥

कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा

– *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१००-१०१, पृष्ठ ४८२

उपरिलिखित भेद अतिशयोक्ति अलंकार के बताए गए हैं। *दुर्गासप्तशती* में कई श्लोकों में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग देखा जा सकता है जो कि निम्नवत् है –

शोणितौघा महानद्यः सद्यस्तत्र प्रसुस्रुवः।
मध्ये चासुरसैन्यस्य वारणासुरवाजिनाम् ॥

– अध्याय २, श्लोक ६६

उपर्युक्त श्लोक में उस समय का वर्णन है जबकि महादैत्य महिषासुर एवं देवी भगवती के मध्य महासंग्राम होता है। महादैत्य भी देवी से अपनी पूरी सेना के साथ युद्ध के लिए तत्पर हो जाता है। इसी युद्ध का वर्णन प्रस्तुत श्लोक में किया गया है कि –

दैत्यों की सेना में हाथी, घोड़े और असुरों के शरीरों से इतनी अधिक मात्रा में रक्तपात हुआ था कि थोड़ी ही देर में वहाँ खून की बड़ी-बड़ी नदियाँ बहने लगी।।

यहाँ इतना अधिक रक्तपात हुआ है कि खून की बड़ी-बड़ी नदियाँ बहने लगी इस वाक्य में स्पष्टरूपेण अतिशयोक्ति अलंकार के दर्शन हो रहे हैं।

उल्लेखालंकार

जहाँ एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण होता है, वहाँ उल्लेखालंकार होता है। एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण होने में निमित्त विशेष आवश्यक है। दृष्टि-दोष के कारण जहाँ एक वस्तु से अनेक प्रकार प्रतीति होती है, वह इस अलंकार का विषय नहीं है, उसमें अतिव्याप्ति वारण के लिए "निमित्तवशात्" कहा गया है, जहाँ एक वस्तु अनेक रूप में ग्रहीत होती है वहाँ रूप बाहुल्य का उल्लेख होता है, इसी कारण इस अलंकार का नाम उल्लेख अलंकार है। आचार्य "राजानक रुय्यक" के अनुसार उल्लेखालंकार को इस प्रकार परिभाषित किया गया है –

एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ॥

– अलङ्कार सर्वस्व, सू. २०, पृष्ठ १५८

दुर्गासप्तशती में अनेक स्थानों पर "उल्लेख अलंकार" का प्रयोग हुआ है। जिनमें से उदाहरण स्वरूप कुछ श्लोक निम्नवत् हैं –

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥

– अध्याय ५, श्लोक ९

अर्थात् – देवी को नमस्कार है, महादेवी शिवा को सर्वदा नमस्कार है। प्रकृति एवं भद्रा को प्रणाम है, हम लोग नियमपूर्वक जगदम्बा को नमस्कार करते हैं।

यहाँ एक ही देवी भगवती को अनेक रूप में दिखाया गया है यद्यपि कि वे सर्वसामर्थ्यवती देवी एक ही हैं। अतः यहाँ उल्लेखालंकार के दर्शन हो रहे हैं। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक भी दर्शनीय है-

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥

– अध्याय ४, श्लोक ५

अर्थात् – जो पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं ही लक्ष्मी रूप से, पापियों के यहाँ दरिद्रता रूप से, शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों के हृदय में बुद्धि रूप से, सत्पुरुषों में श्रद्धा रूप से तथा कुलीन मनुष्यों में लज्जा रूप से निवास करती है, उन आप भगवती दुर्गा को हम नमस्कार करते हैं। देवी! आप सम्पूर्ण विश्व का पालन कीजिए।

यहाँ भी देवी भगवती एक ही है फिर भी वे ही विभिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास करती है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार के दर्शन हो रहे हैं।

इसी प्रकार *सौन्दर्यलहरी* में आचार्य ने अपने किसी-किसी छन्द में उल्लेख अलंकार का प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप एक छन्द निम्नवत् है –

शिवे शृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गङ्गायां गिरिशचरिते विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुहसौभाग्यजननी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिस्सकरुणा ॥

– श्लोक ५१, पृष्ठ ५५

यहाँ प्रस्तुत छन्द में आचार्य ने देवी की दृष्टि की सौन्दर्यपरक स्तुति की है। यहाँ देवी की एक ही दृष्टि भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न रूप में है। कहीं शिव के लिए शृंगार भाव से युक्त है, तो कहीं गंगा पर रोष से युक्त है, कभी वही देवी की दृष्टि शिवजी के चरित्रों पर विस्मय प्रकट करने वाली है, तो कहीं वही दृष्टि भगवान् शिव के सर्पों से भयभीत है, तो कभी सखियों के प्रति मुस्कान से युक्त हो जाती है। साथ ही आचार्य कहते हैं कि हे देवी! आपकी वही दृष्टि मेरे ऊपर दया से युक्त है।

अतः प्रस्तुत छन्द में स्पष्ट रूप से "उल्लेख अलंकार" द्रष्टव्य है।

विभावना अलंकार

कारण का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति होने पर विभावना अलंकार होता है।

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥
हेतुरूपक्रियायाः निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना।
यथा-
कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्तते स्म नलिनीलहरीभिरलोलिताप्यघूर्णत सा ॥

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१०७ का पूर्वार्ध एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ ४९८

अर्थात् – खिली हुई लताओं से तड़ित न होने पर भी वह (नायिका) पीड़ा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमर कुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी और कमलिनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी चक्कर खा रही थी।

अतः उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट हो रहा है कि जहाँ कारणों के निषेध होने पर भी कार्य का सम्पादन हो रहा हो वहाँ "विभावना अलंकार" होता है।

दुर्गासप्तशती के कतिपय श्लोकों में "विभावना अलंकार" का प्रयोग दिखाई देता है। प्रस्तुत अलंकार से युक्त एक श्लोक निम्नवत् है –

सोऽपि शक्तिं मुमोचाथ देव्यास्तामम्बिका द्रुतम्।
हुंकाराभिहितां भूमौ पातयामास निष्प्रभाम् ॥

— *दुर्गासप्तशती,* अध्याय ३, श्लोक १२

प्रस्तुत श्लोक में उस समय का वर्णन है जबकि देवी महिषासुर के सेनापति का वध कर देती है तदनन्तर "चामर" नामक महादैत्य देवी से युद्ध करने आता है जिसे देवी बिना अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के ही अपनी हुंकार मात्र से नष्ट कर देती है।

अतः यहाँ चामर के वध में किसी भी प्रकार के अस्त्रादि का निषेध है। जबकि उसका वध देवी के हुंकार मात्र से हो गया है। अतः यहाँ स्पष्टरूपेण "विभावना अलंकार" के दर्शन हो रहे हैं।

इस प्रकार *सौन्दर्यलहरी* में "विभावना अलंकार" से युक्त छन्द निम्नवत् है –

अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकुतुपौ
न सन्देहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः।
पिबन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसङ्गरसिकौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदनक्रौञ्चदलनौ ॥

— श्लोक ७३, पृष्ठ १८५

अर्थात् – हे पर्वतराज हिमाचल की पताका सदृश पुत्री! अमृत-रस से भरे माणिक्य के बने कलशों के सदृश तेरे स्तनों को देखकर हमारे मन में सन्देह का स्पन्दन भी नहीं होता है, क्योंकि तेरे स्तनों का ऐसा प्रभाव है कि जिनका दुग्धपान करने से गणेशजी और स्कन्द आज भी कुमार ही हैं।

यहाँ स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि देवी के स्तनों को देखकर किसी भक्त (व्यक्ति) में काम-भावना का स्पन्दन नहीं हो सकता है (जबकि स्त्रियों के स्तनों से काम-भावना का स्पन्दन सम्भव हो सकता है) इसी का यह प्रभाव है कि देवी का दुग्धपान करने पर गणेशजी ऋद्धि-सिद्धि पत्नियों के होने पर भी नित्य-नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही हैं। अतः यहाँ स्पष्टरूपेण यह दिखाई दे रहा है कि कारण के होने पर भी कार्य का निषेध हो रहा है। अतः उपर्युक्त छन्द "विभावना अलंकार" से युक्त है।

उपर्युक्त विवेचित अलंकारों के अतिरिक्त कुछ ऐसे अलंकार हैं जो *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* में से किसी एक में प्राप्त होते हैं। इनमें निम्नवत् अलंकार प्रमुख हैं –

- विशेषोक्ति अलंकार।
- अधिक अलंकार।

- उदाहरणालंकार।
- अतद्गुणालंकार।
- व्याघात अलंकार।
- उदात्त अलंकार।
- परिकर अलंकार।
- भाविक अलंकार।
- व्यतिरेक अलंकार।
- भ्रान्तिमान तथा मालोपमा अलंकार

यहाँ पर इन अलंकारों का ग्रन्थानुसार विवेचन प्रस्तुत है –

दुर्गासप्तशती में प्राप्त होने वाले अन्य अलंकार

विशेषोक्ति अलंकार

विशेषोक्ति अलंकार विरोधमूलक अलंकार माना गया है इसका लक्षण निम्न प्रकार से है –

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः।अनुक्तनिमित्ता उक्तनिमित्ता *अचिन्त्यनिमित्ता* च।

– *काव्यप्रकाश,* कारिका १०७ का पूर्वार्ध एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ ४९८

अर्थात् – सम्पूर्ण कारणों के होने पर फल का न कहना विशेषोक्ति है। कारणों के एकत्र होने पर भी कार्य का कथन न करना विशेषोक्ति होती है। वह (१) अनुक्तनिमित्ता, (२) उक्तनिमित्ता, (३) अचिन्त्यनिमित्ता तीन प्रकार की होती है।

दुर्गासप्तशती के कुछ श्लोकों में इस अलंकार के दर्शन होते हैं जोकि निम्नवत् हैं –

लीलयैव प्रचिच्छेद निजशस्त्रास्त्रवर्षिणी।
अनायस्तानना देवी स्तूयमाना सुरर्षिभिः॥

– अध्याय २, श्लोक ५०

अर्थात् – देवी के क्रोध से युक्त होकर खेल-खेल में ही अपने अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करके दैत्यों के वे समस्त अस्त्र-शस्त्र काट डाले। उनके मुख पर परिश्रम या थकावट का रंचमात्र भी चिह्न नहीं था, देवता और ऋषि उनकी (देवी की) स्तुति करते रहे और वे देवी भगवती परमेश्वरी दैत्यों के शरीरों पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करती रही।

यहाँ एक कथन कि "देवी के मुख पर परिश्रम या थकावट का रंचमात्र भी चिह्न नहीं था" विशेषोक्ति है। क्योंकि यहाँ क्रोध एवं अस्त्र-शस्त्रों को चलाने पर थकावट आदि का होना स्वाभाविक है जिसका कि पूर्णतः अभाव है। यहाँ समस्त कारण (अस्त्र-शस्त्रों को चलाना, आदि) के होने पर भी कार्य (अर्थात् परिश्रम एवं थकान) का अभाव है। अतः यहाँ स्पष्टरूपेण "विशेषोक्ति अलंकार" दृष्टिगत हो रहा है। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक भी निम्नवत् है --

दृष्ट्वा तु देवि कुपितं भ्रुकुटीकराल-
मुद्यच्छशाङ्कसदृशच्छवि यन्न सद्यः।
प्राणान्मुमोच महिषस्तदतीव चित्रं
कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन॥

– अध्याय ४, श्लोक १३

अर्थात् – देवी! वही मुख जब क्रोध से युक्त होने पर उदयकाल के चन्द्रमा की भाँति लाल और तनी हुई भौहों के कारण विकराल हो उठा, तब उसे देखकर जो महिषासुर के प्राण तुरन्त नहीं निकल गए, यह उससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात है, क्योंकि क्रोध में भरे हए यमराज को देखकर भला कौन जीवित रह सकता है।

अतः उपर्युक्त श्लोक में भी समस्त कारणों के होने पर भी कार्य का सम्पादन नहीं हो रहा है अर्थात् देवी के अत्यन्त भयंकर स्वरूप को देखकर महिषासुर का प्राणान्त हो जाना चाहिए था जोकि नहीं होता है। अतः यहाँ भी स्पष्ट रूप से विशेषोक्ति अलंकार के लक्षण दृष्टिगत हो रहे हैं।

अधिक अलंकार

महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्॥

– *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१२८, पृष्ठ ५३८

आश्रित अर्थात् आधेय और आश्रय अर्थात् उसका आधार। उन दोनों के महान् होने पर भी उनकी अपेक्षा छोटे भी आधार तथा आधेय प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष को कहने की इच्छा से जो अधिक करके वर्णित किए जाते हैं वह अधिक अलंकार दो प्रकार का होता है। दोनों के उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं –

अहो विशालं भूपाल! भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्या सविकाशमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः॥

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१२८ का वृत्ति, पृष्ठ ५३८

यहाँ प्रस्तुत प्रथम उदाहरण में यशोराशि आधेय है, उसकी अपेक्षा उसका आधार "भुवनत्रिययोदर" छोटा है। अतः यहाँ "अधिक अलंकार" का "आश्रय-लाघव" रूप प्रथम भेद है।

इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में प्रसन्नता आधेय की आधारभूत कृष्णदेह की अपेक्षा अल्प होने पर भी उसके उत्कर्ष प्रदर्शन के लिए उसके आधिक्य का वर्णन किया गया है, अतः यह "अधिक अलंकार" के "आधेय लाघव" रूप दूसरे भेद का उदाहरण है। *दुर्गासप्तशती* में "अधिक अलंकार" के प्रयोग से युक्त श्लोक निम्नलिखित है —

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

— अध्याय २, श्लोक १३

अर्थात् — सम्पूर्ण देवताओं के शरीर से प्रकट हुए उस तेज की कहीं तुलना नहीं थी। एकत्रित होने पर वह एक नारी के रूप में परिणत हो गया और अपने प्रकाश से तीनों लोकों में व्याप्त जान पड़ा।

अतः यहाँ स्पष्ट रूप से श्लोक में एक बार कहा गया है कि उस प्रकट हुए तेज की कहीं तुलना नहीं थी साथ ही यह भी कहा गया है कि वह प्रकाश तीनों लोकों में व्याप्त सा प्रतीत हुआ। यद्यपि वह प्रकाश तीनों लोकों में समाहित होने वाला नहीं है फिर भी वह समाहित सा प्रतीत हुआ। यहाँ आधार के न्यून होने तथा आधेय के विशाल होने पर भी वह उसमें समाहित हो गया। अतः यहाँ "अधिक अलंकार" का प्रयोग हुआ है। एक अन्य उदाहरण भी निम्नलिखित है —

अमायतातिमहता प्रतिशब्दो महानभूत्।
चुक्षुभुः सकला लोकाः समुद्राश्च चकम्पिरे॥

— अध्याय २, श्लोक ३३

अर्थात् — देवी का वह अत्यन्त उच्च स्वर से किया हुआ सिंहनाद कहीं समा न सका आकाश उसके सामने लघु प्रतीत होने लगा। उससे बड़े

जोर की प्रतिध्वनि हुई जिससे सम्पूर्ण विश्व में हलचल मच गई और समुद्र काँप उठे।

अतः उपर्युक्त श्लोक में भी आधेय को आधार की अपेक्षा बड़ा दिखाया गया है जबकि आधार लघु प्रतीत हो रहा है। अतः इस श्लोक में भी "अधिक अलंकार" के लक्षण दृष्टिगत हो रहे हैं।

अतद्गुण अलंकार

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः।

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १३८ का पूर्वार्ध, पृष्ठ ५५१

"अतद्गुण" अलंकार वस्तुतः "तद्गुण" अलंकार का ठीक विपरीत है। "अतद्गुण" वहाँ होता है जबकि अत्यन्त उत्कृष्ट गुण वाली समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी न्यून गुण वाली वस्तु उत्कृष्ट वस्तु के गुण को ग्रहण न करे वहाँ "अतद्गुण" अलंकार होता है।

दुर्गासप्तशती के निम्नलिखित श्लोक में "अतद्गुण" अलंकार के लक्षण स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहे हैं —

हेतुः समस्तजगतां त्रिगुणापि दोषै-
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या॥

— अध्याय ४, श्लोक ७

अर्थात् — आप सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति में कारण हैं। आप में सत्त्व गुण, रजो गुण और तमो गुण — ये तीनों ही गुण मौजूद हैं; तो भी दोषों के साथ आपका संसर्ग नहीं जान पड़ता।

अतः यहाँ सर्वशक्तिशालिनी देवी के सान्निध्य में तीनों ही गुण (सत्त्व गुण, रजो गुण तथा तमो गुण) रहते हैं फिर भी देवी को किसी एक गुण की अधिष्ठात्री नहीं माना जा सकता है। साथ ही तीनों गुणों का अस्तित्व भी अलग-अलग रहता है।

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक में "अतद्गुण" अलंकार के लक्षण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

व्याघात अलंकार

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१३८ का उत्तरार्ध
तथा १०.१३९ का पूर्वार्ध, पृष्ठ ५५२

अर्थात् — जिस उपाय से एक व्यक्ति ने जिस कार्य को बनाया हो उसको जीतने की इच्छा से दूसरा व्यक्ति उसी उपाय से उसे बदल डाले वह सिद्ध की हुई वस्तु के व्याघात का हेतु होने से "व्याघात अलंकार" कहलाता है।

दुर्गासप्तशती के कुछ श्लोकों में प्रस्तुत अलंकार के दर्शन होते हैं। निम्नलिखित श्लोक में "व्याघात" अलंकार के दर्शन हो रहे हैं —

ईषत्सहासममलं परिपूर्णचन्द्र-
बिम्बानुकारि कनकोत्तमकान्तिकान्तम्।
अत्युद्भुतं प्रहृतमात्तरुषा तथापि
वक्त्रं विलोक्य सहसा महिषासुरेण॥

— अध्याय ४, श्लोक १२

अर्थात् — हे देवी! आपका मुख मन्द मुस्कान से सुशोभित, निर्मल, पूर्ण चन्द्रमा के बिम्ब का अनुकरण करने वाला है (अर्थात् सामान्य जनों को आनन्द, प्रसन्नता प्रदान करने वाला है) जबकि उसी मुख को देखकर महिषासुर को क्रोध हुआ और सहसा उसने उन पर प्रहार कर दिया, यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

अतः यहाँ स्पष्ट है कि देवी के मुस्कान से युक्त जिस मुख को देखकर ज्ञानी मनुष्यों एवं सामान्य जनों को आनन्द की प्राप्ति होती है वहीं महिषासुर राक्षस देवी के मुस्कान से युक्त मुख को देखकर सहसा क्रोध करने लगता है और देवी से युद्ध हेतु तत्पर हो जाता है।

भाविक अलंकार

अतीत और अनागत पदार्थ (भावनावश कवि के द्वारा) जो प्रत्यक्ष से कराए जाते हैं उसको भाविक अलंकार कहते हैं।

प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः तद्भाविकम्।

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.११४, पृष्ठ ५०९

यहाँ भाव अर्थात् कवि का (अतीत अनागत को भी प्रत्यक्षवत् दिखाने का) अभिप्राय है इसीलिए इसे भाविक अलंकार कहा गया है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत है —

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम्॥

— तदेव, कारिका १०.११४ का वृत्ति भाग, पृष्ठ ५०९

यहाँ पूर्वार्द्ध में अतीत का और उत्तरार्द्ध में अनागत का दर्शन है। *दुर्गासप्तशती* में "भाविक" अलंकार से युक्त श्लोक निम्नवत् है —

यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥

— अध्याय ५, श्लोक १२०

अर्थात् — जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, जो मेरे अभिमान को चूर्ण कर देगा तथा संसार में जो मेरे समान बलवान् होगा, "वही मेरा स्वामी होगा।"

उदात्त अलंकार

वस्तु की समृद्धि का वर्णन, उदात्त अलंकार कहलाता है —

उदात्तं वस्तुनः सम्पत्।
सम्पत् समृद्धियोगः॥
यथा
मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद्दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुकाः
यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्॥

— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१७५ के द्वितीय चरण
वृत्ति भाग, पृष्ठ ५१४

उपरिलिखित श्लोक में भवनों की समृद्धि का वर्णन किया गया है। *दुर्गासप्तशती* के कुछ श्लोक उदात्त अलंकार से युक्त हैं जिनका उल्लेख निम्नवत् है —

ते सम्मता जनपदेषु धनानि तेषां
तेषां यशांसि न च सीदति धर्मवर्गः।

धन्यास्त एव निभृतात्मजभृत्यदारा
येषां सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना॥
— अध्याय ४, श्लोक १५

अर्थात् — सदा अभ्युदय प्रदान करने वाली आप जिन पर प्रसन्न रहती हैं, वे ही देश में सम्मानित हैं, उन्हीं को धन और यश की प्राप्ति होती है, उन्हीं का धर्म कभी शिथिल नहीं होता तथा वे ही अपने हृष्ट-पुष्ट स्त्री, पुत्र और भृत्यों के साथ धन्य माने जाते हैं।

अतः प्रस्तुत श्लोक में भी वैभव, समृद्धि, आदि का वर्णन आता है साथ ही यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि यह वैभव आदि किस प्रकार से अर्जित होता है। यहाँ देवी के वैभव का वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि जो मनुष्य देवी का ध्यान आदि करता है, देवी के सानिध्य में रहता है। वह मनुष्य अथवा देवता भी वैभवसम्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक भी उल्लेखनीय है —

धर्म्याणि देवि सकलानि सदैव कर्मा-
ण्यत्यादृतः प्रतिदिनं सुकृती करोति।
स्वर्गं प्रयाति च ततो भवतीप्रसादा-
ल्लोकत्रयेऽपि फलदा ननु देवि तेन॥
— अध्याय ४, श्लोक १६

अर्थात् — हे देवी! आपकी ही कृपा से पुण्यात्मा पुरुष प्रतिदिन अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सदा सब प्रकार के धर्मानुकूल कर्म करता है और उसके प्रभाव से स्वर्गलोक में जाता है, इसीलिए आप तीनों लोकों में निश्चय ही मनोवांछित फल प्रदान करने वाली हो।

इस श्लोक में भी देवी के सामर्थ्यादि का वर्णन किया गया है। अतः यहाँ भी "उदात्त अलंकार" का समावेश है।

परिकर अलंकार

अभिप्राययुक्त विशेषणों के द्वारा जब किसी बात का कथन किया जाता है तो वहाँ परिकर अलंकार होता है।

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।
— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.११८ के पूर्वार्ध, पृष्ठ ५२३

अर्थात् — विशेष्य का साभिप्राय विशेषणों से कथन करना परिकरालंकार कहलाता है। यथा —

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥
— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.११९ के पूर्वार्ध का वृत्ति भाग, पृष्ठ ५२३

अर्थात् — महाबलशाली, आत्मगौरव की भावना से युक्त, धन से सत्कृत, न मिले हुए और न परस्पर विरोधी, युद्ध में लब्धकीर्ति धनुर्धारी अपने प्राणों के बलिदान से भी दुर्योधन के अभीष्ट को सिद्ध करना चाहते हैं। अतः यहाँ "परिकर अलंकार" की पुष्टि हो रही है।

दुर्गासप्तशती में भी निम्नलिखित कुछ श्लोकों में परिकर अलंकार दृष्टिगत हो रहा है —

रौद्रायै नमो नित्यायै गौर्यै धात्र्यै नमो नमः।
ज्योत्स्नायै चेन्दुरूपिण्यै सुखायै सततं नमः॥

कल्याण्यै प्रणतां वृद्ध्यै सिद्ध्यै कुर्मो नमो नमः।
नैर्ऋत्यै भूभृतां लक्ष्म्यै शर्वाण्यै ते नमो नमः॥
— अध्याय ५, श्लोक १०, ११

उपरिलिखित श्लोकों में देवी को अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। अतः उपरोक्त श्लोकों में परिकर अलंकार के लक्षण स्पष्टरूपेण दृष्टिगत हो रहे हैं।

सौन्दर्यलहरी में प्राप्त होने वाले अन्य अलंकार

व्यतिरेक अलंकार

उपमान से अन्य अर्थात् उपमेय का जो आधिक्य का वर्णन है वही "व्यतिरेक अलंकार" है।

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

उदाहरणार्थ —

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि! यौवनमनिवर्ति यातं तु॥
— *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१०५ का पूर्वार्ध एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ ४९१

सौन्दर्यलहरी के कुछ छन्दों में "व्यतिरेक अलंकार" के लक्षण दृष्टिगत होते हैं उनमें से कुछ निम्नवत् हैं –

प्रकृत्यारक्तायास्तव सुदति दन्तच्छदरुचेः
प्रवक्ष्ये सादृश्यं जनयतु फलं विद्रुमलता।
न बिम्बं तद्बिम्बप्रतिफलनरागादरुणितं।
तुलामध्यारोढुं कथमिव विलज्जेत कलया॥
– श्लोक ६२, पृष्ठ १२३

यहाँ उपर्युक्त श्लोक में देवी के ओष्ठ (उपमेय) के सम्मुख मूँगा और बिम्बफल (उपमानों) में हीनता (अपकर्ष) का वर्णन हुआ है। अतः यहाँ 'व्यतिरेक अलंकार' है। इसी प्रकार कुछ अन्य श्लोक हैं, जिनमें कि देवी की वाणी आदि की प्रशंसा की गई है। अतः यहाँ भी व्यतिरेक अलंकार के लक्षण स्पष्टतः देखे जा सकते हैं।[३]

भ्रान्तिमान अलंकार

अन्य अप्राकरणिक वस्तु के समान प्राकरणिक वस्तु के देखने पर जो अन्य वस्तु अप्राकरणिक का मान होता है वह भ्रान्तिमान अलंकार कहलाता है –

भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने॥

उदाहरणार्थ –

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रपोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति॥
– *काव्यप्रकाश,* कारिका १०.१३२ का उत्तरार्ध एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ ५४३-४४

'भ्रान्तिमान् अलंकार' से युक्त *सौन्दर्यलहरी* के कुछ छन्द निम्नलिखित हैं –

समं देवि स्कन्दद्विपवदनपीतं स्तनयुगं
तवेदं नः खेदं हरतु सततं प्रस्नुतमुखम्।

---

३. *सौन्दर्यलहरी* के श्लोक ६६, ७१ तथा ८७ द्रष्टव्य हैं।

यदालोक्याशङ्काकुलितहृदयो हासजनकः
स्वकुम्भौ हेरम्बः परिमृशति हस्तेन झटिति॥
– श्लोक ७२, पृष्ठ १८०

उपर्युक्त श्लोक में यहाँ स्पष्टरूपेण यह दिखाया गया है कि कोई भी शिशु जब दुग्धपान करता है उस समय वह माता के स्तनों को हाथ से पकड़कर दुग्धपान करता है, परन्तु जब गणेशजी माता पार्वती का स्तनपान कर रहे हैं तो गलती से (भ्रमवश) स्तन को न पकड़कर अपितु अपने सिर को ही पकड़ने लगते हैं। यहाँ वस्तुतः "भ्रान्तिमान अलंकार" की पुष्टि हो रही है।

अतः उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों महर्षियों ने अपने ग्रन्थों में जो अवधारणा प्रस्तुत की है उस प्रस्तुति में जब कल्पना का विनियोग हुआ है तब रस, रीति, अलंकार के रस बरसाते मेघ हृदयाकाश में दिखने लगते हैं। मूलतः यहाँ रसानुभूति ही महत्त्वपूर्ण है किन्तु रसानुभूति के उपक्रम में जो प्रक्रियाऐं की गयी हैं उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

अतएव रीति और अलंकार भी विवेचन के विषय बन जाते हैं। इन ग्रन्थों में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रभूत सामग्री है जिससे इन ग्रन्थों की साहित्यिकता भी देदीप्यमान हो उठती है।

अष्टम परिच्छेद

काव्यशास्त्र भिन्न सौन्दर्यतत्त्वाश्रित समीक्षा

कला, संगीत एवं अन्य तत्त्वों की दृष्टि से विश्लेषण

सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्व

सौन्दर्यशास्त्र के लिए पाश्चात्य जगत् में "ऐस्थेटिक्स" शब्द का प्रयोग हुआ है। जोकि यूनानी परम्परा से आया है। इस शब्द का अर्थ है – "सौन्दर्यबोध" अनुभूति अथवा उपलब्धि। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु को देखकर मनुष्य में जो प्रसन्नता अथवा आह्लाद की अनुभूति होती है, वह ही सौन्दर्यशास्त्र है। सौन्दर्यानुभूति का अन्ततः आध्यात्मिक अनुभूति की श्रेणी में अन्तर्भाव होता है। सौन्दर्यशास्त्र को स्वतन्त्र कलाशास्त्र भी कहते हैं। सौन्दर्यशास्त्र को जानने से पूर्व "सौन्दर्य" क्या है यह जानना आवश्यक है।

सौन्दर्य शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में आँग्ल शब्द "ब्यूटी (beauty)" का पर्याय है। इस प्रकार से ब्यूटी शब्द का अर्थ है रसिकभाव, रसिकता अथवा शृंगारि-पुरुष-गुण। फ्रांसीसी भाषा में इसका समानार्थक शब्द "बैल" हुआ; लातीनी भाषा में "पुलक्रुम"; यूनानी भाषा में "कलोस" तथा रूसी भाषा में "क्रसोता" शब्द प्राप्त होता है।[१] सौन्दर्य शब्द के दो आधार हैं। पहला – प्रकृति, दूसरा – कला। इस प्रकार से सौन्दर्य के चार स्तर होते हैं – शारीरिक सौन्दर्य, मानसिक सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य, प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। प्रज्ञात्मक सौन्दर्य ही वस्तुतःचिर सौन्दर्य है।[२]

सौन्दर्यशास्त्र निश्चय ही ऐन्द्रिय संवेदनाओं का विज्ञान है जिसका लक्ष्य सौन्दर्य है। तत्त्वमीमांसा मनोविज्ञान भी सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। भारतीय आचार्यों ने सौन्दर्यशास्त्र के रूप में रस को काव्य सौन्दर्य शैव अद्वैत के रूप में, वेदान्त के रूप में, सांख्य और न्याय के रूप में, मीमांसा के रूप में, वैष्णव भक्ति सिद्धान्त के रूप में प्रचुरता के साथ उपयोग किया है।

---

१. *भारतीय सौन्दर्यशास्त्रावतार*, पृ. २६।

२. तत्रैव।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र – एक परिचय

भारतीय दृष्टिकोण से सौन्दर्यशास्त्र (स्वतन्त्र कलाशास्त्र) स्वतन्त्र कलाओं का तात्त्विक विवेचन है। भारतीय कला सौन्दर्य में कलाओं का सर्वप्रथम विभाजन *कामशास्त्र* के लेखक वात्स्यायन के पूर्व वभ्रु के पुत्र पांचाल ने "मूल" एवं "अन्तर" के रूप में किया था। तदोपरान्त महामुनि भरत (*नाट्यशास्त्र* के रचयिता) ने कलाओं को "मुख्य" और "गौण" दो रूपों में स्वीकार किया। तदनन्तर भारतीय आध्यात्मवादी चिन्तकों ने कलाओं का विभाजन "स्वतंत्र" तथा "आश्रित" अथवा "उपयोगिनी" दो रूपों में किया। इस विभाजन के अनुसार स्वतन्त्र कलाएँ वे हैं, जो परब्रह्म अथवा परम तत्त्व को ऐसे इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य रूप में अनुभवकर्त्ता के सामने उपस्थित करती है कि सहृदय व्यक्ति को परब्रह्म के सत्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो जाता है तथा उपयोगिनी अथवा आश्रित कलाएँ वे हैं, जो मानव जाति के उपयोग में आने वाली विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न कर उसकी सुखवृद्धि में सहायक होती हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विभाजन के आधार पर भारतीयों की दृष्टि से स्वतन्त्र कलाएँ तीन प्रकार की मानी गई हैं।

१. *प्रथम* – काव्य कला (जिसमें नाट्यकला भी सम्मिलित है)।

२. *द्वितीय* – संगीत-कला।

३. *तृतीय* – वास्तु कला।

इन्हीं कलाओं के आधार पर इन्द्रिय ग्राह्य रूप के उपस्थापन द्वारा उसके सत्य स्वरूप की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है। भारतीय कला-विषयक आचार्यों ने काव्य, संगीत एवं वास्तु कलाओं में ही ऐसी कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति मानी है जो कि परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में प्रदर्शित कर सहृदय की परतत्त्व के सत्य का अनुभव करा सकती है।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय महोदय ने अपने ग्रन्थ में सौन्दर्यशास्त्र का विस्तृत प्रयोग स्वतन्त्र कलाओं के रूप में किया है। उनके अनुसार स्वतन्त्र कलाशास्त्र (सौन्दर्यशास्त्र) स्वतन्त्र कलाओं का विज्ञान एवं दर्शन है। स्वतन्त्र कलाओं की दार्शनिक व्याख्या देते हुए कहा है कि –

> स्वतन्त्र कलाएँ वे कलाएँ है, जिनकी कृतियाँ परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में इस प्रकार से उपस्थित करती हैं कि वे आवश्यक मानसिक दबावों से युक्त सहृदय कला-रसिकों के लिए ब्रह्मानन्द प्राप्ति का समुचित साधन बन जाती है।

सौन्दर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र का तत्त्वमीमांसा अथवा मनोविज्ञान का पर्याय नहीं माना जाता है। काव्यशास्त्र को सौन्दर्यशास्त्र के निकट माना गया है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय महोदय ने सौन्दर्यशास्त्र के लिए स्वतन्त्र कलाशास्त्र का प्रयोग किया है। भारतीय सौन्दर्य दृष्टि यूनानी दृष्टि से कहीं अधिक ऊँचाइयों का स्पर्श करती हुई अपूर्व के साथ सौन्दर्य बोध को प्राप्त करती है।

वामनाचार्य अपने शास्त्र में सौन्दर्य शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि –

काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्! सौन्दर्यमलङ्कारः।

– *काव्यालङ्कारसूत्राणि*, १.१.१.२, पृष्ठ ३,६

अतः यहाँ प्रयुक्त सौन्दर्य शब्द अलंकार आश्रित सौन्दर्य को विशेष रूप से परिभाषित करता है। *ध्वन्यालोक* में आचार्य आनन्दवर्धन के काव्य के शिखर रूप में सौन्दर्य को इस प्रकार बताया है –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥

– *ध्वन्यालोक*, १.१, पृष्ठ ८

इससे विदित होता है कि काल का शिखर भूत तत्त्व जिन आचार्यों के द्वारा वस्तु अलंकार और रस रूप में प्रयोग किया गया है वे ही आचार्य इन तीनों तत्त्वों में से रस को ही शिखर रूप में मानते हैं। इसी कथन को श्रीअभिनवगुप्तपादाचार्य "आदि-मंगल-कारिका" में कहते हैं –

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति बिना कारणकलां
जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्याप्रसरसुभगं भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥

– *ध्वन्यालोक*, लोचन मङ्गलाचरण, पृष्ठ १

यहाँ लोचनकार ने भी रस की प्रधानता को सिद्ध किया है। इस प्रकार से कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस ही प्रमुख सौन्दर्य तत्त्व है। क्योंकि "आचार्य मम्मट" ने भी रस की प्रधानता को बताते हुए कहा है कि –

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
दोषागुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते।

क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु
स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वंवहानिः।

– *काव्यप्रकाश*, कारिका १४ का पूर्वार्ध एवं उसकी वृत्ति, पृष्ठ १

सौन्दर्य के लिए पण्डितराज जगन्नाथ ने "रमणीयता" शब्द का प्रयोग किया है –

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

– *रसगंगाधर* प्रथमाननम्

पण्डितराज जगन्नाथ के "रमणीयता" के इस विचार-क्रम में श्री शंकुक, भट्टनायक, कुन्तक, आदि आ जाते हैं।

डॉ. नगेन्द्र कहते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं जैसे – रस, चमत्कार, ध्वनि प्रतीयमानार्थ, अलंकार वक्रता, इत्यादि। इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों की दृष्टि नितान्त भाववादिनी है जो कि आनन्ददायिनी भी है। सौन्दर्य भाव का जो आस्वाद अथवा अनुसंधान है, उसका नाम "चमत्कार" है।[३]

डॉ. कान्तिचन्द्र महोदय के मत में सौन्दर्यशास्त्र का सर्वांगीण परिचय केवल काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के रूप में नहीं है। उन्होंने अन्य कलाओं को भी सौन्दर्यशास्त्र के अंग के रूप में स्वीकार किया है। ये कलाएँ हैं – चित्रकला, संगीत कला, स्थापत्य, कामशास्त्र कला, इत्यादि। इन समस्त कलाओं का वर्णन डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र (स्वतन्त्र कलाशास्त्र)

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र के लिए (स्वतन्त्र कलाशास्त्र) "ऐस्थेटिक्स" शब्द यूनानी भाषा से लिया गया है। यूनानी भाषा में मूल शब्द "एसथिटिकोस" है, जिसका अर्थ है – "इन्द्रियगोचर वस्तुओं से सम्बन्धित" अर्थात् अभौतिक मनोमात्र-ग्राह्य वस्तुओं से भिन्न उन भौतिक वस्तुओं से सम्बन्धित जिनका ज्ञान हमें इन्द्रियों से हो सकता है। – स्वतन्त्रकलाशास्त्र द्वितीय भाग (पाश्चात्य), पृष्ठ ३

सौन्दर्य कलाशास्त्र के सिद्धान्तों का विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न चिन्तकों ने अनेक दृष्टिकोणों से सौन्दर्य के अध्ययन के आधार पर किया है। कला-विषयक प्राचीनतम सिद्धान्त निम्नवत् हैं –

---

३. *भारतीय सौन्दर्यशास्त्रावतार*, पृ. १०२।

कला के लक्ष्य के दृष्टिकोण से अर्थात् कलाकृति के उद्देश्य के दृष्टिकोण से प्रतिपादित किए गए हैं –

१. कला इन्द्रिय सुख का साधन है।

२. कला दृढ़ नियन्त्रित चरित्रोन्नायक इन्द्रिय सुख का साधन है।

३. कला का लक्ष्य उपदेश देना अथवा चरित्र का उन्नयन है।

पुनः कलाकारों के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र कलाशास्त्र के सिद्धान्त निम्नवत् हैं –

१. अनुकृति।

२. भ्रान्ति।

३. आदर्शीकृत का प्रतिनिरूपण।

पुनः दर्शक के दृष्टिकोण से कला निरूपण –

१. अस्फुट ज्ञान।

२. अनुमान।

३. अध्यात्मवाद।

यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि दर्शक में कलाजनित बोध का क्या स्वरूप है। पाश्चात्य देशों में स्वतन्त्र कलाशास्त्र के उपर्युक्त सिद्धान्तों की स्थापना – वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य एवं नाट्य कलाओं के आधार पर करते हैं। जबकि भारतवर्ष में कला-विषयक सिद्धान्तों की स्थापना प्रधान रूप से नाट्यकला के आधार पर करते हैं।

वस्तुतः कला-सिद्धान्त-विषयक प्राचीनतम ग्रन्थ *नाट्यशास्त्र* के लेखक भरतमुनि ने अन्य समस्त कलाओं को नाट्यकला के अधीन माना है। भरतमुनि के अनुसार ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, ऐसी कोई शिल्प नहीं है, ऐसी कोई विद्या नहीं है, ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसा कोई योग नहीं है और ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसका उपयोग किसी-न-किसी अवसर पर नाट्य-प्रदर्शन में न किया जाता हो। जबकि संगीत तथा वास्तु कलाओं के शास्त्रकारों ने यह प्रतिपादित किया है कि कलाजन्य अनुभव को उत्पन्न करने में संगीत तथा वास्तु दो कलाएँ स्वतन्त्र हैं। फिर भी संगीत एवं वास्तु-कला-विषयक ग्रन्थों में जो कला के भाव-पक्ष की व्याख्या की गई है, उन पर (उन व्याख्यानों पर) आचार्य भरतमुनि प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी प्रभाव दिखाई देता है।

पाश्चात्य विद्वानों के विचार सौन्दर्य तत्त्वानुशीलन के विषय में भारतीयों की अपेक्षा बहुत भिन्न है। सुकरात महोदय सभी ज्ञान से सम्बन्धित विषयों

जिसमें काव्य भी आ जाता है तथा आत्मप्रेरणाश्रित नैतिकता तथा सदाचार को तत्त्व स्वरूप में स्वीकार करते हैं।

प्लेटो महोदय विविध ज्ञान विषयों के चिन्तन में रत कला विचार के संदर्भ में कवियों की तार्किक भावना के प्रकाशन की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। कला प्रकाशन के लिए वह दिव्य प्रेरणा को मुख्य मानते हैं।

हेगेल ने अपने ग्रन्थ *फिलॉसफी ऑफ फाइन आर्ट* में मूर्ति-रचना कला और चित्रांकन कला को स्वतन्त्र कलाएँ माना है। जबकि भारतीय कलाशास्त्रियों को यह मान्य नहीं है। वे उनको वास्तु-कला के ही अधीन मानते हैं। अतः भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्र कलाओं की संख्या तीन है। काव्य, संगीत तथा वास्तु-कला। जबकि हेगेल के अनुसार स्वतंत्र कलाएँ पाँच हैं।

हेगेल के अनुसार "ऐस्थेटिक्स" शब्द का अर्थ "ललित कलाओं का दर्शन" है। लोक-प्रचलित रूप में इसका अर्थ सामान्यतया सौन्दर्य-विषयक मत है – चाहे वह सौन्दर्य कलागत हो, या प्रकृतिगत हो। जैसाकि डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भारतीय मत में "ऐस्थेटिक्स" का अर्थ – "स्वतन्त्र कलाओं का दर्शन और विज्ञान है" स्वतन्त्र कलाओं का विज्ञान इसीलिए कहते हैं क्योंकि कला की समस्या आरम्भ में कलाकृति के रचना-विधान की समस्या थी। जिन ग्रन्थों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय "कला" का दार्शनिक विवेचन है। उसमें मुख्यतः रचना-विधान की ही चर्चा की गई है। साथ ही दार्शनिक विवेचन का उससे घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

स्वतन्त्र कलाओं का दर्शन इसीलिए कहा गया है क्योंकि कला से जो अनुभव सहृदय को प्राप्त होता है। उसकी व्याख्या भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न मतों के आधार पर की गई है। उसका एक कारण यह भी है कि – काव्य, संगीत एवं वास्तु कलाओं के प्रामाणिक आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि तीनों कलाएँ उनसे प्रतिपादित परब्रह्म के स्वरूप को प्रकट करती हैं। अतएव कलादर्शन के तीन सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ।

१. रसब्रह्मवाद।

२. नादब्रह्मवाद।

३. वास्तुब्रह्मवाद।

अतः इस प्रसंग में स्वतन्त्र "कला" शब्द का इसलिए प्रयोग किया गया है क्योंकि प्रतिपाद्यमान सिद्धान्त के अनुसार स्वतन्त्र कलाओं का एक निजी स्वतन्त्र महत्त्व है, जिसके कारण इनकी कृतियों में ऐसा अनुभव प्राप्त होता है जोकि स्वभावतः किसी भी वस्तु से उस समय तक प्राप्त नहीं है जब तक

कि उसे कला के स्वरूप में न देखा जाए। ज्ञातव्य है कि "उपयोगिनी" अथवा "यान्त्रिक कलाएँ" स्वतन्त्र कलाओं से भिन्न हैं एवं दार्शनिक विवेचन की विषय-वस्तु केवल स्वतन्त्र कलाएँ ही हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संसार की कोई आनन्दात्मक अनुभूति कलात्मक अनुशीलन का माध्यम बनती है। इस परिप्रेक्ष्य में कलाओं के साथ ही चारित्रिक उत्कर्ष के विषय (दर्शन, संस्कृति, लोकाचार, आदि) भी इस अध्ययन से जुड़ जाते हैं। यहाँ उभय आलोच्य ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन क्रमशः प्रस्तुत है।

दुर्गासप्तशती में दार्शनिक-सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

दार्शनिक वैशिष्ट्य

दुर्गासप्तशती में दार्शनिक सांस्कृतिक वैशिष्ट्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इस पुस्तक (*दुर्गासप्तशती*) में वेदान्त व अद्वैत दर्शन की अधिकता प्रतीत होती है। अद्वैत वेदान्त के इसमें अनेकों निदर्शन प्राप्त होते हैं। प्रथम अध्याय में इसका अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त मिलता है। जबकि राजा सुरथ अपने राज-पाट आदि से वंचित निराश महर्षि मेधा मुनि की शरण में जाते हैं। तब महर्षि मेधा विष्णु की योग-निद्रा रूपी महामाया का विवेचन करते हैं। तभी राजा सुरथ मोहवश शंका करते हैं कि –

राजोवाच

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्॥
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज।

– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय १, श्लोक ६०, पृष्ठ ६८

अतएव राजा के इस प्रकार शंका व्यक्त करने पर महर्षि मेधा उनकी शंका के निराकरण हेतु यथासम्भव माया का विवेचन करते हैं। माया का निरूपण करते हुए महर्षि मेधा कहते हैं –

ऋषिरुवाच

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्॥
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम।

– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय १, श्लोक ६४, पृष्ठ ६८

वास्तव में तो देवी नित्यस्वरूपा ही हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का स्वरूप है तथा उन्होंने ही समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा है। यत्किंचित, अर्थात् जो कुछ

भी जड़ अथवा चेतन वह सब उन महामाया का ही स्वरूप है। उस महामाया से भिन्न कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण विश्व उन्हीं की माया है। इस प्रकार यहाँ अद्वैत वेदान्त के दर्शन हो रहे हैं। माया जो कि स्वयं ही ब्रह्म की शक्ति-स्वरूपा है ब्रह्म से अभिन्न है। इसी बात को पुनः प्रथम अध्याय में ही और स्पष्ट करते हैं –

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

– *दुर्गासप्तशती,* प्रथम अध्याय, श्लोक ५५-५६, पृष्ठ ६७

अर्थात् – भगवान् की यह माया जगत् को मोहित करती है, यह देवी ज्ञानियों के भी चित्त को बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है।

यहाँ महर्षि द्वारा वर्णित विष्णु की योग-निद्रा रूपी महामाया का स्वरूप अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य की माया से अभिन्न है। शंकराचार्य ने भी माया व ब्रह्म को इकट्ठा बताया है उन्होंने भी ब्रह्म की शक्ति माया को ही माना है। *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में ही जबकि दो भयंकर दैत्य मधु और कैटभ भगवान् ब्रह्मा का वध करने को तत्पर थे तथा भगवान् विष्णु शेषनाग की शय्या बिछाकर योग-निद्रा का आश्रय ले सो रहे थे तभी भगवान् ब्रह्माजी ने महामाया के वशीभूत (जिनकी शक्ति ही महामाया है) भगवान् विष्णु को निद्रा से जगाने के लिए स्वयं की रक्षा के लिए महामाया स्वरूप सर्वोच्च शक्ति का स्तवन करना प्रारम्भ किया। स्तवन करते हुए ब्रह्माजी ने कहा कि हे देवी! –

त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।

– *दुर्गासप्तशती,* श्लोक ७५-७६, पृष्ठ ७०

अर्थात् – हे महामाया! तुम्हीं इस विश्व ब्रह्माण्ड को धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत् की सृष्टि होती है। तुम्हीं से इसका पालन होता है सदा तुम्ही कल्पान्त में सबको अपना ग्रास बना लेती हो। समस्त जगत् को अपने में समाहित कर लेती हो।

वेदान्त दर्शन के द्वितीय सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" के द्वारा भी इसी का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्माजी ने देवी की स्तुति करते हुए उन्हें अनेकानेक नामों से सम्बोधित किया है –

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ।
प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥
– *दुर्गासप्तशती,* श्लोक ७७-७८, पृष्ठ ७०

हे सर्वोच्चशक्तिशालिनी! तुम्हीं तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली सबकी प्रकृति हो। *दुर्गासप्तशती* में अद्वैतवाद की स्थापना की गई है। इसमें यह बताया गया है कि इस जगत् में जो कुछ भी सत् विद्यमान है उन सभी का कारण विष्णु की शक्ति योग-निद्रा रूपी महामाया ही है। उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में ब्रह्माजी विष्णु की योग-निद्रा की स्तुति करते हुए कहते हैं कि –

यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ।
यया त्वया जगत्स्त्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥
– अध्याय १, श्लोक ८२-८३

अर्थात् – हे सर्वस्वरूपे देवी! कहीं भी सत्-असत् जो कुछ वस्तुएँ हैं और उन सबकी जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो। ऐसी स्थिति में आपकी क्या स्तुति हो सकती है? अर्थात् आपकी स्तुति करने में कौन समर्थ है? जो इस जगत् की सृष्टि, पालन व संहार करते हैं या संहारक माने जाते हैं उनको भी तुमने अपनी निद्रा के अधीन कर रखा है अर्थात् उनकी भी शक्ति तुम्हीं हो। यहाँ तक कि स्वयं भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने भी तुम्हारी ही शक्ति से शरीर धारण किया है।

वस्तुतः *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में अद्वैत वेदान्त का अधिकाधिक समावेश है। साथ ही योग-सम्बन्धी तत्त्वों के भी अधिकांशतः दर्शन होते हैं। खण्ड प्रथम के पश्चात् सन्धिकाल है। सृष्टि जलमयी है। अभी सृष्टि का आरम्भ नहीं हुआ है। जगत्पिता विष्णु भगवान् योग-निद्रा का आश्रय लिए हुए निश्चेष्ट लेटे हुए हैं। ब्रह्माजी भी अभी समाधि से नीचे उतरे ही हैं, उन्हें सृष्टि करनी है। समाधि के तुरंत बाद ही उन्हें क्या करना है क्या नहीं, ठीक-ठीक इसका ज्ञान नहीं हुआ है। अर्थात् सृष्टि की तरफ अभी उनका ध्यान पूरी तरह नहीं गया है। तभी दो भयंकर दैत्य मधु और कैटभ ब्रह्माजी का वध करने के उद्देश्य से प्रकट होते हैं जबकि ब्रह्माजी अभी-अभी समाधि से नीचे उतरे हैं। उनमें हिंसा की भावना अभी जाग्रत् नहीं हुई है। अतः वे अपनी रक्षा हेतु भगवान् विष्णु को उनकी योग-निद्रा से मुक्त कराने (अर्थात् उन्हें जगाने के लिए ही) महामाया

का स्तवन आरम्भ करते हैं चूंकि सृष्टि के उपरान्त ही रक्षक की आवश्यकता होगी, इसीलिए भी भगवान् विष्णु को उनकी योग-निद्रा से जगाना उचित ही है। तभी ब्रह्माजी की चिन्ता देखकर महामाया विष्णु को अपनी योग-निद्रा से मुक्त कर देती है, फिर रजो-गुण का प्राधान्य हो जाता है। अतः ब्रह्माजी ने उस समय जो भगवान् विष्णु को जगाने के लिए योग-निद्रारूपी महामाया की स्तुति की है। वस्तुतः उसमें जो स्तोत्र हैं, उनमें अध्यात्म अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। योग-निद्रा की स्तुति करते हुए जब ब्रह्माजी कहते हैं कि –

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥
– *दुर्गासप्तशती, अध्याय १, श्लोक ७४*

यहाँ ब्रह्माजी की (ब्रह्माजी के द्वारा की गई) इन पंक्तियों में अध्यात्म की पराकाष्ठा है जोकि अत्यन्त गूढ़ है। यहाँ ब्रह्माजी के उपर्युक्त स्तोत्र का साधारण अर्थ यह है कि – हे महामाया! नित्य अक्षर प्रणव में अकार, उकार, मकार इन तीनों मात्राओं के अतिरिक्त जो बिन्दुरूप नित्य अर्ध-मात्रा है, जिसका विशेष रूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता है, वह भी तुम्हीं हो। अन्य संस्कृताचार्यों ने इसमें (उपर्युक्त स्तोत्र) हुए गूढ़ अर्थ को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

संस्कृताचार्य श्री सम्पूर्णानन्दजी के अनुसार इस जगत् में पंजीकृत महाभूत काम कर रहे हैं। उनके एक-एक अणु में कम्पन है। उसी कम्पन से ही यह जगत् शब्दायमान हो रहा है। जहाँ कम्पन है, वहाँ शब्द है। जो तत्त्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं वे पंजीकृत हैं परन्तु उनके परमाणुओं में भी कम्पन है और उस कम्पन से भी एक सूक्ष्म भूत शब्द-राशि उत्पन्न होती है। हिन्दी के महाकवि कबीरदासजी ने इसे ऐसे कहा है – "तत्व झंकार ब्रह्मांड माही" उस शब्द-राशि का नाम अनाहत नाद है, जब तक कोई भी योग-साधक इस "अनाहत नाद" को नहीं सुनता तब तक उसका योगाभ्यास पूर्ण नहीं होता है। अर्थात् वह उस परम तत्त्व, उस सर्वोच्च शक्ति को नहीं जान पाता है। पुनः कबीरदासजी के ही शब्दों में – "जोग जगा अनहद धुनि सुनिको।" जब किसी योग में रत योगी को अनाहत सुनाई पड़ने लगे तब उसे समझना चाहिए कि वह उस परम सूक्ष्म तत्त्व के निकट (धीरे-धीरे) पहुँचने लगा है। जब योगी आकाश की सीमा का उल्लंघन करने का अधिकारी हो जाता है। अर्थात् वह जब शून्य (सूक्ष्मतम् अणु) को समझ लेता है, वहीं "शब्द" का अन्त हो जाता है। लीन होते समय शब्द अनाहत के रूप में नहीं

रहता अपितु वह हमारी बोलचाल की वैखरी वाणी में "ॐ" हो जाता है। उसका पहला रूप, जो "अकार" से व्यक्त होता है, उससे भी सूक्ष्म "उकार" और उससे भी सूक्ष्म "मकार" है। इन्हीं तीनों को (ओ३म्) ब्रह्माजी ने कहा है – "त्रिधा मात्रात्मिका नित्या" इसके परे योगी को ऐसे सूक्ष्म ध्वन्याभास का अनुभव होता है, एक ऐसी शक्ति (प्रकाश ज्ञान) का अनुभव होता है जोकि मानवीय भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यही अर्ध-मात्रा है।

इसके पश्चात् ही नाद आता है जोकि अपने उत्पत्ति स्थान (अपने जनक) आकाश में लीन हो जाता है। नाद के पश्चात् बिन्दु आता है वही शब्द, अनामि पद है। यह स्थिति योगी को षट्चक्र पार करके सहस्रदल कमल में प्राप्त होती है। योगशास्त्र इत्यादि ग्रन्थों में इसे "सार्द्धत्रयवलयाकृति" अर्थात् साढ़े तीन लपेटा मारे हुए कुण्डलिनी शक्ति सोई रहती है। जब योगी अपने ज्ञान द्वारा उसे जगाता है तो वह चक्र-चक्र में चढ़ती हुई सहस्रार में जाकर पुरुष के साथ मिलकर उसमें लीन हो जाती है। इसी का नाम "शिव-शक्ति योग" है। वहाँ तक पहुँचा हुआ योगी फिर नीचे नहीं आ सकता अर्थात् पुनः वह विष्णु की योग-निद्रा रूपी महामाया के जाल में नहीं फँस सकता। वह मुक्त हो जाता है। इसी कारण प्रथम अध्याय में ही ब्रह्माजी ने कहा है कि –

परापाराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी।

अर्थात् – पर और अपर, सबसे परे रहने वाली परमेश्वरी तुम्हीं हो।

इसी को ***श्वेताश्वर उपनिषद्*** में इस प्रकार कहा गया है –

पतिं पतीनां परमं परताद्।

– ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६७), पृष्ठ १२६

इसी प्रकार इसके (*दुर्गासप्तशती*) प्रत्येक अध्याय में अनेक गूढ़ रहस्य छिपे हुए हैं। इसके प्रत्येक अध्याय दर्शन तथा योग से युक्त हैं।

दुर्गासप्तशती के दशम अध्याय में भी अद्वैत वेदान्त के दर्शन होते हैं। इस अध्याय में जब शुम्भ देवी से युद्ध करने आता है, तब वह देवी से कहता है – "दुष्ट दुर्गे! तू बल के अभिमान में आकर झूठा घमण्ड न दिखा। तू बड़ी मानिनी बनी हुई है, किन्तु स्त्रियों का सहारा लेकर लड़ती है।" इसके उत्तरस्वरूप देवी दुर्गा कहती हैं –

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय १०, श्लोक ५, पृष्ठ १५४

अर्थात् – ओ दुष्ट! मैं अकेली ही हूँ, इस संसार में मेरे सिवा दूसरी कौन है। देख ये मेरी ही विभूतियाँ हैं, अतः मुझमें ही प्रवेश कर रही हैं।

यहाँ देवी स्वयं ही यह स्पष्ट कर रही हैं कि सम्पूर्ण विश्व (जगत्, सृष्टि) मुझसे ही आच्छादित है। समस्त ब्रह्माण्ड को मैंने ही व्याप्त कर रखा है। सम्पूर्ण सृष्टि मेरी ही शक्ति से स्थिर है। इत्यादि प्रकार से देवी ने अपने स्वरूप की चर्चा की। अतः यहाँ अद्वैतवाद स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है। आदिगुरु शंकराचार्य ने भी अपने *वेदान्त भाष्य* में सर्वोच्च शक्ति एक ही मानी है। उस सर्वोच्च शक्ति के विषय में लिखा है कि – "शक्ति से ही जगत् की उत्पत्ति होती है" और सम्पूर्ण जगत् उसी में विलीन होता है। जगत् शक्ति की ही परिणति है। इसी सन्दर्भ में वसिष्ठ-रामायणम् (या बृहद्योगवसिष्ठ) में प्रसंग आता है, "परिछिन्न और अपरिछिन्न सब प्रकार की सत्ता ही शक्ति है।" पाश्चात्य विद्वान् इत्यादि अपने अनुभवों के आधार पर जो बात (जो सिद्धान्त) आज कह रहे हैं या प्रतिपादित कर रहे हैं, उसे भारतीय विद्वानों, संस्कृताचार्यों ने बहुत पहले ही स्पष्ट कर दिया है। आर्य महर्षियों ने बहुत पहले ही यह निश्चित कर दिया है कि इस संसार का कारण चिन्मयी, प्राणस्वरूपिणी, संसारव्यापिनी एकमात्र शक्ति ही है। वह शक्ति भगवान् विष्णु की योग-निद्रा रूप महामाया ही है। शुम्भ-निशुम्भ से पराजित व स्वर्गलोक से वंचित देवों ने अपनी रक्षा हेतु महामाया की स्तुति करते समय कहा था –

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय ५, श्लोक ३२-३४, पृष्ठ ११२

भारतीय विद्वान् व प्राचीन आर्य लोग भी इसी को स्वीकार करते हैं। हमारी *दुर्गासप्तशती* व अन्य शास्त्रों में शक्ति के मुख्य रूप से तीन रूप माने गए हैं, परन्तु वास्तव में ये तीनों ही एक सर्वोच्च शक्ति के रूप हैं। प्रथम शक्ति परा (विष्णु शक्ति), द्वितीय शक्ति अपरा (क्षेत्रज्ञाख्या), तीसरी अविद्या (कर्मसंज्ञाख्या)।

पहली परा-शक्ति (वैष्णवी शक्ति) ही महामाया है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार इसी के रूप हैं। इसी की परिणति हैं।

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्मसंज्ञाख्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

महर्षि वेदव्यासजी ने भी अपने महाकाव्य *महाभागवत* में शक्ति के स्वरूप को निम्नवत् बताया है –

या मूलप्रकृतिः सूक्ष्मा जगदाद्या सनातनी।
सैव साक्षात् परं ब्रह्म सास्माकं देवतापि च॥

अर्थात् – जो सनातन, सूक्ष्म, मूल शक्ति है वही परब्रह्म परमात्मा है। परमात्मा की शक्ति वह महामाया है।

सृष्टि के अन्त में कुछ भी नहीं था। न सूर्य, न चन्द्र, न नक्षत्र। उस समय विश्व ब्रह्माण्ड शब्द स्पर्शादि गुण-रहित तेजोवर्जित और अन्धकारमय था। उस समय एकमात्र केवल ब्रह्मस्वरूपिणी, सच्चिदानन्द-विग्रह महामाया, मूल-शक्ति थी। उस सर्वोच्च शक्ति ने ही अपनी इच्छा से सृष्टि की रचना आरम्भ की। उसने सत्त्व, रज व तम गुण द्वारा एक चेतनाहीन पुरुष को उत्पन्न किया और उसमें अपनी शक्ति प्रविष्ट की। पुनः उस पुरुष से गुणत्रय के विभागानुक्रम द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश उत्पन्न हुए। उसके बाद ही सृष्टि-क्रम में अति न देख भगवती महामाया ने उस मूल पुरुष को "जीव" और "परम पुरुष" दो भागों में विभक्त किया और मूलप्रकृति स्वयं "माया", "परमा" और "विद्या" इन तीनों रूपों में विभक्त हुई। अतः इन जीवों को मोहित करने वाली संसार में लीन (प्रवृत्त) कराने वाली व सत, रज, तम, इत्यादि गुणों का जीवों में संचार कराने वाली और तत्त्वज्ञान-स्वरूपा जीवों को संसार से निवृत्त कराने वाली शक्ति महामाया व विद्या कहलाई। भारतीय मनीषियों एवं विद्वानों ने ही नहीं अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी सर्वोच्च शक्ति की सत्ता स्वीकार की है।[४]

पाश्चात्य विद्वान् लॉर्ड कालविन के अनुसार – "सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में अवश्य ही कोई संज्ञान चेतन शक्ति है।" वे कहते हैं "विज्ञान इस बात को सिद्ध करता है कि विश्व का कोई कर्त्ता है। इससे विश्वास होता है कि ईश्वरीय रचना के मूल में कोई नियामक और संचालक शक्ति है, जोकि भौतिक विद्युत शक्ति से भी सूक्ष्म है।" हमारे भारतीय वैज्ञानिकों ने भी शक्ति की सत्ता को स्वीकार किया है। इस प्रकार भारतीय विज्ञान और भारतीय शक्तिवाद की दृष्टि से शक्ति ही सृष्टि का मूल और आदि कारण है जबकि ब्रह्मवाद और अन्य दर्शनों ने सृष्टि का मूल कारण ब्रह्मा या ईश्वर को माना है। ऐसी स्थिति में तर्क अथवा वैचारिक भिन्नता का प्रश्न ही नहीं आता है क्योंकि सृष्टि का मूल कारण ब्रह्ममयी महामाया ही तो है। शक्तिवादियों एवं ब्रह्मवादियों ने इसे अपने-अपने ढंग से अलग-अलग प्रकार से कहा है। वास्तव में शक्ति-तत्त्व व ब्रह्म-तत्त्व एक ही है। क्योंकि ब्रह्मा की शक्ति माया

४. *मार्कण्डेय ब्रह्मपुराण*, श्रीरामनिवास शर्मा के लेख से।

है। वही शक्तिस्वरूपा महामाया कहलाती है। ब्रह्मवादियों के अनुसार ब्रह्मा की इच्छा प्रकृति है अर्थात् सृष्टि है जबकि शक्तिवादियों के अनुसार देवी जोकि महामाया (विष्णु की योग-निद्रा रूप महामाया) है कि इच्छा सृष्टि है। वास्तव में दोनों में काई भेद नहीं है। दोनों ही अभिन्न एवं एकरूप हैं। *योगवासिष्ठ भाष्य* में लिखा है – "विकल्पनाद भिन्न न तु वस्तुतः।"

कुछ अद्वैतवादी विचारकों के मतानुसार श्री ब्रह्मा और शक्ति असल में एक ही वस्तु है। इनकी भिन्नता वास्तविक नहीं है अपितु वह माया है, अज्ञान है। साथ ही शक्तिवाद और ब्रह्मवाद के सामंजस्य के प्रतिपादक शास्त्रों की तो यह सन्मति है कि –

शक्तिमहेश्वरी ब्रह्म त्रयस्तुल्यार्थवाचकाः।
स्त्रीपुंनपुंसको भेदः शब्दतो न परार्थतः॥
– *मार्कण्डेय ब्रह्मपुराण*, श्री निवास शर्मा के लेख से

अर्थात् – शक्ति, महेश्वरी और ब्रह्म एक ही अर्थ के तीनों वाचक हैं। इनमें जो लिंगभेद है वह केवल शब्दात्मक है न कि वास्तविक। परमार्थतः इनमें कोई भेद नहीं है।

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

दुर्गासप्तशती में दार्शनिक वैशिष्ट्य के साथ ही सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के भी दर्शन होते हैं। प्रस्तुत काव्य-शास्त्र में प्रारम्भिक समस्त सांस्कृतिक क्रिया-कलापों (कार्यों) की विवेचना है। इसमें प्रायः राजाओं एवं देवताओं से जुड़े कार्यों का वर्णन है। *दुर्गासप्तशती* में आश्रम संस्कृति, देवी की उपासना, देवों के द्वारा स्तुति के उपाय, देवी के आभूषणों का विवेचन, इस विवेचन से उस समय की सामान्य नारियों इत्यादि के आभूषणों का भी परिचय मिलता है। उस समय के राजाओं की रुचियों एवं कार्यों का इसमें पर्याप्त समावेश है। उस समय राजा अथवा सामान्य नागरिक दुःखी, निराश होते थे तो वह आश्रम (वन में) में महा ऋषियों की शरण में ही जाते थे। इस प्रकार के प्रसंगों के सुन्दर दृष्टान्तों का समावेश प्रस्तुत काव्य-ग्रन्थ में है। इसमें उपासना के स्वरूप का भी वर्णन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वोच्च शक्ति के रूप में सर्वशक्तिशालिनी भगवान् विष्णु की योग-निद्रा रूप महामाया (देवी-दुर्गा) जिनका स्वरूप नारी का है, की स्थापना की गई है। *दुर्गासप्तशती* में देवी के समस्त स्वरूपों का वर्णन किया गया है।

आश्रम संस्कृति का प्रस्तुत काव्य-ग्रन्थ (*दुर्गासप्तशती*) में अत्यन्त सुन्दर

उद्धरण है। आश्रम-संस्कृति के अन्तर्गत यह दृष्टिगत होता है कि जब कोई भी राजा अथवा सामान्य नागरिक विषम परिस्थितियों में होता था तो उस समय वह आश्रम अथवा वन में शरण प्राप्त करता था। *दुर्गासप्तशती* में राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य की कथा का वर्णन है। स्वरोचिष मन्वन्तर में सुरथ नाम के राजा हुए जिनका समस्त भूमण्डल पर एकछत्र अधिकार था। उसी समय कोलाविध्वंसी क्षत्रिय उनके शत्रु हो गए। राजा सुरथ अपने कतिपय दुष्ट, बलवान मन्त्रियों के षड्यन्त्र के कारण उन कोलाविध्वंसी क्षत्रियों से परास्त हो गए। उस समय राजा सुरथ का प्रभुत्व समाप्त हो चुका था। तदनन्तर वे शिकार खेलने के बहाने से एक अत्यन्त घने जंगल में निकल गए, जहाँ उन्हें मेधा ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। इस प्रकार जब राजा सुरथ महर्षि के आश्रम पर पहुँचे तब महर्षि ने राजा का यथोचित सत्कार किया। राजा एवं समाधि नामक वैश्य ने भी यथायोग्य मुनि को दण्डवत् प्रमाण किया। तदनन्तर राजा सुरथ ने महर्षि मेधा को अपना दुःखद वृतान्त सुनाया एवं वैश्य की दयनीय स्थिति का वर्णन किया। राजा सुरथ ने महर्षि से कहा कि – "हे भगवन्! जिस राज्यादि से मैं वंचित हो चुका हूँ उस राज्य एवं अपनी सेना इत्यादि के प्रति अभी भी मेरे मन में मोह उत्पन्न हो रहा है। अतः अज्ञानियों की भाँति मुझे यह दुःख क्यों हो रहा है? साथ ही यह वैश्य अपने घर एवं अपनी ही स्त्री एवं पुत्रादि के धन के कारण अपमानित होकर आया है फिर भी इसके मन में उनके प्रति हार्दिक स्नेह एवं मोह व्याप्त है। अतः हे मुनिश्रेष्ठ! हमें इन दुःखों से मुक्त कीजिए। हमारे अज्ञान को दूर कीजिए।" तदनन्तर महामुनि मेधा ने उन्हें यथोचित ज्ञान दिया एवं उनके मोह एवं अज्ञानता को दूर करने हेतु उन्हें उस परब्रह्म परमेश्वर भगवान् विष्णु की महामाया से परिचित कराने का प्रयास किया एवं उन्हें महामाया का स्वरूप बताकर उन सर्वशक्तिशालिनी देवी भगवती की शरण में जाने का उपदेश दिया। यह भी बताया कि देवी भगवती की शरण में प्रत्येक मनुष्य जिस वस्तु की कामना करता है, उसे मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि उस समय आश्रम-संस्कृति मनुष्यों हेतु एक मार्गदर्शक थी। जब भी कोई दुःखी अथवा निराश होता था तो उस समय आश्रम में ऋषि-मुनियों की शरण में ही जाता था जहाँ उसके दुःखों का निवारण होता था। अतः स्पष्ट होता है कि *दुर्गासप्तशती* में आश्रम-संस्कृति का "सांस्कृतिक वैशिष्ट्य" में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रस्तुत काव्यशास्त्र *दुर्गासप्तशती* में ऋषियों-महर्षियों के साथ सत्संग के अच्छे दृष्टान्त

परिलक्षित होते हैं। राजा सुरथ महामुनि मेधा से अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि –

भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्॥
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज।
यत्प्रभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा॥
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदां वर॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय १, श्लोक ६०-६२, पृष्ठ ६८

अर्थात् – हे भगवन्! जिन्हें आप महामाया कहते हैं, वे देवी कौन हैं? उनका आविर्भाव कैसे हुआ? तथा उनके चरित्र कौन-कौन हैं? उन देवी का कैसा प्रभाव है, एवं जिस प्रकार उनका प्रादुर्भाव हुआ हो वह सब मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ।

तदनन्तर महर्षि मेधा ने उनके प्रश्नों का यथासम्भव समाधान भी किया। महामुनि मेधा ने कहा – राजन्! वास्तव में तो वे देवी नित्यस्वरूपा ही हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं का रूप है तथा उन्होंने समस्त विश्व को व्याप्त कर रखा हैं, तथापि उनका प्राकट्य अनेक प्रकार से होता है। वह मुझसे सुनो, यद्यपि वे नित्य और अजन्मा हैं तथापि जब देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए प्रकट होती हैं तो उस समय लोक में उत्पन्न हुई कहलाती हैं। –

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम।
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा॥

– *दुर्गासप्तशती*, अध्याय १, श्लोक ६४-६५, पृष्ठ ६८-६९।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि उस समय राजा अथवा सामान्य नागरिक अपनी जिज्ञासा का समाधान ऋषियों के साथ सत्संग करके करते थे। जब भी कोई मनुष्य दुःखी होता था उस समय वह ऋषियों की ही शरण में जाता था, वहीं उसे उचित मार्गदर्शन प्राप्त होता था। ऋषि-मुनि प्रायः मनुष्यों की जिज्ञासाओं को शान्त करने में समर्थ होते थे। ऋषि-मुनि प्रायः अपनी तपस्या में रत रहते थे। साथ ही वे परब्रह्म के निकट हुआ करते थे।

दुर्गासप्तशती में देवी के अलंकारों के आधार पर ही अलंकरण संस्कृति भी पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होती है। जब देवताओं के दिव्य तेजों के एकत्र होने पर एक सर्वोच्च शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ तो तत्क्षण वही महान् तेज (शक्ति) नारी रूप में परिणत हो गए। तत्पश्चात् देवों ने ही उन सर्वशक्तिशालिनी

देवी का नाना प्रकार के आभूषणों द्वारा अलंकरण किया। सर्वप्रथम तो क्षीर समुद्र के उज्ज्वल हार तथा कभी जीर्ण न होने वाले दो दिव्य वस्त्र भेंट किए। तो किसी देव ने चूड़ामणि और कुण्डल भेंट किए, कुछ देवताओं ने गले की सुन्दर हँसली, समस्त अँगुलियों के लिए रत्नों की अँगूठियाँ प्रदान की। इस प्रकार देवी नख-शिख अलंकारों एवं अस्त्र-शस्त्रों से युक्त हो गई। अतः देवी के द्वारा धारण किए गए अलंकारों से हमें अलंकारों के प्रचलन आदि का प्रमाण मिलता है। अतः अलंकरण संस्कृति का (भारत में) एक सर्वोत्तम उद्धरण मिलता है। –

क्षीरोदश्चामलं हारमजरे च तथाम्बरे।
चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च॥

अपि च –

अर्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्वबाहुषु।
नूपुरौ विमलौ तद्वद् ग्रैवेयकमनुत्तमम्॥

– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय २, श्लोक २५-२६, पृष्ठ ८०

दुर्गासप्तशती के आधार पर युद्धोपकरणों एवं प्रसाधनों का भी परिचय प्राप्त होता है। जिस समय देवी का प्रादुर्भाव हुआ तभी असुरों के संहार के लिए देवों ने अपनी-अपनी शक्तियाँ अर्थात् (अपने-अपने) अस्त्र-शस्त्र भी देवी को भेंट किए। पिनाकधारी भगवान् शिव ने अपने त्रिशूल से एक शूल उत्पन्न कर देवी को प्रदान किया, पुनः भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से चक्र उत्पन्न कर देवी को भेंट किया। इसी प्रकार समस्त देवताओं ने शस्त्र-रूपी शक्तियाँ देवी को प्रदान कीं। वरुण ने शंख भेंट किया, सहस्र नेत्र वाले इन्द्र ने वज्र प्रदान किया। यमराज ने कालदण्ड से दण्ड भेंट किया। ब्रह्माजी ने कमण्डलु भेंट किया, किसी अन्य देवता ने धनुष एवं बाणों से भरा हुआ तरकस देवी को प्रदान किया। इस प्रकार सर्वशक्तिशालिनी देवी भगवती का प्रादुर्भाव हुआ व उनकी स्थापना हुई –

शूलं शूलाद्विनिष्कृष्य ददौ तस्यै पिनाकधृक्।
चक्रं च दत्तवान् कृष्णः समुत्पाद्य स्वचक्रतः॥

– *दुर्गासप्तशती,* अध्याय २, श्लोक २०, पृष्ठ ७८

इस प्रकार से प्रारम्भ के राजा इत्यादि एवं देवों के अस्त्र-शस्त्रों का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। साथ ही उस समय दैत्य भी किस-किस प्रकार की शक्तियाँ अर्जित करते थे एवं शस्त्रों का प्रयोग करते थे इसकी भी झलक मिलती है।

दुर्गासप्तशती में राजाओं की अभिरुचियों एवं क्रिया-कलापों का भी पर्याप्त परिचय मिलता है। राजा चाहे वह इन्द्रादि हो अथवा असुरराज शुम्भ-निशुम्भ हो, वे प्रायः चक्रवर्ती बनना चाहते हैं एवं श्रेष्ठ रत्नों का संग्रहण करना, सुन्दर स्त्रियों को पत्नी रूप में उनका पाणिग्रहण करना, इत्यादि राजाओं की रुचियाँ होती थीं। इसी संदर्भ में असुर अधिपति शुम्भ-निशुम्भ का प्रसंग प्राप्त होता है। जब शुम्भ-निशुम्भ इन्द्रादि देवों को पराजित कर स्वर्ग पर आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं तब समस्त देवता एकत्रित हो देवी के दिए हुए वरदान को स्मरण कर महामाया की शरण में जाकर उनकी स्तुति प्रारम्भ कर देते हैं। तत्क्षण देवी भगवती पार्वती के शरीरकोष से उत्पन्न होती है एवं देवों को पुनः स्वर्ग प्राप्ति का वचन देती है। तदनन्तर शुम्भ-निशुम्भ के अनुचर चण्ड-मुण्ड देवी कौशिकी को देखते हैं तथा अपने राजा से देवी के रूप-लावण्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि –

> हे महाराज एक अत्यन्त मनोहर स्त्री है, जो अपनी दिव्य कान्ति से हिमालय को प्रकाशित कर रही है। प्रभो! तीनों लोकों में मणि, हाथी और घोड़े आदि जितने भी रत्न हैं, वे सब इस समय आपके घर में शोभा पाते हैं। (और भी) हे दैत्यराज! इस प्रकार समस्त रत्न (हाथियों में रत्नभूत ऐरावत, पारिजात वृक्ष, उच्चैःश्रवा घोड़ा, इत्यादि।) आपने एकत्रित कर लिए हैं। फिर भी जो यह स्त्रियों में रत्नरूपा देवी है इसे आप क्यों नहीं अपने अधिकार में कर लेते हैं?

इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि राजाओं को भिन्न-भिन्न रत्नों के संग्रहण का विशेष आकर्षण रहता था। उसी प्रकार सुन्दर स्त्रियों को पत्नी रूप में प्राप्त करने की विशेष रुचि रहती थी।

इसके अतिरिक्त शक्ति-उपासना इत्यादि का भी प्रमाण प्राप्त होता है। साथ ही देवी भगवती की भिन्न-भिन्न प्रकार से स्तुतियों का भी परिचय प्राप्त होता है। मूर्ति-पूजा के नियमों एवं साधनों का भी परिचय मिलता है। जब देवता अपने राज्यादि से वंचित हो जाते थे, उस समय वे भगवान् विष्णु की योग-निद्रास्वरूपा महामाया की शरण में जाते थे एवं विभिन्न प्रकार से उनकी स्तुति आदि करते थे। *दुर्गासप्तशती* में मूर्ति-रहस्य, क्षमा-विधान आदि का भी समावेश है, जिसमें विस्तृत रूप से स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार देवी की मूर्ति का निर्माण किया जाए। उसमें कौन-कौन सी धातुएँ प्रयोग में लानी चाहिए तथा मृण्मय मूर्ति बनाने हेतु किन विधियों का उपयोग करना चाहिए। देवी की स्तुति में किस प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग एवं उच्चारण करना चाहिए। *दुर्गासप्तशती* में संकलित "मूर्तिरहस्यम्" इत्यादि शीर्षक के अन्तर्गत मूर्ति-रचना

का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। *दुर्गासप्तशती* में मूर्ति-रचना में प्रयुक्त होने वाली धातुओं का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें मूर्ति-रचना में प्रयुक्त नौ धातुएँ प्रमुख हैं – स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रस्तर, काठ, लेप प्रस्तर, चूर्ण, शीशा, एवं पकाई गई मिट्टी। चल तथा अचल मूर्तियों का निर्माण प्रायः इन्हीं नौ धातुओं के मोम से ही होता है –

यानि रत्नानि मणयो गजाश्वादीनि वै प्रभो।
त्रैलोक्ये तु समस्तानि साम्प्रतं भान्ति ते गृहे॥
– *दुर्गासप्तशती,* पञ्चम अध्याय, श्लोक ९३, पृष्ठ ११७।

अपि च –
एवं दैत्येन्द्र रत्नानि समस्तान्याहृतानि ते।
स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते॥
– *दुर्गासप्तशती,* पञ्चम अध्याय, श्लोक १००, पृष्ठ ११८

दुर्गासप्तशती में विविध कलाओं का पर्यालोचन

दुर्गासप्तशती में काव्यात्मक तत्त्वों – रस, छन्द, अलंकार, गुण एवं रीतियों के साथ ही स्वतन्त्र कलाशास्त्रीय अन्य कलाओं का भी समावेश है। जैसे – संगीत-कला, मूर्ति-कला, आभूषण-कला, इत्यादि।

कला शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है, जिसका विशेष लक्षण “ध्यान से देखना” है, गणना अथवा संकलन करना, मनन और चिन्तन करना एवं स्पष्ट रूप से प्रकट करना है। इसीलिए कला शब्द ही स्वयं कलाकृतियों के उत्पादन के उन मूलभूत नियमों को संकेत रूप में बताता है जिन पर कलाकृतियों की उत्पत्ति तथा उनकी समीचीन विवेचना निर्भर है। कलाकृतियों के उत्पादन के ये मौलिक नियम “संकलन”, “चिन्तन” एवं “स्पष्ट अभिव्यक्ति” करना है।

संगीत-कला

वेदों में तीन प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का वर्णन मिलता है। आघात से बजने वाले जैसे ढोल, तार से बने हुए जैसे वीणा और वायु के संचार से बजने वाले जैसे बाँसुरी इत्यादि यन्त्रों का। वेद के मन्त्र स्वयं यह प्रमाणित करते हैं कि उस समय भी संगीत का अत्यधिक आदर किया जाता था। उनमें वाद्य एवं गेय दोनों रूपों के संगीत का उल्लेख किया गया है।

सामवेद में गान है। उनके गान का प्रकार स्वर-संकेतों से प्रकट किया गया है। अत्यन्त प्राचीन भारतीय संगीत का विशद् वर्णन *सामवेद* के आर्षेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है। जो परवर्ती काल से आज तक के भारतीय संगीत के लिए आधार रूप रहा है। *ऋग्वेद* काल में स्त्री और पुरुष दोनों नृत्य करते थे। वहाँ बाँस की छड़ियों के ऊपर आकाश की ओर उठाकर नृत्य करते हुए स्त्री एवं पुरुषों का वर्णन प्राप्त होता है। नाचने वाले व्यक्ति को “नृत” कहते थे। युद्ध के अवसर पर उत्तेजना की दशा में द्वन्द्व “नृत्य” करते थे। नृत्य करने वाली नारी को नृतु कहा जाता था।

दुर्गासप्तशती में संगीत-कला का पर्याप्त समावेश है। *दुर्गासप्तशती* के द्वितीय अध्याय के एक श्लोक (३२) में नाद का प्रयोग हुआ है जिससे कि स्पष्ट होता है कि इसमें संगीत-कला की निष्पत्ति हुई है –

सम्मानिता ननादोच्चैः साट्टहासं मुहुर्मुहुः।
तस्या नादेन घोरेण कृतस्नमापूरितं नभः॥
– पृष्ठ ८०

यहाँ पर देवी ने अट्टहासपूर्वक उच्च स्वर में गर्जना की और इस भयंकर नाद से सम्पूर्ण आकाश गूँज उठा। वाद्य-यन्त्रों में नगाड़ों और शंख तथा मृदंग घण्टा आदि का वर्णन *दुर्गासप्तशती* में हुआ है –

नाशयन्तोऽसुरगणान् देवीशक्त्युपबृंहिताः।
अवादयन्त पटहान् गणाः शङ्खांस्तथापरे॥
मृदङ्गांश्च तथैवान्ये तस्मिन् युद्धमहोत्सवे।
ततो देवी त्रिशूलेन गदया शक्तिवृष्टिभिः॥

खड्गादिभिश्च शतशो निजघान महासुरान्।
पातयामास चैवान्यान् घण्टास्वनविमोहितान्॥
– *दुर्गासप्तशती,* २५४-५६, पृष्ठ ८४

देवी शक्ति से बढ़े हुए देवताओं के गण असुरों का नाश करते हुए नगाड़ा और शंख आदि बजाने लगे। उनमें से कुछ लोग मृदंग भी बजा रहे थे। कितने ही राक्षसों को घण्टे के भयंकर नाद से मूर्छित करके मार गिराया। गीत तथा नृत्य का भी प्रयोग *दुर्गासप्तशती* में प्राप्त होता है –

तुष्टुवुस्तां सुरा देवीं सह दिव्यैर्महर्षिभिः।
जगुर्गन्धर्वपतयो ननृतुश्चाप्सरोगणाः॥
– श्लोक ३४४, पृष्ठ ९५-९६

यहाँ पर गन्धर्वराज के गायन तथा अप्सराओं के नृत्य का वर्णन हुआ है। इस प्रकार प्रस्तुत *दुर्गासप्तशती* में नृत्य-कला आदि का भी समुचित समावेश हुआ है।

दुर्गासप्तशती के सप्तम अध्याय में मातंगी देवी का ध्यान किया गया है जोकि वीणा बजा रही हैं –

ॐ ध्यायेयं रत्नपीठे शुककलपठितं शृण्वतीं श्यामलाङ्गीं।
न्यस्तैकाङ्घ्रिं सरोजे शशिशकलधरां वल्लकीं वादयन्तीम्।
कह्लाराबद्धमालां नियमितविलसच्चोलिकां रक्तवस्त्रां।
मातङ्गीं शङ्खपात्रां मधुरमधुमदां चित्रकोद्भासिभालाम्॥

– ध्यानमन्त्र, पृष्ठ १२८

अन्त में *दुर्गासप्तशती* के अन्य दो श्लोकों में गायन, वाद्य और नृत्य के दर्शन होते हैं –

ततो देवगणाः सर्वे हर्षनिर्भरमानसाः।
बभूवुर्निहते तस्मिन् गन्धर्वा ललितं जगुः॥
अवादयंस्तथैवान्ये ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
ववुः पुण्यास्तथा वाताः सुप्रभोऽभूद्दिवाकरः॥

– श्लोक १०३०-३१, पृष्ठ १५८

यहाँ शुम्भ की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण देवताओं का हृदय हर्ष से भर गया और गन्धर्वगण मधुर गीत गाने लगे अन्य गन्धर्व वाद्य बजाने लगे साथ ही अप्सराएँ नृत्य करने लगीं।

मूर्ति-कला

भारत में काव्य, संगीत और वास्तु तीन कलाओं को ही परब्रह्म को प्रकट करने वाली माना गया है। अतः ये तीन कलाएँ ही स्वतन्त्र हैं। मूर्ति-रचना तथा चित्र-रचना कलाएँ वास्तु-कला के ही अंश-स्वरूप हैं अथवा उनकी आश्रित कलाएँ ही प्रतिपादित की गई हैं। वास्तु-कला प्रतिपादक ग्रन्थों के अन्तर्गत ही मूर्ति तथा चित्र-कलाओं का निरूपण किया गया है। मूर्ति-रचना-कला प्रतिपादक ग्रन्थ *मानसार* के अध्यायों की संख्या वास्तु प्रतिपादक अध्यायों की आधी है। वहाँ मूर्ति-रचना विषयक निम्नलिखित विषयों का उल्लेख हुआ है –

मूर्ति की उपादान सामग्री के रूप में नौ धातुएँ – स्वर्ण, रजत, ताम्र,

प्रस्तर, काठ, लेप प्रस्तर, चूर्ण, शीशा एवं पकाई गई मिट्टी, चल तथा अचल मूर्तियाँ, मूर्ति से सभी अंगों, आधे अंगों तथा एक चौथाई अंगों के प्रदर्शित करने के आधार पर उनके स्वरूप का उच्च मध्यम तथा लघु रूपों में वर्गीकरण, उन देवताओं, देवियों, अर्धदेवों, ऋषियों, पशुओं, शिवलिंग प्रतीकों के विभिन्न आसनों तथा मुद्राओं एवं मूर्ति-रचना-विषयक अन्य विशेषताओं का वर्णन जिनका वर्गीकरण अनेक प्रकारों में जैसे – शैव, पाशुपति, कालमुख, महावृत, वाम, भैरव, समकर्ण, वर्धमान आदि में करते हैं तथा हीरे के शिवलिंग के एवं जैन व बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों के आकारों का वर्णन आदि।

यद्यपि *मानसार* ग्रन्थ में चित्रकला का वर्णन प्रथम रूप में नहीं है। फिर भी मूर्तियों की सफल रचना के लिए चित्रकला की रचना विधान का ज्ञान होना और उनके वस्त्रों के रंगों का निरूपण किया गया है।

देवी की अंगभूता छः देवियाँ नन्दा, रक्तदन्तिका, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा और भ्रामरी, ये देवियों की साक्षात् मूर्तियाँ हैं। इनके स्वरूप का प्रतिपादन होने से *दुर्गासप्तशती* में "मूर्ति-रहस्यम्" नामक प्रकरण का वर्णन हुआ है। ये कीर्तन करने पर कामधेनु के समान सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करती हैं। यह परम गोपनीय रहस्य है –

जगन्मातुश्चण्डिकायाः कीर्तिताः कामधेनवः।
इदं रहस्यं परमं न वाच्यं कस्यचित्त्वया॥

– *दुर्गासप्तशती*, मूर्तिरहस्यम्, श्लोक २२, पृष्ठ २१२

दिव्य मूर्तियों का यह आख्यान मनोवांछित फल देने वाला है। इस प्रकार ऋषि राजा से कहते हैं कि – हे राजन्! तुम निरन्तर देवी के जप में लगे रहो –

व्याख्यानं दिव्यमूर्तीनामभीष्टफलदायकम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन देवीं जप निरन्तरम्॥

– तदेव, श्लोक २३, पृष्ठ २१२

दुर्गासप्तशती के त्रयोदशम अध्याय में मार्कण्डेय ऋषि कहते हैं – मेधा मुनि के द्वारा यह बताने पर कि देवी की आराधना करने पर वे मनुष्यों को भोग, स्वर्ग तथा मोक्ष प्रदान करती है। इन वचनों को सुनकर राजा सुरथ ने उत्तम व्रत का पालन करने वाले मेधा मुनि को प्रणाम किया। वे राजा अत्यन्त ममता और राज्यापहरण से बहुत खिन्न हो चुके थे। अतः विरक्त होकर वे राजा तथा वैश्य तत्काल तपस्या को चले और वे जगदम्बा के दर्शन के लिए नदी तट पर तपस्या में रत हो गए।

वे वैश्य उत्तम देवी-सूक्त का जप करते हुए तपस्या में प्रवृत्त हुए वे दोनों नदी तट पर देवी की मृण्मय मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और हवन आदि के द्वारा आराधना करने लगे –

स च वैश्यस्तपस्तेपे देवीसूक्तं परं जपन्।
तौ तस्मिन् पुलिने देव्याः कृत्वा मूर्तिं महीमयीम्॥

– तदेव, श्लोक १३.१०, पृष्ठ १८०

उन्होंने एकाग्रतापूर्वक देवी का चिन्तन आरम्भ किया। वे तीन वर्ष तक संयमपूर्वक आराधना करते रहे। तब देवी ने प्रत्यक्ष दर्शन दिए।

यत्प्रार्थ्यते त्वया भूप त्वया च कुलनन्दन।
मत्तस्तत्प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत्॥

– तदेव, श्लोक १३.१५, पृष्ठ १८१

अतः राजा ने दूसरे जन्म में नष्ट न होने वाला राज्य तथा इस जन्म में भी शत्रुओं की सेना को बलपूर्वक नष्ट कर पुनः अपने राज्य को प्राप्त कर लेने का वरदान माँगा। वैश्य का चित्त संसार की ओर से खिन्न एवं विरक्त हो चुका था और वे बड़े ही बुद्धिमान् थे। अतः उन्होंने ममता एवं अहन्ता रूप आसक्ति का नाश करने वाला ज्ञान माँगा।

आभूषण-कला

यद्यपि स्वतन्त्र कलाशास्त्र में इस कला का विस्तृत वर्णन दृष्टिगत नहीं होता है तथापि *दुर्गासप्तशती* में यह कला यत्र-तत्र परिलक्षित होती है।

दुर्गासप्तशती के द्वितीय अध्याय में प्राप्त होता है कि देवताओं के तेज पुंज से देवी का प्राकट्य हुआ। जहाँ उनको भगवान् शंकर ने शूल, भगवान् विष्णु ने चक्र, वरुण ने शंख, अग्नि ने शक्ति, वायु ने धनुष तथा बाण से भरे तरकस प्रदान किए, देवराज इन्द्र ने वज्र और घण्टा, यमराज ने दण्ड, प्रजापति ने स्फटिक की माला, ब्रह्माजी ने कमण्डल, सूर्य ने तेज और काल ने उन्हें चमकती हुई ढाल व तलवार प्रदान की। वहीं उनकी सौन्दर्य वृद्धि हेतु क्षीर समुद्र ने उज्ज्वल हार तथा कभी जीर्ण न होने वाले दो दिव्य वस्त्र भेंट किए साथ ही उन्होंने दिव्य चूड़ामणि, दो कुण्डल, कड़े, उज्ज्वल अर्धचन्द्र, सब बाहुओं के लिए केयूर, दोनों चरणों हेतु निर्मल नूपुर, गले की सुन्दर हँसली, सब अँगुलियों के लिए रत्नों की अँगूठियाँ प्रदान की।

क्षीरोदश्चामलं हारमजरे च तथाम्बरे।
चूडामणिं तथा दिव्यं कुण्डले कटकानि च॥

अर्धचन्द्रं तथा शुभ्रं केयूरान् सर्वबाहुषु।
नूपुरौ विमलौ तद्वद् ग्रैवेयकमनुत्तमम्॥

अङ्गुलीयकरत्नानि समस्तास्वङ्गुलीषु च।
विश्वकर्मा ददौ तस्यै परशुं चातिनिर्मलम्॥

– तदेव श्लोक २२५-२७, पृष्ठ ७९-८०

हिमालय ने सवारी के लिए सिंह व भाँति-भाँति के रत्न समर्पित किए –

अददज्जलधिस्तस्यै पङ्कजं चातिशोभनम्।
हिमवान् वाहनं सिंहं रत्नानि विविधानि च॥

– तदेव, श्लोक २२९, पृष्ठ ८०

ऋग्वेदोक्त देवी-सूक्त के ध्यानमन्त्र में मिलता है कि जो देवी सिंह की पीठ पर विराजमान है, जिनके मस्तक पर चन्द्रमुकुट है जो मरकत मणि के समान कान्तिवाली, अपनी चार भुजाओं में शंख, चक्र, धनुष और बाण धारण करती है, तीन नेत्रों से सुशोभित होती है, जिनके भिन्न-भिन्न अंग बाँधे हुए बाजूबन्द, हार, कंकण, खनखनाती हुई करधनी और रुनझुन करते हुए नूपुरों से विभूषित हैं तथा जिनके कानों में रत्नजड़ित कुण्डल झिलमिलाते रहते हैं, वे भगवती दुर्गा हमारी दुर्गति को दूर करने वाली हों –

ॐ सिहंस्था शशिशेखरा मरकतप्रख्यैश्चतुर्भिर्भुजैः
शङ्खं चक्रधनुःशरांश्च दधती नेत्रैस्त्रिभिः शोभिता।
आमुक्ताङ्गदहारकङ्कणरणत्काञ्चीरणन्नूपुरा।
दुर्गा दुर्गतिहारिणी भवतु नो रत्नोल्लसत्कुण्डला॥

– तदेव, ऋग्वेदोभ देवी सूभम्, ध्यानम्, पृष्ठ १८६

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि *दुर्गासप्तशती* में अन्य कलाओं के अन्तर्गत प्रमुखतया संगीत कला, मूर्ति-कला व आभूषण-कलाओं का ही समावेश हुआ है।

नारीत्व का उत्कर्ष

दुर्गासप्तशती में नारीत्व का उत्कर्ष प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होता है। *दुर्गासप्तशती* में वर्णित भगवती दुर्गा रूपी नारी की महिमा का वर्णन किया गया है। साथ ही सर्वोच्च शक्ति के रूप में दुर्गा रूपी नारी को स्थापित किया गया है जिससे कि नारी सामान्य के गौरव में भी वृद्धि हुई है। *दुर्गासप्तशती* में यह भी बताया गया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सत्ता के पीछे जो सर्वोच्च शक्ति है वह देवी

भगवती है। इस सृष्टि की उत्पत्ति, संचालन एवं संधार के पीछे भगवान् विष्णु की शक्ति महामाया रूपी देवी भगवती ही कारण हैं। *दुर्गासप्तशती* के प्रारम्भ में देव्यर्थशीर्ष में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है।

समस्त देवता देवी की उत्पत्ति होने पर अर्थात् देवी के सशरीर सामने आने पर देवी की स्तुति करने लगे, तत्पश्चात् उन्होंने देवी से पूछा –

हे महादेवी तुम कौन हो, इस पर देवी ने उत्तर दिया –

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्। शून्यं चाशून्यं च॥

– तदेव, श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्, मन्त्र २ पृष्ठ ४४

साथ ही यह भी कहा –

वेदोऽहमवेदोऽहम् विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्॥

– तदेव, मन्त्र ४, पृष्ठ ४५

अर्थात् – वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं हूँ, अजा और अनजा (प्रकृति और उससे भिन्न) भी मैं; नीचे ऊपर, दाँए तथा बाएं भी मैं ही हूँ। अतः स्पष्ट है कि समस्त चेतन एवं अचेतन वस्तुओं का कारण देवी दुर्गा ही है, (जिनका स्वरूप) नारी का है।

इसी प्रकार *दुर्गासप्तशती* के प्रथम अध्याय में भी इसका उल्लेख हुआ है – कि सर्वोच्च शक्ति एक ही है। वह है भगवान् विष्णु की शक्तिरूपिणी महामाया। वस्तुतः महामाया से पृथक् भगवान् विष्णु की कोई शक्ति नहीं है क्योंकि स्वयं को मधु-कैटभ को प्रहार का लक्ष्य हुआ देखकर एवं भगवान् विष्णु को सोया हुआ जानकर ब्रह्मा ने महामाया योग-निद्रा का स्तवन करना प्रारम्भ किया जोकि भगवान् विष्णु के नेत्रों में निवास करने वाली है और विष्णु की अनुपम शक्ति है। इस प्रकार जब योग-निद्रा रूप महाशक्ति ने भगवान् विष्णु को मुक्त किया तभी भगवान् विष्णु ने मधु-कैटभ से युद्ध कर उन्हें परास्त किया। ब्रह्माजी देवी दुर्गा की स्तुति करते हुए कहते हैं –

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः॥

– तदेव, श्लोक १७३-७४, पृष्ठ ७०

अर्थात् – हे देवी! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्ही वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्ही जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर

प्रणव (अकार, उकार, मकार) की तीनों मात्राओं के रूप में तुम्ही स्थित हो। इन तीनों मात्राओं के अतिरिक्त जो बिन्दुरूपा अर्धमात्रा है, जिसका विशेष रूप से उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्ही हो।

मन्त्र एवं मात्राओं की शक्ति के बारे में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है – वास्तव में शब्द, अक्षर एवं मात्राओं में भी वही शक्तिशालिनी दुर्गा-स्वरूपिणी नारी ही विद्यमान है। "अ वर्ग से श वर्ग तक" समस्त सातों ही वर्गों की शक्ति दुर्गा ही है।

अवर्गे तु महालक्ष्मीः क वर्गे कमलोद्भवा।
चवर्गे तु महेशानी हवर्गे तु कुमारिका
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका।
एताः सप्तमहामातृः सप्तलोकव्य व स्थिताः॥

– *मन्त्र मात्राओं का रहस्य*, पृष्ठ १०० से उद्धृत

इस प्रकार यह स्पष्ट हो रहा है कि समस्त जगत् में जो कुछ भी (जड़ अथवा चेतन) है, उन सभी में शक्ति-स्वरूपिणी महामाया दुर्गा ही कारण है, वही सर्वत्र विद्यमान है। साथ ही उन सर्वशक्तिशालिनी महामाया दुर्गा का स्वरूप नारी का है जिससे कि समस्त नारी जाति के गौरव में बुद्धि हुई है। (प्रायः सामान्य नारी एवं कन्या में भी दुर्गा का ही रूप देखा जाता है।) जब समस्त देवता महिषासुर को मारने में असफल हुए एवं इन्द्रादि देवता अपने राज्य से भी पृथक् कर दिए गए तब उस समय भयंकर दैत्य का सामना करने का सामर्थ्य किसी में नहीं था। उस समय समस्त देवताओं ने मिलकर महाशक्तिशालिनी दुर्गा को विष्णु की माया के रूप में स्वतन्त्र किया तब देवी ने प्रत्यक्ष होकर अपने रूप वैविध्य का उपयोग कर महिषासुर का मर्दन किया। यह भगवती दुर्गा ही समस्त प्राणियों में बुद्धि, लज्जा, लक्ष्मी एवं अलक्ष्मी के रूप में विद्यमान है। कहीं दरिद्रता, कहीं सम्पन्नता के रूप में निवास करती है। जैसाकि *दुर्गासप्तशती* के चतुर्थ अध्याय में आया है –

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः।
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

– *दुर्गासप्तशती*, श्लोक ४.५, पृष्ठ ९८

अर्थात् – जो पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं ही लक्ष्मी रूप से, पापियों के यहाँ दरिद्रता रूप से, शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष के हृदय में बुद्धि रूप से, सत्पुरुषों में श्रद्धा रूप से तथा कुलीन मनुष्यों में लज्जा रूप से निवास करती है। इस प्रकार से देवतागण देवी भगवती की स्तुति करते हुए उन्हें प्रणाम करते हैं। हे देवी! आप सम्पूर्ण विश्व का पालन कीजिए अर्थात् रक्षा कीजिए।

देवताओं ने देवी दुर्गा को सर्वशक्तिशालिनी मानकर उनकी स्तुति करते हुए कहा है कि हे भगवती दुर्गा तुम्हीं शक्तिशालिनी सर्वोच्च शक्ति हो। समस्त चर-अचर जीवों की सत्ता तुम्हीं हो।

पंचम अध्याय में देवता देवी भगवती की स्तुति करते हुए कहते हैं –

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥

– तदेव, श्लोक ५.३२-३४, पृष्ठ ११२

अर्थात् – जो देवी समस्त प्राणियों में शक्तिरूप में विद्यमान है, उनको बारम्बार नमस्कार है।

या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥

– तदेव, श्लोक ५.१७-१९, पृष्ठ ११२

अर्थात् – जो देवी समस्त प्राणियों में चेतना कहलाती है, उसको नमस्कार है, उनको नमस्कार है उनको बारम्बार नमस्कार है।

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै॥ नमस्तस्यै नमो नमः॥

– तदेव, श्लोक ५.२०-२२, पृष्ठ ११२

अर्थात् – जो देवी समस्त प्राणियों में बुद्धि रूप में स्थित है, उनको नमस्कार है –

अनेकों प्रकार से देवताओं ने देवी भगवती की स्तुति करते हुए बताया है कि वे देवी ही सर्वोच्च शक्ति हैं। प्रत्येक मनुष्य कोई भी कार्य (पाप अथवा पुण्य) इनकी प्रेरणा से करता है। देवताओं ने यह भी बताया कि ये दुर्गा ही समस्त प्राणियों में निद्रा रूप में, क्षुधा रूप में स्थित है। यही देवी ही समस्त प्राणियों में छाया-रूप में स्थित है अर्थात् प्रत्येक जीव-मात्र भी देवी दुर्गा की ही शक्ति से स्थित है। देवी दुर्गा ही समस्त प्राणियों में तृष्णा-रूप में स्थित है। पुनः

देवताओं ने देवी दुर्गा की स्तुति करते हुए कहा कि ये देवी ही समस्त प्राणियों में क्षमा रूप में एवं जाति रूप में स्थित है। देवी दुर्गा एक ही है अर्थात् सर्वोच्च शक्ति एक ही है, वही सर्वोच्च शक्ति भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों के रूप में विद्यमान है इत्यादि प्रकार से देवताओं ने देवी की स्तुति कर उन्हें प्रसन्न किया। इस प्रकार उन नारी रूपी देवी की सर्वोच्च शक्ति के रूप में स्थापना हुई।

उपरोक्त प्रकार से देवी की स्तुति से प्रसन्न हो शक्तिस्वरूपिणी देवी ने अपने भिन्न-भिन्न नारी रूपों में प्रकट होकर दुष्टों का संहार किया व नारी की गरिमा को बढ़ाया।

सौन्दर्यलहरी में दार्शनिक-सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

दार्शनिक वैशिष्ट्य

आदिगुरु शंकराचार्य के ग्रन्थ *सौन्दर्यलहरी* में दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। अपने इस ग्रन्थ में आचार्य ने अद्वैत-दर्शन का प्रतिपादन किया है। *सौन्दर्यलहरी* के अध्ययन से यह स्पष्टरूपेण दृष्टिगत होता है कि यह ग्रन्थ पूर्णतः अद्वैतवाद पर आधारित है। यद्यपि ब्रह्म अक्षर है अर्थात् उसमें कभी किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता, वह अपरिणामी, अव्यय, अविनाशी है, परन्तु जगत् के सृष्टि-स्थिति-संहार का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण भी है, इसलिए वह सर्वशक्तिमान है। शक्ति कभी भी शक्तिमान से भिन्न नहीं कही जा सकती है और न ही वह शक्तिमान से पृथक् ही हो सकती है, यद्यपि समस्त कार्य शक्ति की ही क्रिया से सम्पादित होते हैं, तो भी शक्तिमान की शक्ति, शक्तिमान की इच्छा के अधीन ही कार्य करती है। अर्थात् स्वतन्त्ररूपेण इसकी कोई सत्ता नहीं है, लेकिन दोनों में अंग-अंगी सम्बन्ध नहीं है। अतः दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो भिन्नता दिखाई देती है, वह पूर्णतः व्यावहारिक ही है। *ब्रह्मसूत्र* के अध्याय प्रथम, पाद चतुर्थ तथा सूत्र तीन – तदधीनत्वादर्थवत् के *भाष्य* में शंकर भगवत्पाद कहते हैं –

परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा। अर्थवती हि सा। नहि तया बिना परमेश्वरस्य स्रष्टत्वं सिद्ध्यति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपतेः।

– ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, पृष्ठ २९७

अर्थात् – हम तो जगत् की प्राग्वस्था परमेश्वर के अधीन मानते हैं, न कि स्वतन्त्र। क्योंकि वह अर्थवती अर्थात् सार्थक है, उसके बिना तो परमेश्वर का सृष्टि करना भी सिद्ध नहीं होता, शक्ति-रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति का अभाव होने का कारण।

आचार्य ने *सौन्दर्यलहरी* की रचना दो भागों में की है पूर्वार्द्ध "आनन्दलहरी" और उत्तरार्द्ध "सौन्दर्यलहरी" जबकि दोनों का सम्मिलित नाम *सौन्दर्यलहरी* दिया है। आचार्य ने पूर्वार्द्ध भाग "आनन्दलहरी" में दर्शन पक्ष का विस्तृत विवेचन किया है। दर्शन पक्ष के अन्तर्गत आचार्य ने जिन मुख्य विषयों पर दृष्टिपात किया है वे विषय निम्नलिखित हैं –

१. शिव-शक्ति सम्बन्ध।
२. शक्ति का लहरी रूप।
३. तत्त्व ज्ञान के पूर्ण योग और उपासना की आवश्यकता।
४. ज्ञानयोग और भावयोग की व्याख्या।
५. बीजयन्त्र द्वारा ब्रह्मोपासना।
६. स्पन्द शक्ति।
७. हिरण्यगर्भ।
८. श्रीविद्या।
९. श्रीचक्र।
१०. वाक्-सिद्धि हादि-कादि विद्याओं के रूप।
११. अहं ब्रह्मास्मि ज्ञान का उदय जैसे गूढ़ तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन आचार्य ने अपने छन्दों के माध्यम से किया है।

उपरलिखित समस्त दार्शनिक तत्त्वों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के द्वितीय परिच्छेद में किया जा चुका है। अतः उसे यहाँ पुनः प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति मात्र होगी जोकि अनपेक्षित है।

सांस्कृतिक वैशिष्ट्य

सौन्दर्यलहरी एक मुक्तक काव्य होने के नाते इसमें सांस्कृतिक योजना का विस्तार नहीं है फिर भी यत्र-तत्र मातृ-पुत्र सम्बन्ध, सेवकों का सेवा-भाव, पतिव्रत धर्म जैसे विषयों से सम्बन्धित छन्द इसमें प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में देवी का एक नारी के रूप में चित्रण किया गया है। कहीं-कहीं तो देवी के सौन्दर्यादि का इस प्रकार से वर्णन हुआ है जैसे कि एक सामान्य भारतीय नारी का सौन्दर्य वर्णन है। अतः इस प्रकार के वर्णनादि ही इस ग्रन्थ में सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को स्थापित करते हैं। देवी के वस्त्रादि, आभूषणादि एवं

अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन भी किया गया है। आचार्य ने सर्वप्रथम तो देवी को सर्वसामर्थ्यवती मानकर उनकी स्तुति की है जोकि सांस्कृतिक परम्परा ही है। जहाँ आचार्य ने देवी का माँ के रूप में स्तुतिपरक वर्णन किया, वहाँ देवी हमें वात्सल्य से युक्त माँ के रूप में ही दृष्टिगत होती है। निम्नलिखित छन्द में देवी के इसी स्वरूप की झलक मिल रही है –

समं देवि स्कन्दद्विपवदनपीतं स्तनयुगं
तवेदं नः खेदं हरतु सततं प्रस्नुतमुखम्।
यदालोक्याशङ्काकुलितहृदयो हासजनकः
स्वकुम्भौ हेरम्बः परिमृशति हस्तेन झटिति॥
– श्लोक ७२, पृष्ठ १८०

उपर्युक्त श्लोक में देवी का चित्रण मातृ-स्वरूप में ही किया गया है। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक जिसमें कि आचार्य ने देवी को स्वयं की माँ के रूप में देखकर स्तुति की है –

कदा काले मातः कथय कलितालभकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया।
कदा धत्ते वाणीमुखकमलताम्बूलरसताम्॥
– श्लोक ९८, पृष्ठ ३१२

प्रथम श्लोक में एक माँ का अपने पुत्र के प्रति प्रेम दिखाया है जबकि द्वितीय श्लोक में एक पुत्र का अपनी माँ के प्रति प्रेम एवं आदर भाव दिखाई देता है। द्वितीय श्लोक में आचार्य ने पूर्णरूपेण देवी को माँ मानकर उनसे भक्ति एवं प्रेम (स्नेह, वात्सल्य) की याचना की है। अतः यहाँ स्पष्टतः एक पुत्र की माँ के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति परिलक्षित हो रही है।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ के कुछ छन्दों में सेवकों का अपने आराध्य देवता के प्रति सेवाभाव भी दृष्टिगत होता है। इसी से सम्बन्धित छन्द निम्नलिखित है –

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदेव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजित पदाम्॥
– श्लोक २२, पृष्ठ २३०

अर्थात् – हे भवानी! तू मुझ इस दास पर भी अपनी करुणामयी दृष्टि डाल, इस प्रकार से जब कोई भक्त देवी से करुणामय याचना करता है तो देवी उस पर प्रसन्न होकर शीघ्र ही उसे सायुज्य पदवी भी प्रदान करती है। इसी प्रकार कुछ एक छन्दों में भक्तों के भिन्न-भिन्न साधना के उपायों का भी वर्णन प्राप्त होता है –

शिवःशक्तिः कामः क्षितिरथ रविःशीतकिरणः
स्मरो हंसःशक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिताः
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्॥

– श्लोक ३२, पृष्ठ ३०७

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
र्निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः।
भजन्ति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षव(र)लयाः
शिवाग्नौ जुह्वन्तः सुरभिघृतधाराहुतिशतैः॥

– श्लोक ३३, पृष्ठ ३२८

उपर्युक्त श्लोकों में साधक की साधना के अलग-अलग प्रकारों (साधनों) का विवरण स्पष्टरूपेण दिखाई देता है।

आचार्य ने *सौन्दर्यलहरी* में पतिव्रत के महत्त्व का वर्णन भी किया है –

अविश्रान्तं पत्युर्गुणगणकथाम्रेडनजपा
जपापुष्पच्छाया तव जननि जिह्वा जयति सा।
यदग्रासीनायाः स्फटिकदृषदच्छच्छविमयी
सरस्वत्या मूर्तिः परिणमति माणिक्यवपुषा॥

– श्लोक ६४, पृष्ठ १३५

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने देवी को भी पतिव्रत धर्म का पालन करते हुए दिखाया है –

> हे जननी! बिना थके पति के गुणानुवाद का बारम्बार जप करने वाली जवाकुसुम की द्युति सदृश लाल जिह्वा की जय हो जिसके अग्रभाग पर आसीन स्फटिक पत्थर की सी शुद्ध कान्तिमयी सरस्वती की मूर्ति के शरीर का वर्ण माणिक्य सदृश परिणत हो गया।

अतः यहाँ आचार्य ने दर्शन (अध्यात्म) पक्ष को हटाकर देवी की प्रशंसा एक

सामान्य भारतीय नारी के रूप में की है। इसी कारण से देवी भगवती जोकि भगवान् शिव की अर्धांगिनी है और वे भी अपने पति की प्रशंसा बिना थके हुए करती है, जिस प्रकार एक सामान्य स्त्री अपने पति की दीर्घायु की कामना में एवं उसके गुणों की प्रशंसा में कभी नहीं थकती है। अतः यहाँ देवी का चित्रण एक सामान्य भारतीय नारी के रूप में किया गया है। इसी प्रकार एक अन्य श्लोक निम्नलिखित है, जिसमें कि देवी में भी सामान्य नारियों की भाँति अपने पति शिवजी के अतिनिकट (जटाओं में) गंगा का निवास होने के कारण वे गंगा पर रोष करती हैं –

शिवे शृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गङ्गायां गिरिशचरिते विस्मयवती।
हराहिभ्यो भीता सरसिरुहसौभाग्यजननी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिस्सकरुणा॥

– श्लोक ५१, पृष्ठ ५५

अतः उपर्युक्त छन्द प्रायः सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को समाहित किए हुए हैं। इन छन्दों में प्रायः भारतीय संस्कृति के तत्त्व स्पष्टरूपेण परिलक्षित हो रहे हैं।

सौन्दर्यलहरी में विविध कलाओं का पर्यालोचन

आचार्य शंकर ने *सौन्दर्यलहरी* में जहाँ काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का पर्याप्त समावेश किया है वहीं आचार्य ने सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों का भी उल्लेख किया है। सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्वों में संगीत-कला, मूर्ति-कला, एवं आभूषण-कला आदि का उल्लेख होता है।

संगीत-कला

यद्यपि संगीत-कला एवं नृत्य-कला का परिचय पूर्व में "दुर्गासप्तशती में विविध कलाओं का पर्यालोचन" के अन्तर्गत दिया जा चुका है फिर भी संक्षेप में संगीत-कला का विकास वैदिक काल से माना गया है। वेदों में तीन प्रकार के वाद्य-यन्त्रों का वर्णन मिलता है। जिसमें आघात से बजने वाले यन्त्रों में ढोल, तार आदि से बने हुए वीणा और वायु के संचार से बजने वाले बाँसुरी आदि यन्त्र आते हैं। वेद-मन्त्रों से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक काल में संगीत-कला को पूर्ण आदर, सम्मान का भाव प्राप्त था। वैदिक काल में वाद्य एवं गेय दोनों रूपों के संगीत का उल्लेख प्राप्त होता है।

सौन्दर्यलहरी में संगीत-कला से युक्त छन्द दृष्टिगत होते हैं। उनमें से कुछ निम्नवत् हैं –

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्॥
– श्लोक ४१, पृष्ठ ३९२

प्रस्तुत श्लोक में सामान्य अर्थ में यही कहा गया है कि देवी भगवती जो कि लास्य नृत्य में संलग्न है। साथ ही भगवान् शंकर जोकि ताण्डव नृत्य को करने वाले हैं, का मैं चिन्तन करता हूँ, अर्थात् वन्दना करता हूँ। इसके अतिरिक्त एक अन्य श्लोक भी दर्शनीय है –

विपञ्च्या गायन्ती विविधमपदानं पशुपतेः-
त्वयारब्धे वभुं चलितशिरसा साधुवचने।
तदीयैर्माधुर्यैरपलपिततन्त्रीकलरवां
निजां वीणां वाणी निचुलयति चोलेन निभृतम्॥
– श्लोक ६६, पृष्ठ १४६

प्रस्तुत श्लोक में संगीत की महत्ता तथा वाद्य-यन्त्रों के रख-रखाव को स्पष्ट किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि जब देवी भगवती वीणा पर तान छेड़ती है तब (उस समय) वहाँ देवी सरस्वती के स्वर भी शिवा के सामने फीके पड़ जाते हैं। इस छन्द में यह बताना कि "सरस्वती अपनी वीणा को कपड़े में लपेटकर रख देती है।" यहाँ वाद्य-यन्त्रों को उचित सुरक्षा प्रदान करने की तरफ संकेत किया गया है।

इसके अनन्तर एक अन्य श्लोक जिसमें कि गान के लक्षणों को बताया गया है यह निम्नवत् है –

गले रेखास्तिस्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे
विवाहव्यानद्धप्रगुणगुणसंख्याप्रतिभुवः।
विराजन्ते नानाविधमधुररागाकरभुवां
त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते॥
– श्लोक ६९, पृष्ठ १६१

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य शंकर ने देवी के गले का ध्यान किया है। गान का आधार-स्वर जिसका उद्भव कण्ठ से होता है, साथ ही सुरों के आरोह-अवरोह क्रम को भी यहाँ कहा गया है। इस छन्द में देवी भगवती को समस्त गानों में निपुण मानते हुए ही आचार्य कहते हैं कि –

> हे गति, गमक और गीत में निपुणे। तेरे गले में पड़ी हुई तीन रेखाएँ जो विवाह के समय बाँधी गई महीन सौभाग्य सूत्रों की लड़ियों से पड़ गई है, ऐसी प्रतीत हो रही है, मानो वे नानाविध मधुर राग-रागिनियों की तीनों ग्रामों पर गाने से उनके स्थिति नियम की सीमा के चिह्न हों।

अतः उपर्युक्त छन्दों में संगीत, नृत्यादि कला के पर्याप्त लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

मूर्ति-कला

यद्यपि मूर्ति-कला का भी विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है फिर भी सामान्य परिचय इस प्रकार है – वस्तुतः मूर्ति-रचना तथा चित्र-रचना जैसी कलाएँ वास्तु-कला के ही अन्तर्गत आती हैं। वास्तु-कला प्रतिपादक ग्रन्थ *मानसार* में वस्तुतः विवेचन की ही प्रधानता है।

वस्तुतः *सौन्दर्यलहरी* में प्रमुख रूपेण कहीं भी मूर्ति-रचना जैसे विषयों से सम्बन्धित छन्दों का समावेश नहीं हुआ है। फिर भी आचार्य ने देवी-स्तुति में देवी के जिस स्वरूप का चित्र खींचा है तो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य ने देवी की सजीव मूर्ति-रचना का चित्रण किया हो। जिस प्रकार से आचार्य ने देवी के मुकुट, केशों, ललाट, भृकुटी, नासिका, ओष्ठ, मुस्कान, ग्रीवा, भुजाओं, हाथों आदि का वर्णन किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है मानों हम देवी भगवती की भव्य-मूर्ति का साक्षात् दर्शन कर रहे हों। साथ ही आभूषणों से सज्जित जिसमें कि कर्णफूल, नुपूर, स्फटिक मणि की माला, साड़ी से सुसज्जित भी हैं जिनके हाथों में वीणा, सितार जैसे वाद्य-यन्त्र भी शोभा पा रहे हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित छन्द द्रष्टव्य है –

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीर्तयति यः।
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणाम्॥
– *सौन्दर्यलहरी*, द्वितीय भाग, श्लोक ४२, पृष्ठ २

इसी प्रकार से आचार्य ने देवी के अन्य आभूषण, वस्त्रों एवं अन्य उपकरणों की भी विवेचना प्रस्तुत की है।

आभूषण-कला

सौन्दर्यलहरी में आभूषण-कला का विस्तृत वर्णन नहीं प्राप्त होता है। फिर भी आचार्य ने अपने कुछ एक छन्दों में देवी के आभूषणों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ छन्द निम्नलिखित हैं –

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरणीं
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः।
करालं यत्क्ष्वेलं कबलितवतः कालकलना
न शंभोस्तन्मूलं तव जननि ताटङ्कमहिमा॥

– श्लोक २८, पृष्ठ २७०

प्रस्तुत छन्द में यह कहा गया है कि – आभूषण इत्यादि नारियों के सौभाग्य के सूचक होते हैं। ब्रह्मा आदि देवता जरा-मरण का हरण करने वाली सुधा को पीकर भी इस विश्व में काल के शिकार होते हैं जबकि भगवान् शिव द्वारा हलाहल विष का पान करने पर भी उन पर काल का असर नहीं होता है। यह सब देवी के कर्णफूलों की ही महिमा है। इसी कारण देवी का सुहाग अनादि, अनन्त तथा अखण्ड है। इसी प्रकार एक छन्द और द्रष्टव्य है –

स्फुरद्गण्डाभोगप्रतिफलितताटङ्कयुगलं
चतुश्चक्रं मन्ये तव मुखमिदं मन्मथरथम्।
यमारुह्य (यमाश्रित्य) द्रुह्यत्यवनिरथमर्केन्दुचरणं
महावीरो मारः प्रमथपतये सज्जितवते॥

– श्लोक ५९, पृष्ठ १०६

प्रस्तुत श्लोक में कर्णाभूषणों का वर्णन आया है साथ ही यहाँ भी आभूषणों का विशेष महत्त्व दृष्टिगत हो रहा है।

वहत्यम्ब स्तम्बेरमदनुजकुम्भप्रकृतिभिः
समारब्धां मुभामणिभिरमलां हारलतिकाम्।
कुचाभोगो बिम्बाधररुचिभिरन्तः शबलितां
प्रतापव्यामिश्रां पुरदमयितुः कीर्तिमिव ते॥

– श्लोक ७४, पृष्ठ १९१

इस छन्द के माध्यम से आचार्य ने देवी की मुक्ता-मणियों से बनी माला के सौन्दर्य का वर्णन किया है। इसी के साथ ही एक अन्य श्लोक में भी देवी के आभूषणों की झलक प्राप्त हो रही है।

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनसः
स्खलन्तस्ते खेलं भवनकलहंसा न जहति।
अतस्तेषां शिक्षां सुभगमणिमञ्जीररणित-
च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते॥

– श्लोक ९१, पृष्ठ २९०

प्रस्तुत छन्द में यह बताया गया है कि देवी के भवन में जो हंस हैं वे प्रायः देवी की चाल देखकर ही चलना सीखते हैं और वे देवी के नूपुरों की ध्वनि सुनकर देवी का अनुगमन करते हैं। प्रायः स्त्रियों की चाल की हंस-गति से उपमा दी जाती है। जबकि देवी भगवती की चाल से स्वयं हंस चलने की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।

अतः उपर्युक्त छन्दों में प्रायः देवी के आभूषणों में, कर्णफूलों, स्फटिक मणि की माला, नूपुर एवं मुकुट आदि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार से उपर्युक्त छन्दों के माध्यम से *सौन्दर्यलहरी* में आभूषण-कला का समुचित समावेश दृष्टिगत होता है।

सौन्दर्यलहरी में नारीत्व का उत्कर्ष

सौन्दर्यलहरी वस्तुतः नारी प्रधान-ग्रन्थ है, साथ ही इसमें नारीत्व का उत्कर्ष अपने चरम पर है। क्योंकि प्रायः कई स्थानों पर देवी भगवती का चित्रण एक सामान्य स्त्री के रुप में किया गया है। आचार्य ने नारीस्वरूपा देवी भगवती को ही सर्वशक्तिशालिनी एवं त्रिकालदर्शिनी के रूप में स्वीकार किया है। ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में शक्ति के अध्यात्म पक्ष का निरूपण किया गया है जबकि उत्तरार्द्ध में मात्र देवी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। शंकराचार्य ने यत्र-तत्र-सर्वत्र देवी की ही सत्ता स्वीकार की है। आचार्य ने अपने प्रथम श्लोक में ही स्पष्ट कर दिया है कि –

शिवःशक्त्या युक्तो यदि भवति शभः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

– श्लोक १, पृष्ठ १

अर्थात् – यदि शिव शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान् होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने के योग्य भी नहीं था।

इसके साथ ही कई छन्दों में तो देवी में एक सामान्य नारी के भी समस्त लक्षण प्राप्त होते हैं जैसेकि पतिव्रत धर्म का पालन एवं गंगा (जो कि भगवान् शिव की जटाओं में स्थित है) से द्वेष रखना तथा अपने पति के लिए समस्त सौभाग्यसूचक आभूषणादि को धारण करना।

विरिञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम्।
वितन्द्री माहेन्द्री विततिरपि संमीलित दृशा
महासंहारेऽस्मिन्विहरति सति त्वत्पतिरसौ॥

– श्लोक २६, पृष्ठ २५६

प्रस्तुत छन्द में यह बताया गया है कि जब प्रलय होता है उस समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी विरति को प्राप्त हो जाते हैं जबकि तुम्हारे पति शिव तब भी विहार करते रहते हैं अर्थात् तुम्हारा सौभाग्य सदा रहने वाला है। एक अन्य श्लोक में भी देवी में सामान्य नारी सुलभ लक्षण दृष्टिगत होते हैं –

किरीटं वैरिञ्चं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमकुटम्।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोभिर्विजयते॥

– श्लोक २९, पृष्ठ २७६

यहाँ यह बताया गया है कि "शंकर को अकस्मात् अपने भवन में आते देख, खड़ी होकर स्वागतार्थ आगे बढ़ती है।" इस पंक्ति से यह स्पष्ट हो रहा है कि देवी भी अपने पति शिव का उसी प्रकार से स्वागत एवं सम्मान करती है जिस प्रकार एक सामान्य स्त्री। एक छन्द में तो शिवा को ही विश्व की परिणति का कारण मान लिया है।

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥

– श्लोक ३५, पृष्ठ ३४९

यहाँ नारीस्वरूपा देवी को तू मन है, तू वायु है और वायु जिसका सारथि है – वह अग्नि भी तू ही है। तेरी परिणति से बाहर कुछ भी नहीं है। अर्थात् समस्त विश्व तेरे परिणाम का रूप है। अतः प्रस्तुत छन्द में नारीत्व का चरम उत्कर्ष परिलक्षित हो रहा है। *सौन्दर्यलहरी* में देवी-भगवती का कई रूपों में चित्रण हुआ है। प्रथमतः तो देवी को शिव की परम शक्ति एवं अर्धांगिनी माना गया है साथ ही आचार्य ने उत्तरार्द्ध में देवी के सौन्दर्य की चर्चा की है जोकि सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। इसके अतिरिक्त आचार्य ने देवी में नारी-सुलभ समस्त गुणों को दर्शाया है। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर नारीत्व का उत्कर्ष स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

उभय ग्रन्थों में सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से भी अध्ययन करने का पर्याप्त अवकाश है, देवी का शृंगारपरक सौंदर्य रसानुभूति का अंग है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में रसानुभूति को ही सौन्दर्यशास्त्र माना गया है। इस दृष्टि से दुर्गा के सौन्दर्य-विषयक ध्यान से उत्पन्न आनन्द में भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के दर्शन होते हैं। *दुर्गासप्तशती* में भी *सौन्दर्यलहरी* की ही भाँति ध्यानावस्था में रसानुभूति हुई है। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण से सौन्दर्यशास्त्रीय आयाम उभय ग्रन्थों में विवृत्त होते हैं।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से उभय ग्रन्थों में जो सौन्दर्य प्रस्तुत किया गया है उसमें आँखों के द्वारा दर्शनीय सौन्दर्य इन्द्रिय अनुभूति का विषय होते हुए ध्यान को केन्द्रित करता है। दुर्गा के रूपात्मक आयाम में इसकी सृष्टि हुई है। आचार्य शंकर एवं मार्कण्डेय दोनों ऋषि हृदय से भक्त हैं और उनकी भक्ति का समर्पण देवी के अपार सौन्दर्य-वैभव एवं शक्ति-विमर्श में विगलित होता है। इस प्रकार उभय ग्रन्थों में सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन परखा जा सकता है।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति में शक्ति को प्रकृति के रूप में सम्पूर्ण सृष्टि की निर्मात्री स्वीकार किया गया है। समस्त सृष्टि की कारणभूता आदि शक्ति को "दुर्गा", "काली", "पार्वती" आदि विभिन्न नामों से अभिहित करके उसकी उपासना की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यद्यपि समय और समाज में परिवर्तन के अनुरूप शक्ति की उपासना-पद्धति में भी परिवर्तन होता रहा है और इस परिवर्तन के आधार पर उपासना-पद्धति से सम्बन्धित विभिन्न ग्रन्थों का भी प्रणयन होता रहा है किन्तु इन सभी पद्धतियों में शक्ति के मूल स्वरूप के प्रतिपादन में किसी प्रकार का मत वैभिन्य नहीं दिखाई पड़ता। वेदों से लेकर अद्यतन ग्रन्थों तक सर्वत्र शक्ति की महत्ता समान रूप से स्वीकार की गई है। *अथर्ववेद* में देवी के विश्वात्मिका स्वरूप को बड़े विस्तार से निरूपित किया गया है। *देवी-सूक्त* के अन्तर्गत देवी को रुद्र, वसु, आदित्य, मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि, आदि देवताओं को धारण करने वाली, एकमात्र चैतन्य-स्वरूपा, सृष्टि की स्थिति और विनाश करने वाली, समस्त ज्ञान की धात्री, आदि के रूप में उनकी महत्ता स्वीकार की गई है। परवर्ती शास्त्रों में ब्रह्म के जड़ और चेतन दो स्वरूप किए गए हैं और दोनों का समन्वित रूप शक्ति स्वीकार किया गया है। वेदान्त यह स्वीकार करता है, ब्रह्म के अन्दर शक्ति स्वभाव से ही मौजूद रहती है और विश्व की उत्पत्ति उसी शक्ति से होती है। शक्ति और ब्रह्म में भेद नहीं है।

उपर्युक्त सर्वव्यापी चिन्मय परा-शक्ति की पूजा और उपासना हिन्दु संस्कृति में अनादि-काल से चली आ रही है। शक्ति के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूप मान्य हैं और दोनों ही स्वरूपों का ध्यान-पूजन बिना किसी भेदभाव के एक जैसी पूजा-पद्धतियों से किया जाता रहा है। पुराणों में भी शक्ति का यही उभयात्मक स्वरूपा माना गया है। *श्रीमद्देवीभागवत, मार्कण्डेय पुराण,* आदि में शक्ति के साकार और निराकार रूप की एक साथ उपासना का विधान प्राप्त होता है। *दुर्गासप्तशती मार्कण्डेय पुराण* का ही अंशभूत ग्रन्थ

है जिसमें निर्गुण-निराकार, विश्वात्मिका आदि-शक्ति के सगुण साकार होकर विश्व के कल्याण कार्य में लगी है, दिखाया गया है। विश्व ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली, सृष्टि की आदि हेतु महामोहरूपा, महाविद्या, महामाया शक्ति तत्त्व जगत् के कल्याण कार्य के लिए दुर्गा, काली, लक्ष्मी, पार्वती, आदि विभिन्न स्वरूप धारण करती है और सज्जनों तथा भक्तों के चित्त को आह्लादित करने के लिए विभिन्न प्रकार की लीलाएँ करती है। भक्तगण शक्ति की इस लीला से अभिभूत होकर उसकी महिमा का गुणगान करते रहते हैं और इसी प्रक्रिया में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन होता चलता है। इस परम्परा के बीच में पड़ने वाला एक विश्राम-बिन्दु "आचार्य शंकर" की भक्तिभावपूर्ण रचना *सौन्दर्यलहरी* के रूप में प्राप्त होता है। *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थ एक ही मूल विषय के प्रतिपादक हैं। एक उस मूल विषय (शक्ति तत्त्व) का कथात्मक वर्णन करता है तो दूसरा उसके प्रभाव को स्तुतियों में निरूपित करता है। इस प्रकार दूसरा ग्रन्थ (*सौन्दर्यलहरी*) प्रथम ग्रन्थ (*दुर्गासप्तशती*) के विस्तृत वर्णन विधान के अंग के रूप में अपना महत्त्व सिद्ध करता है।

दुर्गासप्तशती में शक्ति की महिमा के गायन को प्रबन्धात्मक स्वरूप दिया गया है। राजा सुरथ, समाधि वैश्य और मेधा ऋषि के वार्तालाप कथा की भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जीवन भर धर्मनीति से शासन करते रहने और अपने समस्त परिजन एवं पूर्वजनों की हित रक्षा में सतत् संलग्न रहने के बाद भी राजा सुरथ अपने ही अमात्यों और सेनापतियों द्वारा हृतराज्य हो जाते हैं और अन्त में शिकार के बहाने जंगल की शरण लेते हैं। वहाँ मुनि श्रेष्ठ "मेधा" के आश्रम में रहते हुए उनकी भेंट समाधि नाम के वैश्य से होती है जिसे राजा की ही भाँति उसके भी आत्मीयों (स्त्री-पुत्रों, आदि) ने धन के लोभ में आकर घर से निकाल दिया है। आत्मीयों द्वारा इस प्रकार निराश्रित होने के बाद भी वे दोनों ही अपने-अपने परिवारों के प्रति मोह में आबद्ध हैं। राजा सुरथ मेधा ऋषि से इस रहस्य का कारण जानना चाहते हैं कि उन दोनों के मन में यह ममता-जनित आकर्षण क्यों पैदा हो रहा है जिसके प्रभाववश वे ज्ञानी होते हुए भी मूढ़ों जैसा व्यवहार कर रहे हैं। महर्षि मेधा राजा के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यद्यपि उनमें (राजा में) तथा उनके जैसे अन्य भी बहुत से लोगों में ज्ञान की कमी नहीं है तथापि वे संसार की स्थिति बनाए रखने वाली भगवती महामाया के प्रभाव द्वारा ममतामय भँवर से युक्त मोह के गहरे गर्त्त में गिराए गए हैं। जगदीश्वर भगवान् विष्णु की योग-निद्रा रूपा जो भगवती महामाया हैं, उन्हीं से यह जगत् मोहित हो रहा है। वे भगवती महामाया ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह में डाल देती है।

लोभात्प्रत्युपकाराय नन्वेतान् किं न पश्यसि।
तथापि ममतावर्त्ते मोहगर्ते निपातिताः॥

महामायाप्रभावेण संसारस्थितिकारिणा।
तन्नात्र विस्मयः कार्यो योगनिद्रा जगत्पतेः॥

महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा॥

— *दुर्गासप्तशती*, अध्याय १, श्लोक ५३-५६, पृष्ठ ६७

ऋषि के इस उत्तर को सुनकर राजा के मन में उस सत्य के विषय में विस्तार से जानने की इच्छा उत्पन्न होती है और वे ऋषि से उसके आविर्भाव, स्वरूप, चरित्र, प्रभाव, आदि के विषय में सुनने की इच्छा करते हैं। यहीं से इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु का आरम्भ होता है। ऋषि राजा को देवी के शरीर धारण करने तथा महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ, आदि राक्षसों के मारने की कथा सुनाते हैं और अन्त में राजा सुरथ तथा समाधि को देवी की उपासना का उपाय बताते हैं। जिसका अनुसरण करके वे दोनों ज्ञान प्राप्त करते हैं।

दुर्गासप्तशती में वर्णित देवी की कथा एक व्यापक उद्देश्य लेकर चलती है। इसमें ग्रन्थकार स्वयं तो देवी के प्रभाव और उनकी महिमा से अभिभूत है ही साथ ही वह व्यापक समाज को भी देवी की भक्ति के प्रति मनसा-वाचा-कर्मणा तत्पर होने का सदुपदेश भी देता है। देवी यद्यपि सम्पूर्ण सृष्टि की कारयित्री है और राग-द्वेष से परे है फिर भी अपने भक्तों के लिए वे समस्त सांसारिक विधान करती है। एक ओर वे मोक्ष के आकाँक्षी साधकों को मोक्ष प्रदान करती है तो दूसरी ओर सांसारिक सुख की कामना रखने वाले भक्तों की सांसारिक इच्छाओं को भी पूर्ण करती है। भक्त जिस प्रकार की कामना रखकर उनकी आराधना में प्रवृत्त होता है। उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। देवी किसी के शत्रुओं का विनाश करती है, किसी की विघ्न-बाधाएँ दूर करती है तो किसी के दारिद्रय को दूर करके उसे सम्पन्नता प्रदान करती है। वे अत्यन्त आर्द्र-हृदय वाली है और अपने भक्तों के प्रति सदैव दयालु है।

सर्वाबाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम्॥

— *दुर्गासप्तशती*, अध्याय ग्यारह, श्लोक ३९, पृष्ठ १६७

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता॥

— *दुर्गासप्तशती*, पृष्ठ २३६

सौन्दर्यलहरी भी देवी की आराधना और भक्ति पर आधारित मुक्तक छन्दों का ग्रन्थ है। इसके आरम्भ में *दुर्गासप्तशती* जैसा कथा-विधान नहीं है किन्तु आरम्भ में देवी की महिमा के वर्णन में प्रायः वे ही गुण व्यक्त किए गए हैं जैसे *दुर्गासप्तशती* के आरम्भ में प्रारम्भ होते हैं। *दुर्गासप्तशती* में देवी को सम्पूर्ण सृष्टि की कारयित्री बताया गया है —

तया विसृज्यते विश्वं जगदेतच्चराचरम्।

— प्रथमोऽध्यायः ५६, पृष्ठ ६७

सौन्दर्यलहरी में प्रथम श्लोक में ही देवी को ब्रह्म (शिव) की शक्ति के रूप में सृष्टि की कारणरूपा बताया गया है। शक्ति के अभाव में ईश्वर सृष्टि की रचना करने में सर्वथा असमर्थ है —

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक १, पृष्ठ १

दुर्गासप्तशती में कथा की भूमिका के रूप में देवी के प्रभाव का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं कि — "वे (देवी) प्रसन्न होने पर मनुष्यों को मुक्ति के लिए वरदान देती हैं, वे ही पराविद्या, संसार-बन्धन और मोक्ष की हेतभूता सनातनी देवी तथा सम्पूर्ण ईश्वरों की भी अधीश्वरी हैं।"

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी॥
संसारबन्धहेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी॥

— *दुर्गासप्तशती*, अध्याय १, श्लोक ५७, ५८, पृष्ठ ६८

इसी प्रकार का भाव *सौन्दर्यलहरी* के तीसरे श्लोक में व्यक्त हुआ है जिसमें कहा गया है कि शक्ति की उपासना से अज्ञान का नाश होता है। दरिद्रों को धन मिलता है, जड़ता का नाश होता है और संसार-सागर में डूबते हुओ को सहारा मिलता है। श्लोक द्रष्टव्य है —

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरद्वीपनगरी
जडानां चैतन्यस्तबकमकरन्दस्रुतिझरी।
दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्मजलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवति॥

— *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक ३, पृष्ठ ६०

अर्थात् — तू अविद्या में पड़े हुओं के हृदयान्धकार को हटाने के लिए (ज्ञानरूपी) सूर्य का उद्दीपन करने वाली है, जड़ मनुष्यों के लिए चैतन्य स्तबक से निकलने वाले मकरन्द के स्रोतों का झरना है, दरिद्रों के लिए चिन्तामणियों की माला है और जन्म-मरणरूपी संसार-सागर में डूबे हुओं का विष्णु भगवान् के वराहावतार के दाँत के सदृश उद्धार करने वाली है।

दुर्गासप्तशती में देवी की भक्ति से सम्बन्धित समस्त तत्त्वों एवं विधानों का विस्तार से वर्णन किया गया है। आराध्य के नाम, रूप, लीला और धाम (भक्ति के चार आधारों) का क्रमशः वर्णन और विवेचन *दुर्गासप्तशती* में योजनाबद्ध ढंग से दिखाई पड़ता है। प्रथम अध्याय में देवी की स्तुति करते समय ब्रह्मा उनके विभिन्न नामों का स्मरण करते हैं। देवी के ये समस्त नाम उनकी महत्ता और प्रभाव के सूचक के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। दूसरे अध्याय में देवी का दुर्गा के रूप में आविर्भूत होना और देवताओं को दुःखों से छुटकारा दिलाने के आश्वासन का वर्णन किया गया है। इसमें देवी के अलौकिक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। रूप वर्णन के अनन्तर आगे के दस अध्यायों तक देवी की लीलाओं का गान किया गया है। देवी की लीलाएँ सात्त्विक जनों के चित्त को आनन्दित करने वाली, भक्तों के कल्याण एवं रक्षार्थ की गई हैं। अन्त के तीन अध्यायों में देवी के धाम के रूप में सम्पूर्ण विश्व को लक्षित किया गया है और उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने धामरूप विश्व की सततू रक्षा करती रहें। *सौन्दर्यलहरी* में नाम, रूप, लीला और धाम का क्रम तो प्राप्त होता है किन्तु ये वर्णन अत्यन्त श्लिष्ट एवं गूढ़ार्थ वाले हैं। देवी के रूप का वर्णन इसमें प्रतीकात्मक शब्दों में किया गया है। देवी विश्वरूप है, उनका सौन्दर्य कल्पनातीत है, उनके अलौकिक सौन्दर्य को देखकर अप्सराएँ तक ध्यानस्थ हो जाती हैं। ऐसे अलौकिक सौन्दर्य का स्थूल वर्णन कर पाना किसी भी कवि के लिए कहाँ सम्भव है। ऐसे अलौकिक सौन्दर्य वाली देवी की लीलाएँ भी अलौकिक हैं। उनकी (देवी की) दृष्टि-मात्र पड़ने से ही अत्यन्त कुरूप, बूढ़ा और जड़-बुद्धि मनुष्य भी ऐसा रमणीय हो जाता है कि सैकड़ों सुन्दरियों का

अभीष्ट बन जाता है। *दुर्गासप्तशती* में वर्णित देवी का अत्यन्त दयार्द्र रूप *सौन्दर्यलहरी* में भी दिखाई पड़ता है। *सौन्दर्यलहरी* ने भी बार-बार दोहराया है कि देवी का स्मरण करने वाला देवी की कृपा शीघ्र प्राप्त कर लेता है जिससे उसके लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता है। भक्त जैसे ही देवी से अपनी दीनता का उल्लेख करता है देवी उसी समय उसे देव-दुर्लभ सायुज्य पद प्रदान कर देती है –

> **भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-**
> **मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।**
> **तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्य पदवीं**
> **मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमकुटनीराजितपदाम्॥**
> – *सौन्दर्यलहरी*, श्लोक २२, पृष्ठ २३०

दुर्गासप्तशती और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ग्रन्थों का सम्बन्ध शक्ति-उपासना से है। *दुर्गासप्तशती* में उपासना के समस्त अंगों (कारण, विधि, सिद्धान्त और फल-प्राप्ति) का सम्यक् रूप से वर्णन किया गया है। इसमें भक्ति के नवधा आदि भेदोपभेदों का नाम न देते हुए भी सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है। जबकि *सौन्दर्यलहरी* में स्तुति की प्रधानता है। इस अन्तर का कारण भी स्पष्ट है। *दुर्गासप्तशती* भक्तिपरक प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें एक निश्चित योजना के अनुसार विषय-वस्तु का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है जबकि *सौन्दर्यलहरी* मुक्तक छन्दों का संकलन है जिसमें भक्त-हृदय के भावों को सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिली है। अतः इसमें भावों की गम्भीरता तो यथेष्ट है किन्तु उनका विस्तार अपेक्षाकृत कम है। स्तुतिपरक श्लोकों में प्रासंगिक रूप से यत्र-तत्र भक्ति के सिद्धान्तों एवं उपासना विधियों का भी संकेत प्राप्त होता है किन्तु इनमें क्रमबद्धता का अभाव है।

दार्शनिक तत्त्व के विवेचन की दृष्टि से दोनों ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों में ही शक्ति तत्त्व की विशद् विवेचना प्राप्त होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि *दुर्गासप्तशती* में प्राप्त होने वाला विवेचन वर्णनात्मक और सरल है जबकि *सौन्दर्यलहरी* के श्लोकों में निहित आध्यात्मिक अर्थ विशेष व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। ये श्लोक अध्यात्म-शास्त्र के सूत्रों के रूप में देखे जा सकते हैं। स्वामी विष्णुतीर्थ ने *सौन्दर्यलहरी* के एक-एक श्लोक को लेकर विशद् और गूढ़ आध्यात्मिक विवेचन किया है। मात्र कुछ श्लोकों में ही शक्ति-उपासना की पूरी परम्परा प्राप्त हो जाती है। इस दृष्टि से *सौन्दर्यलहरी* क्लिष्ट भावबोध-परक ग्रन्थ के रूप में दिखाई पड़ती है। यद्यपि तुलनात्मक रूप में दोनों ग्रन्थों में

व्यक्त आध्यात्मिक तत्त्व समान हैं किन्तु उनकी निरूपण शैली पूर्णतः भिन्न है।

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से दोनों ही ग्रन्थ अपनी-अपनी सीमा के अन्तर्गत उत्कृष्ट हैं। *दुर्गासप्तशती* एक प्रबन्धात्मक कृति है जिसमें प्रबन्ध काव्य के शास्त्रीय स्वरूप का ध्यान रखा गया है। इसमें सम्पूर्ण कथा तेरह अध्यायों में विभक्त है जो कि प्रबन्ध काव्य के सर्गबद्ध होने और सर्गों की संख्या आठ या उससे अधिक होने की अनिवार्यता का निर्वाह करता है। प्रबन्ध काव्य के लक्षणानुरूप इसमें छन्द वैभिन्य, विस्तृत कथा एक रस (वीर रस) की प्रधानता तथा अन्य रसों की सहायक रूप में उपस्थिति है। युद्ध, रणयात्रा, शान्ति, एवं अन्य लोकाचारों, आदि का यथास्थान वर्णन हुआ है। उभय ग्रन्थों में अलंकार, गुण और रीतियाँ प्रसंगानुसार सम्यक् परिमाण में प्राप्त है। प्रबन्ध काव्य होने के नाते *दुर्गासप्तशती* में गुणों और रीतियों के लिए अवकाश अधिक है, माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण तथा वैदर्भी, गौणी और पांचाली रीतियाँ इस ग्रन्थ में अधिकाधिक स्थानों पर प्रयुक्त हुई हैं जबकि *सौन्दर्यलहरी* में माधुर्य गुण और वैदर्भी रीति की प्रधानता है। इसमें आद्योपान्त एक ही छन्द शिखरिणी का पदलालित्य की दृष्टि से ही प्रयोग किया गया है। *सौन्दर्यलहरी* के अधिकांश छन्द अपेक्षाकृत अधिक लालित्यपूर्ण हैं। शृंगार रस का वर्णन भी इसमें *दुर्गासप्तशती* की अपेक्षा अधिक रमणीय बन पड़ा है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि *दुर्गासप्तशती* में देवी के नख-शिख वर्णन में अत्यधिक शिष्टता एवं शालीनता का निर्वाह हुआ है जबकि *सौन्दर्यलहरी* के कुछ छन्द शृंगारिकता की पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए लगते हैं। भले ही देवी के प्रति भक्ति और पूज्य भाव की अभिव्यक्ति होने के कारण ये वर्णन सात्विकता से आवृत्त हैं किन्तु इनकी वर्णन-शैली के निरावृत्त होने में कोई सन्देह नहीं है। ऐसी स्थिति में इन छन्दों पर शृंगारिकता का आरोप लगना अस्वाभाविक नहीं है।

स्वतन्त्र कलाशास्त्रीय दृष्टि से उभय आलोच्य ग्रन्थ समृद्ध है। संगीतात्मकता, चित्र-कला, मूर्ति-कला, वस्त्राभूषण, साज-सज्जा, आदि से सम्बन्धित पक्ष दोनों ग्रन्थों में अपनी अनेकानेक विशिष्टताओं के साथ प्राप्त होते हैं। *दुर्गासप्तशती* में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों – फरसा, गदा, बाण, वज्र, धनुष, कुण्डिका, दण्ड, शक्ति, खड्ग, ढाल, शूल, पाश, चक्र, आदि; अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण जैसे चूड़ामणि, कुण्डल, कड़े, अर्धचन्द्र, केयूर, नूपुर, हँसली, अँगूठियाँ, मुकुट, नागहार, मधुपात्र, साड़ी, चोली, आदि; अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्र जैसे शंख, घण्टा, नगाड़ा, वीणा, आदि का वर्णन उनके सम्यक् प्रयोग स्थान एवं प्रयोग-विधि के साथ प्राप्त होते हैं। *दुर्गासप्तशती* के

अंगभूत वैकृतिक और मूर्ति रहस्यों में देवी की प्रतिमाओं की सुन्दर झाँकी तैयार करने के लिए सम्पूर्ण विधान बताया गया है। इसमें यहाँ तक बताया गया है कि देवी के किस हाथ में कौन-सा अस्त्र है? उनका वस्त्र-विन्यास कैसा है? वे सिंह पर किस प्रकार बैठी हैं और किस प्रकार देख रही हैं? उनके किस ओर किस अन्य देवी या देवता की प्रतिमा किस साज-सज्जा के साथ होनी चाहिए, आदि-आदि। यह सम्पूर्ण वर्णन कलाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन कलाशास्त्रीय उपकरणों का वर्णन *सौन्दर्यलहरी* में भी प्राप्त होता है। साहित्यिक एवं आलंकारिक भाषा के प्रयोग से *सौन्दर्यलहरी* में प्राप्त होने वाला वर्णन अधिक कलात्मक बन पड़ा है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि *दुर्गासप्तशती* और *सौन्दर्यलहरी* दोनों ही ग्रन्थ देवी की भक्ति-परम्परा के मानक ग्रन्थ हैं। दोनों ग्रन्थों में भक्ति, दर्शन, काव्यशास्त्रीय तत्त्व, सौन्दर्यशास्त्रीय तत्त्व, आदि उत्कृष्ट रूप में मिलते हैं, जो ग्रन्थों की चारुता, कलात्मकता और उपादेयता की अभिवृद्धि करने में सर्वथा समर्थ हैं। दोनों ही ग्रन्थ संस्कृत भक्ति साहित्य विशेषकर शाक्त परम्परा की अमूल्य धरोहर हैं।

उभय ग्रन्थों में वर्णित तत्त्व मुख्य रूप से तीन रूपों में उपस्थित हैं। सांस्कृतिक, तान्त्रिक एवं साहित्यिक।

सौन्दर्यलहरी का मूल आधार तन्त्र है, जो साहित्य के मेघों से आच्छादित होने पर भी समय-समय पर विद्युत प्रभा की भाँति चमक पड़ता है।

दुर्गासप्तशती में तन्त्र अपने पूर्ण रूप में नहीं आया है, तथापि मूल तथ्यों से इन्कार नहीं किया जा सकता। समग्रतः तन्त्र, संस्कृति तथा साहित्य का त्रिक यहाँ विद्यमान है।
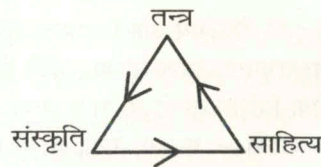
संदर्भ-ग्रन्थ सूची

अलंकारसर्वस्व — जयरथकृत, 'विमर्शिनी' राजानक रुय्यक प्रणीत 'सहृदयलीला' सहित) श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २०६, तृतीय संस्करण, २००२, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

आत्मनाविवेक-आत्मबोधश्च — शंकराचार्य। (आत्मबोधः) पूज्यपाद श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीतः पण्डितरामस्वरुपशर्म्मणा प्रणीत्या सान्वय-भाषाटीकया सहितः मुम्बापुर्यां 'नेटिव ओपिनियन' मुद्रणालयेड यित्वा प्रकाश्यं नीतः। शकाब्दाः १७३७, संवशब्दाः 1972

आधुनिक अवधि का समकाव्य, श्रीकान्तमणि शुक्ल, शोधप्रबन्ध।

ईशावास्योपनिषद् (शांकरभाष्य सहित), तैंतीसवाँ पुनर्मुद्रण, सम्वत् २०६६, गीताप्रेस, गोरखपुर।

ईशाधष्टोत्तरशतोपनिषदः (*योगशिखोपनिषद्*), मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा दुर्लभ सुसम्पादित ग्रन्थों की पुनर्मुद्रण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित, वर्ष २००३, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

उज्जवलनीलमणि — रूपगोस्वामी (जीवगोस्वामी विरचित लोचन रोचनी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती विरचित आनन्दचन्द्रिका टीकाओं सहित), निर्णय सागर प्रेस मुम्बई के संस्करण का पुनर्मुद्रण, १९८५, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।

कला अनुभव, एम. हरिअन्ना (अनुवाद उदय प्रताप प्रकाश), प्रथम संस्करण, १९८५, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली।

कला विवेचन, कुमार निर्मल, प्रथम संस्करण, १९६८, भारती भवन, पटना।

कल्याण, नारी अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर।

कल्याण, शक्ति अंक, सम्पादक हनुमान प्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर।

कल्याण, हिन्दू संस्कृति अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर।

कामायनी (श्रद्धा-अंक), लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद।

काव्यप्रकाशः — आचार्य मम्मट, ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला ९२, षष्ठम संस्करण, २०४२ वि० सं०, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

काव्यादर्श — दण्डी, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण, १९९६, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

काव्यालंकारसूत्राणि — वामन, श्रीकाशी संस्कृत ग्रन्थमाला २०६, सप्तम संस्करण, २००६, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी।

चन्द्रालोकः — जयदेव, चौखम्भा सुरभारती ग्रन्थमाला २६, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००० ई०, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

चरक संहिता — मानव संसाधन विकास मंत्रालय की दुर्लभ सुसम्पादित ग्रन्थों की पुनर्मुद्रण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००६, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथमावृत्ति, २०००।

तैत्तिरीयोपनिषद् (शांकरभाष्य सहित), बाइसवां पुनर्मुद्रण, संवत २०६५, गीताप्रेस, गोरखपुर।

ध्वन्यालोकः — (अभिनवगुप्तकृत लोचन सहित) आचार्य आनन्दवर्धन, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला ९७, पुनर्मुद्रित संस्करण, २०००, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

नाट्यशास्त्रम् — भरतमुनि, सम्पादक केदारनाथ साहित्यभूषण मानव संसाधन विकास मन्त्रालय की दुर्लभ सुसम्पादित ग्रन्थों की पुनर्मुद्रण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित संस्करण २००२, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

ब्रह्मवैवर्तपुराणम् (पूर्वभाग), द्वितीय संस्करण, सन् २००१, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

ब्रह्मवैवर्तपुराणम् (उत्तर भाग), द्वितीय संस्करण, सन् २००२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (भाष्यरत्नप्रभा, भामती, न्यायनिर्णय टीकाओं सहित) सम्पादक जगदीश शास्त्री, प्रथम संस्करण, १९८०, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

भगवद्गीता, व्याख्याकार, सर्वपल्लिराधाकृष्णन, सरस्वती विहार, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली।

भरतमुनि प्रणीतम् नाट्यशास्त्रम् (अभिनवगुप्ताचार्य विरचित अभिनवभारती संस्कृत व्याख्या सहित) — प्रथम भाग, परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या ४, द्वितीय संस्करण १९८८, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली।

भागवत् (आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ), आचार्य बलदेव उपाध्याय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स प्रकाशन, चौक, वाराणसी।

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त — राजवंश सहाय हीरा, विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला-११३, प्रथम संस्करण, १९७६, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

भारतीय दर्शन, आलोचन और अनुशीलन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली।

भिखारीदास की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का समालोचनात्मक अध्ययन, शोध प्रबन्ध, राजेन्द्र प्रसाद द्विवेदी।

मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य (तन्त्रानुसार), शिवशंकर अवस्थी शास्त्री, विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ९५, प्रथम संस्करण, १९६६, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।

महाकाल संहिता (कामकला, कालीखण्डः), चौखम्भा सुरभारती ग्रन्थमाला ४०३, प्रथम संस्करण, २००६, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

महाकाल संहिता (गुह्यकालीखण्डः), प्रथमोभागः, सम्पादक किशोरनाथ झा, प्रथम संस्करण, १९७६, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद।

महाभारतम् — प्रथमोभागः (श्रीनीलकण्ठकृत भारतभावदीपटीका सहित), प्रथम संस्करण, १९८३, सनातनशास्त्रम् प्रकाशन, नई दिल्ली।

रसगंगाधर — पण्डित राज जगन्नाथ, बिट्ठलदास संस्कृत सीरीज-२, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी।

रामायणम् — बाल्मीकि (रामकृत तिलक व्याख्या समेत) प्रथम भाग व द्वितीय भाग, सम्पादक — वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर (निर्णयसागर मुद्रणालय मुम्बई द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण), (चतुर्थ संस्करण १९३०), १९८३, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी।

ललिता स्तवराज द्वारा उद्धृत, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, कालिदास की लालित्य योजना, राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली।

वैदिक संहिताओं में नारी, मालती शर्मा, विश्वविद्यालय रजत जयन्ती ग्रन्थमाला ९, प्रथम संस्करण १९९०, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

विष्णुरहस्य, चमनलाल गौतम, द्वितीय संस्करण, १९७८, संस्कृत संस्थान, बरेली।

श्रीदुर्गासप्तशती, प्रथम संस्करण का नवासीवाँ पुनर्मुद्रण, सम्वत् २०६३, गीताप्रेस, गोरखपुर।

विशेष — दुर्गासप्तशती के श्लोकों के उद्धरण प्रायः गीताप्रेस संस्करण से दिए गए हैं। जहाँ अन्य किसी संस्करण का उद्धरण दिया गया है वहाँ यथास्थान उसका उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित), चौबीसवाँ संस्करण, सम्वत् २००७, गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीमद्भगवद्गीता (श्लोकार्थ सहित), प्रथम संस्करण तथा द्वितीय पुनर्मुद्रण सम्वत् २०६१, गीताप्रेस, गोरखपुर।

विशेष — श्रीमद्भगवतगीता के मूल श्लोकों के उद्धरण गीताप्रेस के इसी संस्करण से दिए गए हैं जहाँ अन्य किसी संस्करण का उद्धरण दिया गया है वहाँ यथास्थान उसका उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्भागवत् (श्रीधरीटीका सहित), निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई के संस्करण का पुनर्मुद्रण, १९८८, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

श्रीरामचरितमानस — गोस्वामी तुलसीदास, सत्तरवां संस्करण, सम्वत् २०६०, गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्री श्री भक्तिरसामृतसिन्धुः — रूपगोस्वामी, प्रथम संस्करण, १९९८, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, नई दिल्ली, और मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

संस्कृत आलोचना, बलदेव उपाध्याय, चतुर्थ संस्करण, १९९१, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

संस्कृत का अध्ययन, राजेन्द्र प्रसाद, श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना।

संस्कृत में वैष्णव स्तोत्र काव्य — एक अध्ययन, डॉ० कृष्ण कुमार मिश्र, ओम प्रकाशन, सीतापुर।

संस्कृत साहित्य का इतिहास — आचार्य बलदेव उपाध्याय, दशम् संस्करण, पुनर्मुद्रण २००१, शारदा निकेतन, वाराणसी।

संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास — कपिलदेव द्विवेदी, २००४, रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद।

संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास — कपिलदेव द्विवेदी, सन् २००४, रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद।

सप्तशतीसर्वस्वम् नाम नानाविधसप्तशतीरहस्य संग्रहः, (पण्डित श्री सरयूप्रसादशर्मजा संगृहीतः), राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की दुर्लभ सुसम्पादित ग्रन्थों के पुनर्मुद्रण योजनान्तर्गत प्रकाशित, पुनःमुद्रित संस्करण, २००६, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

साहित्यदर्पणः — विश्वनाथ कविराज (शालिकरामशास्त्री विरचित विमला व्याख्या विभूषित), नवम संस्करण १९७७, पुनर्मुद्रण २००४, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

सौन्दर्यलहरी — शंकरभगवत्पाद (टीकाकार स्वामी विष्णुतीर्थ षष्ठवृत्ति १९९७ ईसवी, योगश्री पीठ, मुनि की रेती, ऋषिकेश। (विशेष — सौन्दर्यलहरी के हिन्दी अनुवाद हेतु मुख्यरूपेण स्वामी विष्णुतीर्थ की भाषाटीका का आश्रय लिया गया है)।

सौन्दर्यलहरी — शंकरभगवत्पाद (रुद्रदेव त्रिपाठी की व्याख्या सहित), २००१ ईसवी, रंजन पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

विशेष — (भूमिका में तथा सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूची में) सौन्दर्यलहरी के श्लोकों हेतु राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान संस्करण के पाठ का आश्रय लिया गया है। सौन्दर्यलहरी के श्लोकों के हिन्दी अनुवाद के लिए योगश्री पीठ संस्करण, स्वामी विष्णुतीर्थ की भाषाटीका का आश्रय लिया गया है। जहाँ अन्य किसी संस्करण से मूल श्लोक उद्धृत किया गया है वहाँ उसका उल्लेख किया गया है।

सौन्दर्यलहरी — श्रीमत्शंकराचार्य (लक्ष्मीधरा आदि संस्कृत टीकाओं सहित) सम्पादक — ए. कुप्पूस्वामी, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की पुनर्मुद्रण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित, द्वितीय पुनः मुद्रित संस्करण २००५, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली।

स्वतन्त्रकलाशास्त्र, द्वितीय भाग (पाश्चात्य) कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला-१, प्रथम संस्करण, १९७८, चौखम्भा विधाभवन, वाराणसी।

Hamlet, William, *Shakespeare*, Rama Brothers Educational Publishers, New Delhi.

अनुक्रमणिका